UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186308

UNIVERSAL
LIBRARY

UP—24—4-4-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

ll No. H80.1|B57K Accession No. H3695

thor भारद्वाज; रामदत्त

e काव्यशास्त्र की रूपरेखा

This book should be returned on or before the date last marked below.

काव्यशास्त्र की रूपरेखा

डॉ० रामदत्त भारद्वाज

डी०लिट्० (हिन्दी), पी-एच०डी० (दर्शन), एम०ए० (त्रय), एल-एल०बी०

प्राध्यापक, देशबन्धु कॉलिज, दिल्ली विश्वविद्यालय

सूर्य-प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली

प्रकाशक : सूर्य-प्रकाशन
नई सड़क-दिल्ली ६
मुद्रक : राजकमल प्रेस
सब्जी मडी, दिल्ली
पृष्ठ संख्या : २९६ + ८ = ३०४
प्रथम सस्करण : शिवत्रयोदशी २०१९ वि०
फरवरी १९६३ ई०
मूल्य : सात रुपये

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक मैंने इस उद्देश्य से सामान्य पाठक के लिए लिखी कि वह भारतीय एवं पश्चिमी विचारधारा पर आधृत काव्यशास्त्र का परिचय प्राप्त कर सके। यद्यपि इस शास्त्र का क्षेत्र सुविस्तृत है तथापि मैने यथाशक्ति विनम्र प्रयास किया है कि इसमें एतद्विषयक सभी सिद्धान्तों और समस्याओं का समावेश हो, साथ ही मैंने यह भी ध्यान रखा है कि उनका प्रतिपादन इतना सक्षिप्त भी न हो कि विचार-बोध में बाधा पडे। मैं इस विषय मे कहाँ तक सफल हुआ हूँ यह तो पाठक ही बता सकते है। इस पुस्तक की पाण्डुलिपि के प्रस्तुत करने मे मुझे अपनी पुत्री कुमारी कमला एम० ए० से बड़ी सहायता मिली है।

विषय-प्रतिपादन के समय मेरे मन में कभी-कभी प्रचलित धारणाएँ अधिक नही रुचीं; अतएव मैंने ऐसे अवसरों पर, उनका समुचित उल्लेख करते हुए, स्वतन्त्र रूप से विचार करने की धृष्टता की है। उदाहरण-स्वरूप मै कहना चाहूँगा कि जब मुझे परम्परागत 'काव्य-पुरुष' से सन्तोष न हुआ तो मैने 'वाणीमेध' की कल्पना की। कला-व्युत्पत्तियों की चर्चा करते समय मैंने एक नयी व्युत्पत्ति का समावेश किया है जो मेरे पुत्र चि० ब्रह्मा भारद्वाज एम०ए० ने यास्क-पद्धति के अनुसार सुझायी। इसी प्रकार 'साहित्य' शब्द की कुछ व्युत्पत्तियों एवं 'अर्थ' के अर्थ की कुछ कल्पनाएँ की गयी है। काव्य-गुणों के अन्तर्गत 'समाधि' के परम्परागत अर्थ से मुझे सन्तोष नही हुआ, उस दिशा में मेरा जो सुझाव है वह विद्वानो के विचार की अपेक्षा करता है। मैं रस और अलङ्कार की सम्पृक्ति मानता और काव्य के लिए दोनों को तुल्योपयोगी समझता हूँ। मेरा प्रश्न है कि क्या 'व्यभिचारी' और 'सञ्चारी' भाव में कभी कोई अन्तर रहा? रसोत्पत्ति और रसवर्ण के सम्बन्ध मे मेरी कल्पनाएँ कुछ भिन्न है। 'साधारणीकरण' के तीन अर्थ किये गये है, जिनमे से तीसरा प्रचलित अर्थों से भिन्न है। मैं 'तन्मयता' और 'तादात्म्य' मे अन्तर समझता; 'सहृदय' की भाँति 'समना.' पर आग्रह करता; तथा, कुछ निजी कारणों से भी, लक्षणा और व्यञ्जना को अभिधा का ही रूप मानता हूँ। मेरी उक्त तथा अन्य काव्य-शास्त्रीय धारणाएँ कहाँ तक ठीक है, यह तो विद्वज्जन ही जानें।

मुझे काव्य-शास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने की परोक्ष प्रेरणा डॉ० नगेन्द्र से मिली जिन्होने न केवल अपने सहयोगियों, छात्रों एवं बाह्य विद्वानों से इस ओर बहुविध शोधकार्य कराया है, अपितु स्वयं हिन्दी-जगत् को गवेषणापूर्ण विशाल साहित्य एवं नवोन्मेष प्रदान किये है।

रामदत्त भारद्वाज

विषय-सूची

काव्य का आविर्भाव १—७

काव्य-परम्परा १, काव्य-पुरुष १, वाणी मेध ४

कला ८—१७

व्युत्पत्तियाँ ८, कला की परिभाषा ९, कलाओं की संख्या ९, कला-विभाजन ९, ललित-कलाओं का विभाजन १०, ललित-कलाओ के सामान्य तत्त्व ११, संगीत और काव्य की तुलना १२, चित्र और काव्य की तुलना १२, कला के उद्देश्य १३; कलावाद और जीवनवाद १३—१७, प्राक्कथन १३, (क) **कलावाद** १५, कलावाद का अर्थ १५, प्रमुख कलावादी १५, (ख) **जीवनवाद** १६, प्राक्कथन १६, कलावाद की प्रतिक्रिया १६, प्रमुख आधुनिक भारतीय १७, निष्कर्ष १७

साहित्य की परिधि १८—२३

व्युत्पत्ति और अर्थ १८, शब्द और अर्थ १९, यथावत् सम्पृक्ति १९, साहित्य और काव्य का सम्बन्ध २०-२३, (क) प्राचीन धारणाएँ २०, (ख) हमारी धारणाएँ २१

काव्य की परिभाषा २४—३६

प्राक्कथन २४, (क) **भारतीय आचार्य (संस्कृत)** २४-३०, भरत-मुनि २४, भामह २४, दण्डी २५, अग्नि-पुराणकार २५, रुद्रट २५, वामन २५, आनन्द वर्द्धन २६, भोज २६, कुन्तक २७, मम्मट २७, बाणभट्ट २८, जयदेव २८, विश्वनाथ २८, जगन्नाथ २८, अनेकता मे एकता २९; (ख) **भारतीय आचार्य (हिन्दी)** ३०-३२, चिन्तामणि ३०, कुलपति ३०, देव ३०, श्रीपति ३१, सोमनाथ ३१, भिखारीदास ३१, प्रतापसाहि ३१, (ग) **पश्चिमी आचार्य** ३२-३६, सन्त औगस्टाइन ३३, सेम्युअल जॉनसन ३३, जौन स्टुआर्ट मिल ३३, मैकॉले ३३, टॉमस कार्लायल ३३, पी. बी. शैलि ३४, विलियम हैज़लिट ३४, जेम्ज़ हैनरी ली हंट ३४, सेम्युअल टेलर कॉलरिज ३४, वर्ड्सवर्थ ३४, मैथ्यू आरनोल्ड ३४, एडगर एलन पो ३५, रस्किन ३५, प्रोफेसर कोर्ट होप ३५, डब्ल्यू. एच. हडसन ३५, एबर क्रॉम्बि ३५

काव्य के स्रोत ३७—५१

प्राक्कथन ३७, (क) **प्रेरक अथवा प्रेरणाएँ** ३८-४१, काम ३८, ऐषणाएँ ३८, मूल प्रवृत्तियाँ ३८, सामान्य प्रवृत्तियाँ : अनुकरण ३९, दान्त काम ३९, क्षति-पूर्त्ति ४०, प्रभुत्व-कामना ४०, चार प्रेरणाएँ ४०, आत्माभिव्यक्ति ४१, (ख) **हेतु** ४१-४६, (अ) प्रतिभा ४२-४३ लक्षण ४२, प्रतिभा के दो तत्त्व :

रमणीयता और नवीनता ४२, प्रतिभा के प्रकार ४३, (आ) व्युत्पत्ति अथवा निपुणता ४३, (इ) अभ्यास ४४, (ई) समाधि अथवा अवधान ४४, हेतु-संख्या ४४, पश्चिमी मत ४५, (ग) **प्रयोजन** ४६-५०, प्राक्कथन ४६, भामह ४६, वामन ४६, रुद्रट ४७, आनन्दवर्द्धन ४७, राजशेखर ४७, कुन्तक ४७, मम्मट ४८, १—यश ४८, २—अर्थ ४८, ३—व्यवहार-ज्ञान ४९, ४—शिवेतर क्षति ४९, ५—सद्य पर निवृत्ति ४९, ६—कान्ता सम्मित उपदेश ४९, ७—चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति ५०, पश्चिमी दृष्टिकोण ५०

काव्य के गुण ५२—५६

लक्षण ५२, गुण-संख्या ५२, श्लेष ५३, समता ५३, सुकुमारता ५३, अर्थव्याप्ति ५३, उदारता ५४, कान्ति ५४, समाधि ५४, माधुर्य ५५, ओज ५५, प्रसाद ५६

काव्य के दोष ५७—५९

दोष की परिभाषा ५७, दोष-संख्या ५८, वर्गीकरण ५९

काव्य-सम्प्रदाय ६०—६९

प्राक्कथन ६०, रस-सम्प्रदाय ६०, अलंकार-सम्प्रदाय ६१, वक्रोक्ति - सम्प्रदाय ६३, रीति-सम्प्रदाय ६५, ध्वनि-सम्प्रदाय ६६, औचित्य-सम्प्रदाय ६८

काव्यांग ७०—८९

(क) **अलंकार** ७०-७५, व्युत्पत्ति और परिभाषा ७०, चमत्कार और काव्य ७१, अलंकार-सम्प्रदाय ७१, युरोपीय अलंकार-शास्त्र ७२, अलंकार और रस ७३, मनोवैज्ञानिक आधार ७४, मेरी धारणाएँ ७५, (ख) **छन्द** ७५-७९, व्युत्पत्ति और अर्थ ७५, उत्पत्ति ७६, प्रकार ७६, काव्य-शास्त्र में छन्द का स्थान ७७, छन्द-महिमा ७७, छन्द-निरपेक्षा ७८, गद्य-पद्य-भेद ७८, निष्कर्ष ७८, (घ) वक्रोक्ति ७९-८४, व्युत्पत्ति और अर्थ ७९, वक्रोक्ति और अभिव्यजनवाद ८२, आचार्य शुक्ल और डॉ० नगेन्द्र ८३, (ङ) ध्वनि ८४, व्युत्पत्ति और अर्थ ८४, परिभाषा ८४, ऐतिहासिक परिचय ८५, ध्वनि-सिद्धान्त का आधार ८६, ध्वनि-भेद ८७, काव्य के तीन भेद ८८, ध्वनि और रस ८८, ध्वनि की महत्ता ८८

रस ९०—१२२

प्राक्कथन ९०, अर्थ और व्युपत्ति ९०, रस की परिभाषा ९०, रस का स्वरूप ९१, तीन प्रश्न ९१, **रस के अंग** ९४, भाव क्या है ? ९६, (अ) विभाव ९६ (आ) व्यभिचारी ९६, क्या संचारी ही व्यभिचारी है ? ९८, (इ) अनुभाव १००, अनुभाव-प्रकार १०१ (ई) स्थायिभाव १०१, **प्रधान रस और उनके अंग** १०३-१०७, (१) शृगार रस १०३, (२) हास्य रस १०४, (३) वीर रस १०४, (४) भयातक रस १०४, (५) करुण रस १०५, (६) वीभत्स रस १०५, (७)

अद्भुत रस १०५,(८) रौद्र रस १०६,(९) शान्त रस १०६,(१०) भक्ति रस १०६,(११)वत्सल १०७, रसों के देवता १०७, रस-वर्ण १०७, रस-मैत्री-विरोध १०८, रस के निकृष्ट रूप १०८, रस की उत्पत्ति १०९, **रस-संख्या** १०९, भक्ति-रस ११०, वत्सल रस १११, **करुण रस का आस्वाद** ११३, **रसराज कौन ?** ११६, **रस-निष्पत्ति** ११९

साधारणीकरण *१२३ - १३१*

प्राक्कथन १२३, (क) **परम्परागत** १२३-१२६, भट्टनायक १२३, अभिनवगुप्त १२४, विश्वनाथ १२५, अन्य १२५, रामचन्द्र शुक्ल १२५, शुक्ल जी की आलोचना १२६, डॉ नगेन्द्र १२६, (ख) **कुछ निजी विचार** १२६-१३१, साधारणीकरण क्या है ? १२६ प्रत्ययीकरण १२७, सामान्यीकरण १२७, साधारणीकरण १२७, साधारणीकरण कैसे ? १२८, सहृदय १२९, तादात्म्य १३०, निष्कर्ष १३०

शब्दशक्ति *१३२—१४९*

शब्द क्या है ? १३२, शब्द की शक्तियाँ १३२, (क) **तात्पर्य** १३२, (ख) **अभिधा** १३३-१३६, अभिधा की परिभाषा १३३, अभिधा के साधन १३३, अर्थ-निर्धारण के बल १३४, दो वाद १३५, वाचक के प्रकार १३५, वाच्यार्थ १३५, वाच्यार्थ के भेद १३६, (ग) **लक्षणा** १३६-१३९, परिभाषा १३६, लक्षणा की विशेषता १३६, लक्षणा के भेद १३७, (घ) **व्यंजना** १३९-१४५, परिभाषा १३९, व्यंजना-प्रकार १४०, **अभिधा की महत्ता** १४५

शैली *१५०—१५७*

व्युत्पत्ति और अर्थ १५०, परिभाषा १५०, शैली और व्यक्तित्व १५१, शैली के उपकरण १५१, वृत्ति १५२, वृत्तिरीति ? १५३, 'शैली' का प्रयोग १५४, शैली १५४, शैली का व्यापक गुण १५५, शैलियो के प्रकार १५६

अभिव्यंजनावाद *१५८—१६८*

व्युत्पत्ति और अर्थ १५८, परिभाषा १५८, अभिव्यक्ति क्यो ? १५८, अभिव्यक्ति के प्रकार १५९, वाङ्मयी अभिव्यक्ति १५९, अभिव्यंजना और काव्य १६०, कवि-हृदय और सामान्य-हृदय १६०, कवि का व्यक्तित्व १६०, काव्य-मत १६१, अभिव्यंजना-घोषयित्नु १६२, रूपवादियों की मान्यताएँ १६३, वस्तुवादी मान्यताएँ १६४, क्रोचे का अभिव्यजनावाद १६५, आपत्तियाँ १६६, वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद १६६, शुक्लमत की आलोचना १६७

सत्यं, शिवं, सुन्दरम् *१६९—१७७*

प्राक्कथन १६९, भारतीय स्रोत १६९, सत्य का स्वरूप १७० साहित्य और इतिहास १७१, विज्ञान और साहित्य का सत्य १७१, कल्पना और कवि-सत्य

भूमिका

धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं सामाजिक मान्यताओं का प्रभाव किसी देश के साहित्य पर स्पष्टरूप से पडता है। उक्त धारणाओं की पृष्ठभूमि में तत्कालीन काव्य-साहित्य के नियामक काव्यशास्त्र की सृष्टि होती है। जैसे जैसे संस्कृतियों का सम्पर्क बढता और विचारों का विनिमय होता है, वैसे वैसे संस्कृति-सङ्गम से नवीन मूल्यों का आविर्भाव होता है; मूल्यों में से कुछ छूट जाते, कुछ परिवर्त्तित अथवा परिमार्जित हो जाते, और कुछ अपने मूल-रूप में बने रहते हैं। काव्यशास्त्र के मान भी समयानुकूल नवीन रूप धारण करते रहते हैं। हिन्दी-काव्यशास्त्र इसका अपवाद नही। वह निस्सन्देह संस्कृत के काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर आधृत है, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि वे दोनों सर्वथा एक हैं। इस दिशा में हिन्दी का अपना भी योगदान है।

प्राची-प्रतीची सम्पर्क के कारण पश्चिमी काव्यशास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों एवं काव्यरूपों का भारतीकरण हुआ है। जब काव्य की गुत्थियों का समाधानसूत्र पारम्परिक विचारधारा में लुप्त हो जाता है, तब यह जिज्ञासा स्पृहणीय प्रतीत होती है कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र ने समान समस्याओं का जो समाधान किया है वह कहाँ तक ग्राह्य है। ज्ञान-गङ्गा असीम है, वह किसी देश, काल, समाज, धर्म अथवा संस्कृति से सीमित नहीं। अतएव काव्यशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन की परमा-वश्यकता है। यह सन्तोष की बात है कि कुछ काल से हिन्दी-जगत् इस ओर प्रवृत्त हो चला है।

डॉ० रामदत्त भारद्वाज ने भी अपने 'काव्यशास्त्र की रूपरेखा' में परम्परागत सिद्धान्तों एवं मत-वादों का विवेचन किया, और साथ ही पश्चिमी काव्यशास्त्र के मूल्याङ्कन को यथास्थान प्रस्तुत किया है। अन्तिम अध्याय में पाश्चात्य काव्यशास्त्र की विशेष चर्चा की गई है, यथा : प्लैटो और अरस्तू के काव्य-सम्बन्धी विचार, कामद, त्रासद अनुकरण, सङ्कलन-त्रय, विरेचन आदि का विवेचन, जिनसे प्रस्तुत पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ गई है।

अनेक स्थलों पर डॉ० भारद्वाज का चिन्तन और विषय-प्रतिपादन मौलिक है। क्या 'सञ्चारी' और 'व्यभिचारी' भाव पर्याय हैं? क्या रस और अलङ्कार सममूल्य हैं? क्या सामाजिक की 'तन्मयता' और 'तादात्म्य' में अन्तर है? क्या 'सहृदय' की

भाँति 'समनाः' पर भी आग्रह आवश्यक है ? ये कुछ ऐसे प्रश्न है जो विद्वानो के विचार की अपेक्षा करते है। लेखक द्वारा प्रस्तुत इन प्रश्नों के समाधान, 'वाणी-मेध' की कल्पना, 'कला' और 'साहित्य' की व्युत्पत्तियाँ, 'अर्थ' का अर्थ, 'रसोत्पत्ति', 'रसवर्ण' एवं 'साधारणीकरण' के विषय में कतिपय कल्पनाएँ नवीन और प्रशंसनीय हैं।

डॉ० भारद्वाज का परिचय अपेक्षित नही। तुलसीदास-विषयक अनुसधान के लिए तो वे हिन्दी-ससार मे विख्यात है ही ; उनके जो दार्शनिक लेख पत्र-पत्रिकाओं मे समय-समय पर प्रकाशित हुए है वे भी उनके गम्भीर चिन्तन तथा प्रवाहशील शैली के परिचायक है। मुझे प्रसन्नता है कि काव्यशास्त्र जैसे जटिल और रूक्ष विषय को भी वे सरस, सुबोध और रम्य रूप प्रदान कर सके है। मैं उनके इस नवीन ग्रन्थ का अभिनन्दन करता हूँ।

दिल्ली विश्वविद्यालय *नगेन्द्र*

काव्य का आविर्भाव

'काव्य' शब्द भाव-वाचक है, अतएव इसके अर्थ को अधिक सुगम करने के लिए उसे मूर्तरूप मे उपस्थित करने का प्रयत्न कभी-कभी हुआ है। यहाँ यह चर्चा तीन शीर्षकों से अभीष्ट है—काव्य-परम्परा, काव्य-पुरुष, और वाणीमेध।

काव्य-परम्परा

'काव्य-मीमांसा' के शास्त्र-संग्रह नामक प्रथम अध्याय मे राजशेखर लिखते है कि भगवान् शिव ने काव्य-विद्या का उपदेश सर्वप्रथम चौसठ शिष्यो को दिया था। इन शिष्यो मे भी सर्वप्रथम थे ब्रह्माजी, जिन्होने इस विद्या का उपदेश अपने अयोनिज पट्टशिष्यों को दिया। इन शिष्यो मे सरस्वती और ब्रह्मा से उत्पन्न पुत्र भी था, जिसका नाम था काव्य-पुरुष। इसने काव्य-विद्या को अठारह भागो मे विभाजित किया और सहस्राक्ष आदि दिव्य स्नातकों को सिखाया। इन दिव्य शिष्यो ने काव्य के उक्त भागो मे से एक-एक भाग का विशेष अध्ययन किया और उस पर ग्रन्थ लिखे, अर्थात् इन्द्र ने कवि-रहस्य पर, उक्तिगर्भ ने उक्ति पर, सुवर्णनाभ ने रीति पर, प्रचेता ने अनुप्रास पर, यम ने यमक पर, चित्राङ्गद ने चित्रकाव्य पर, शेष ने शब्दश्लेष पर, पुलस्त्य ने स्वभावोक्ति पर, औपकायन ने उपमा पर, पाराशर ने अतिशयोक्ति पर, उतथ्य ने अर्थश्लेष पर, कुबेर ने उभयालङ्कारो पर, कामदेव ने विनोद पर, भरत ने नाट्य पर, नन्दिकेश्वर ने रस पर, बृहस्पति ने दोष पर, उपमन्यु ने गुणो पर और कुचमार ने औपनिषदिक विषयों पर अपने-अपने शास्त्र लिखे। इस प्रकार अधिक प्रकीर्णता के कारण काव्य छिन्न-भिन्न हो गया, जिसे पुनः सघटित करने का छोटा-बडा सफला-सफल प्रयत्न तब से अब तक होता रहा है।

काव्य-पुरुष

काव्य के स्वरूप को सुस्पष्ट करने के लिए प्राचीनकाल मे काव्य-पुरुष की कल्पना की गई। 'वायुपुराण ६५', 'महाभारत ५१-५२' और 'हर्षचरित १' मे विभिन्न रूप से इसका किंचित् उल्लेख है। महाकवि दण्डी ने भी काव्य-शास्त्र-जगत् मे काव्य-शरीर का उल्लेख करके इस रूपक का स्मरण दिलाया है और उनके परवर्ती आचार्य भी काव्य के शरीर और आत्मा की चर्चा करते रहे है। काव्य-मीमांसा के तृतीय अध्याय में राजशेखर ने काव्य-पुरुष की उत्पत्ति इस प्रकार बताई है—

प्राचीन काल मे पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से सरस्वती ने हिमालय पर्वत पर जाकर तपस्या की, जिससे प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने वरदान दिया कि मै तेरे लिए पुत्र उत्पन्न करता हूँ। कुछ समय पश्चात् सरस्वती ने पुत्र को जन्म दिया और उस पुत्र ने उत्पन्न होते ही उठकर अपनी माता का चरण-स्पर्श करते हुए छन्दस्वती भाषा मे कहा "हे माता, यह सारा वाङ्मय-विश्व जिसके द्वारा अर्थ-रूप मे परिणत हो जाता है, वह मैं तुम्हारे चरणो की वन्दना करता हूँ"। छन्द तो अभी तक वेदों मे देखे गये थे। अतएव छन्दोबद्ध वाणी को सुनकर सरस्वती अत्यन्त हर्ष मे उस नवजात शिशु को गोदी मे लेकर इस प्रकार बोली—"तुमसे पूर्व विद्वानो ने गद्य की सृष्टि की है, पद्य की नही। छन्दोबद्ध वाणी के तुम प्रथम आविष्कारक हो। अतः तुम प्रशमनीय हो। शब्द और अर्थ तुम्हारे शरीर है, सस्कृत भाषा मुख है ; प्राकृत भाषाएँ तुम्हारी भुजाएँ है ; अपभ्रंश भाषा जघा है , पिशाच भाषा चरण और मिश्र भाषाएँ वक्ष-स्थल है। तुम सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी हो। तुम्हारी वाणी उत्कृष्ट है। रस तुम्हारी आत्मा है, छन्द तुम्हारे रोम है। प्रश्नोत्तर, पहेली, समस्या आदि तुम्हारे वाग्विनोद है। अनुप्राम, उपमा आदि तुम्हे अलंकृत करते है।" सरस्वती अपने पुत्र को आशीर्वाद देकर और उसे एक सघन वृक्ष के तल मे पडी हुई पर्वत-शिला की शैया पर सुलाकर आकाश-गगा मे स्नान के लिए चली गई। नित्यकर्म के लिए कुशा और समिधा लेने के लिए महामुनि उशना आश्रम से निकले तो उन्होने पर्वत-शिला पर सूर्य के ताप मे व्याकुल उस बालक को देखकर सोचा कि यह अनाथ बालक किसका है ? ऐसा सोचते-सोचते वे उसे उठाकर अपने आश्रम मे ले गये।

कुछ समय के अनन्तर सरस्वती के उस बालक ने उशना मुनि के हृदय मे छन्दोबद्ध वाणी की प्रेरणा की और वे मुनि अकस्मात् एक श्लोक बोल उठे, जिसका तात्पर्य यह है—'जिसे कविगण ग्वालो के समान दिन-रात दुहते रहते है, फिर भी जो बिना दुही-सी प्रतीत होती है, वह सूक्ति-धेनु सरस्वती हमारे हृदय मे निवास करे।' तब से उशना ऋषि कवि-रूप से प्रसिद्ध हो गये*।

स्नान करने के पश्चात् सरस्वती ने लौटकर अपने पुत्र को नही पाया। उन्हे बडी वेदना हुई। इतने में वाल्मीकि मुनि उधर आ निकले और उन्होने सरस्वती को उशना मुनि के आश्रम का पता बतलाया। इस कारण वाल्मीकि को छन्दोबद्ध रचना के लिए वरदान मिला। क्रौच पक्षी की सहचरी को निहत देखकर वाल्मीकि निषाद से श्लोकमय वाणी मे बोल उठे 'मा निषाद' इत्यादि। सरस्वती ने इस श्लोक को भी

---

* वृष्णीना वासुदेवोऽस्मि, पाण्डवाना धनजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः, कवीनामुशना कविः। गीता १०, ३७.

वरदान दिया कि यदि कोई अपढ व्यक्ति भी इस श्लोक का पाठ करे तो वह सारस्वत कवि बन जायगा। ऋषि वाल्मीकि ने 'रामायणम्' नामक इतिहास लिखा और उस श्लोक को सबसे पहले पढकर महर्षि व्यास ने एक लाख श्लोको का 'महाभारत' लिख डाला।

वाल्मीकि से पता पाकर सरस्वती ने उशना ऋषि के आश्रम मे अपना पुत्र पाया और उसे प्यार से चूमा। एक बार ब्रह्मलोक मे किसी वैदिक विषय पर देवताओ और ऋषियो में विवाद हो गया। ब्रह्माजी ने विवाद का निर्णय करने के लिए सरस्वती को मृत्युलोक से बुलाया। जाते समय वे अपने बालक को, उसकी इच्छा के विरुद्ध, मृत्युलोक मे ही छोड गई और वह बालक (काव्य-पुरुष) माता के इस व्यवहार से रूठकर घर से निकल पडा।

गौरी-पुत्र कार्त्तिकेय उसे जाते देख मित्रता के कारण रो पडे। पार्वती ने कार्तिकेय को समझाया, कि 'हे पुत्र, रो मत। मै उसे समझाती हूँ।' पार्वती ने सोचा कि प्राणियो के लिए प्रेम के अतिरिक्त और कोई बन्धन नही है। इसलिए भागते हुए काव्य-पुरुष को वश मे करने के लिए उन्होने साहित्य-विद्या नामक वधू को उत्पन्न किया और उससे कहा कि 'देख, तेरा धर्म-पति क्रुद्ध होकर आगे जा रहा है, उसके पीछे-पीछे जा और उसे मना ला'। पार्वती ने मुनियो से कहा कि 'तुम काव्य-विद्या के स्नातक हो, इसलिए तुम भी इन दोनो के पीछे जाओ और दोनो की स्तुति करो, क्योकि यही तुम्हारे लिए काव्य का सर्वस्व होगा। साहित्यविद्या वधू ने पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण (अर्थात् अग-बग, सुह्म, ब्रह्मपुण्ड्र, पाञ्चाल, शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर, बाहीक, बाह्लीक, कन्नौज, अवन्ती आदि देशो) मे काव्य पुरुष का अनुसरण किया, जिसके कारण उसने भारती आदि वृत्तियो, गौड-मागधी आदि प्रवृत्तियो तथा गौडी-पाञ्चाली आदि रीतियो का परिचय प्राप्त किया।

काव्य-पुरुष का मन साहित्यविद्या-वधू की ओर धीरे-धीरे अनुरक्त होता गया और बहुकालीन भ्रमण में निरन्तर साथ रहने के कारण वह पूर्णरूप से उसके वश मे हो गया। विदर्भ देश मे भगवान् कामदेव का क्रीडा-स्थल वत्सगुल्म नाम का नगर है। वही काव्य-पुरुष ने साहित्य-वधू का पाणिग्रहण गान्धर्व विधि से किया। वहाँ से लौटकर वर-वधू की वह जोडी अनेक देशो मे विहार करती हुई हिमालय पहुँची, जहाँ गौरी और सरस्वती दोनो साथ बैठी हुई थी। नव-दम्पति ने दोनो देवियो के चरणो की वन्दना की और उनसे आशीर्वाद-स्वरूप कवि-हृदय मे अपना निवास-स्थान प्राप्त किया। इस प्रकार वर-वधू के लिए कवि-लोक-रूपी नवीन स्वर्ग की सृष्टि हुई, जिसमे कवि-वृन्द काव्यमय शरीर से मर्त्यलोक मे और दिव्य शरीर से स्वर्गलोक में कल्प-पर्यन्त निवास करते है।

काव्य-पुरुष के उपर्युक्त रूपक से हमें यह आभास मिलता है कि पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक प्राचीन है। काव्य-प्रतिभा जन्मजात है, किन्तु उसको लोक-ज्ञान की भी अपेक्षा है। काव्य मे प्रेम (अथवा शृंगार) आवश्यक है। इन निष्कर्षों की समीक्षा यथास्थान की जायगी। कदाचित् इस रूपक से प्रभावित होकर विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' मे लिखा कि काव्य का शरीर शब्दार्थ है, आत्मा रस है, शौर्यादि गुण है, कानापन दोष है, अवयव-सस्थान रीति है, ककण-कुण्डल अलकार है। विश्वनाथ के शब्द है "काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वा-दिवत्, रीतयोऽवयवसस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटक-कुण्डलादिवत्" (साहित्यदर्पण-प्रथम परिच्छेद)।

मुझे काव्य-सम्बन्धी एक अन्य रूपक की कल्पना का आविर्भाव हुआ है, जिसे मैं यहाँ 'वाणी-मेध' शीर्षक से उपस्थित कर रहा हूँ। इसमे मैने काव्य-समष्टि के मूर्त्त रूप को चित्रित करने का विनम्र प्रयत्न किया है।

वाणी-मेध

(१)

सहस्त्रों वर्षों की बात है। महर्षि वाल्मीकि ने दीर्घ और घोर तपस्या की, जिससे प्रसन्न होकर भगवती सरस्वती बोली . 'वत्स, क्या चाहता है ?' वाल्मीकि बोले . 'माता, मै आपके दर्शन चाहता हूं।' वाणी देवी ने अपना दिव्य रूप धारण कर कहा : 'वत्स, और कुछ ?' महर्षि ने आविर्भूत देवी के चरणों में अपना मस्तक रख दिया और बोले : 'हे माता, मैं आपके दर्शनो से कृतकृत्य हुआ; मेरी बडी अभिलाषा थी कि आप मेरे इस उपवन मे निवास करती।' भगवती ने वाल्मीकि के सिर पर हाथ रख कर कहा : 'पुत्र, मै दिव्य रूप में तेरे समक्ष आविर्भूत हुई; मैं मर्त्यलोक मे इस प्रकार प्राय नही आती, किन्तु तेरी इच्छा है तो मै प्रतिबिम्ब रूप मे तेरे निकुंज मे निवास करूंगी।' महर्षि नत-मस्तक हो गए।

(२)

वसन्त ऋतु थी। द्रुमो पर किसलय और बौर लग रहे थे, सरोवर मे कमल हँस रहे थे और उन पर भ्रमर गुंजन कर रहे थे। हाथी और हरिण सपत्नीक केलि मे मग्न थे। कोकिलें कूकती और बटकाएँ चूँ-चूँ करती थी। आम्र और निम्ब की सुगन्धि मन्द-शीतल वायु मे व्याप्त थी। महर्षि वाल्मीकि का तपोवन मीलो तक विस्तृत था, जिसमे अनेक आश्रम और निकुञ्ज विद्यमान थे और जिसके पार्श्व मे तमसा नदी कल-कल ध्वनि से प्रवाहित हो रही थी। मध्याह्न के समय महर्षि अपनी

माध्यन्दिनी संध्या के लिए नदीतट की ओर चल दिये। वे स्नान करने वाले ही थे कि इतने में किसी व्याध ने सघन आम्र-वृक्ष पर बैठे क्रौंच पक्षी के जोडे मे से एक को मार गिराया। इस दृश्य मे महर्षि मर्माहत हुए, उनके हृदय में करुणा-सरिता उमड़ने लगी। उनका शोक ससार मे सर्वप्रथम श्लोक का रूप धारण कर प्रकट हुआ। वे बोल उठे :

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काम मोहितम्॥

तब से वाल्मीकि आदि-कवि कहलाने लगे। उनका महाकाव्य "रामायणम्' जन-जन के कर्णपुट में गूँज कर, भारत की जन-वाणी मे प्रविष्ट हो गया।

(३)

काल सर्वभुक् है। वाल्मीकि के पश्चात् उस तपोवन मे अनेक महापुरुष आये, रहे और चले गये, किन्तु वाणीदेवी वही विराजी रही। महर्षि व्यास ने कालान्तर मे वाल्मीकि का आसन ग्रहण किया और वे वाग्देवी की आराधना विधिवत् आजन्म करते रहे। उन्होने ससार को 'महाभारत' और 'भागवत' जैसे अप्रतिम काव्य प्रदान किए। समय बीतता गया। अनेक ज्ञानी, विज्ञानी, शास्त्री, सूत्रकार और वैय्याकरण वाल्मीकि-व्यास के आसन को सुशोभित करते हुए अपनी शक्ति के अनुसार, वाणीदेवी की आराधना मे प्रवृत्त रहे।

(४)

समय बीता। भरत मुनि वाल्मीकि-तपोवन के अध्यक्ष बने, उन्होने मनोयोग पूर्वक वाणीदेवी की उपासना की। सरस्वती ने प्रसन्न होकर आकाश वाणी की : 'भरत, तू मेरा वरद पुत्र है, जिस प्रकार वाल्मीकि आदि-कवि हुआ, उसी प्रकार तू भी काव्य का आद्याचार्य होगा।' उस तपोवन की महिमा को सुन कर संसार के सुदूर देशों से अनेक कवि-जन यात्रा के लिए वहाँ आये। एक दिन यूनानी प्लेटो भी उस अकादमी में पधार कर वाणी-देवी के लिए नत-मस्तक हुए और बोले : 'हे वाग्देवी, मै आपके वास्तविक रूप का दर्शन करना चाहता हूँ।' आकाश-वाणी हुई : 'वत्स, मै तुझसे प्रसन्न हूँ। तू ससार का सुप्रसिद्ध 'कविर्मनीषी' बनेगा, मै तुझे अपने दिव्य रूप का दर्शन ब्रह्मलोक में कराऊँगी।' तदनन्तर अरस्तू बोले 'माता, मुझे तो आपके दिव्य रूप से आपका यही पार्थिव-रूप अच्छा लगता है, यही मेरे मन को भाता है।' देवी सरस्वती ने वर दिया : 'पुत्र अरस्तू, तू सिद्ध विज्ञानी, आचार्य और भावक होगा।' प्लेटो और अरस्तू इष्ट-मित्रों के साथ अपने देश को लौट गये।

(५)

उक्त तपोवन और वाणी-मन्दिर के अध्यक्ष महाकवि कालिदास बने। उन्होने

वाणीदेवी की, आराधना की, किन्तु उनकी अर्चना उभय-मुखी थी। वे वाणीदेवी की उपासना मातृभाव से तो करते थे, किन्तु वे देवी के दिव्य रूप-लावण्य से विभोर होकर उसका दर्शन कभी-कभी कामिनी के रूप मे भी कर लेने के इच्छुक-से हो जाते थे। इस महापराध के कारण उन्हे कुष्ठ से पीडित होना पडा, किन्तु भूल की प्रतीति होने पर उन्होने उसका परिमार्जन शीघ्र ही कर लिया। वागीदेवी ने कालिदास को स्वप्न मे बताया कि कलियुग का घोर रूप आने वाला है। अब मै यहाँ निवास नही करूँगी। कालिदास स्वप्न को देखते-देखते चल बसे और वे अपना कोई उत्तराधिकारी भी नियुक्त न कर सके।

(६)

उत्तराधिकार के लिए वैमनस्य और मतभेद हुआ। फलत तपोवन और वाग्देवी का भी बँटवारा होने लगा। वाग्देवी के आभरण सर्वश्री दण्डी-केशव एण्ड कम्पनी को प्राप्त हुए, मुकुट भामह को मिला, मुक्ताहार दण्डी को और ककण उद्भट को। काँशेय परिधान केशव ने प्राप्त किये। देवी के पायल, चूडी, अनवट और बिछुए रीति-कालीन सर्वश्री बिहारी-देव एण्ड ब्रदर्स को प्राप्त हुए। उत्तराधिकारियो मे रुद्रभट्ट जैसे कुछ ऐसे भी थे, जिन्हे वाणी के वस्त्राभूषणो मे कोई रुचि न थी और वे वाणी की कामना केवल कामिनी के रूप मे करते थे। कुछ को कामिनी के अग-प्रत्यग की अभिलाषा थी। आनन्दवर्द्धन और जगन्नाथ उसकी ध्वनि का आनन्द लेते थे। वामन उसकी वर्णाकृति और माधुर्य पर मुग्ध थे। रसलीन ने वाणी के चक्षु-मीन को निकालकर एक रजन-मंजूषा मे और बिहारी ने उसके नेत्र-खजन को स्वर्ण-मजूषा मे रख लिया। विद्यापति ने त्रिवली के अध प्रान्त को मँगवाया, तो जायसी ने केश-सर्पिणी को अपनी पिटारी मे रख लिया। किसी ने कनक-कुम्भो मे अपना प्रेम-जल भरा, किसी ने कर-पल्लव के व्यजन बनाये, तो किसी ने चरण-कमल-मकरन्द का आलेहन किया। सर्वश्री विश्वनाथ-फ्रेड्स एण्ड कम्पनी ने एक रत्न-खचित कनक कलश मे वाणी के हृदय का रक्त-रस भर लिया और उसके कुछ अंश से अभिनवगुप्त का तर्पण किया। तपोवन के इस विशाल वैभव की लूटमार सैकडो वर्ष चलती रही। अनेक पुरुष खडे-खडे देखते रहे। उनमे से कुछ बोले 'अरे भले मानुसो, तुम यह क्या कर रहे हो, कुछ तो सोचा-समझा होता।' पर कौन सुनता था? वे सब अपने मत-मद मे मस्त थे। तथापि कुछ ही समय पश्चात् उन मस्त-मौलाओ को अपनी भूल की प्रतीति हुई, क्योकि कविता-कामिनी के विलगीकृत सभी अग विकृत होने लगे। चक्षु-मीन और नेत्र-खंजन सडने लगे, भुजाएँ गलने लगी, टाँगो से दुर्गन्ध आने लगी, चरण-कमल सूख गये, कर-पल्लव पीले पड गये। यहाँ तक कि अगो से हटाये हुए वस्त्राभूषणों मे भी पहली-जैसी कान्ति न रही। अतएव सभी तथा-कथित कवीन्द्र-जन

अपने-अपने वाणी-विभागो को, अपने घरों से लेकर उक्त काण्डस्थल पर पहुँचे और बोले कि अब हम क्या करे ? दर्शको मे से क्षेमेन्द्र, मम्मट और तुलसी बोले : 'करोगे क्या ? प्रायश्चित्त करो, वाणी-मेध करो, विच्छिन्न अंगो की आहुतियाँ विधिवत् दो।' सर्व-सम्मति से यज्ञारम्भ हुआ। क्षेमेन्द्र यज्ञ के ब्रह्मा, मम्मट आचार्य, तुलसी अध्वर्यु, केशव यजमान, सूर उद्गाता, बिहारी होता तथा चिन्तामणि, देव, सेनापति आदि ऋत्विज बने। द्रष्टाओं मे खुसरो, कबीर, रसखान, रहीम, महावीरप्रसाद द्विवेदी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, अयोध्यासिह उपाध्याय, जयशकरप्रसाद, प्रेमचन्द आदि विद्यमान थे। यज्ञ सकुशल समाप्त हुआ। उसकी समाप्ति के पश्चात् आकाशवाणी हुई।

(७)

वाणीदेवी आकाश मे बोली "हे कवियो, आचार्यो और भावको, मैं तुम्हारे पश्चात्ताप से अब तुष्ट हूँ। यदि तुम मेरी उपासना करना चाहते हो, तो सहयोग से एक प्रतिमा बना लो, मै उसमे निवास करूँगी। मेरी समष्टि सत्य और सुन्दर है, जो सदा शिव से ओत-प्रोत है। मुझे व्यापक रूप मे देखो, जैसा कि क्षेमेन्द्र, मम्मट और तुलसी कहते है। मेरे अग-प्रत्यंगो का सौन्दर्य मेरी समष्टि के औचित्य मे विद्यमान है। विलगीकृत मेरे अग, जैसा कि तुम लोगों ने देखा, स्वय विकृत होकर मेरी समग्रता को भी विकृत कर देते है। यदि मेरे मस्तक मे बुद्धि-विवेक का निवास है, तो मेरे हृदय मे सवेग-वैविध्य का। मेरा रक्त काव्य का रस है। मेरी वर्णाकृति काव्य-गुण है : अर्थात् कान्ति ओज है, अग-सौष्ठव माधुर्य है और मेरा स्मित प्रसाद है। मेरे तिल और प्रस्वेदबिन्दु काव्यदोष है। मेरे हस्त, जिनसे मै वीणा-वादन करती हूँ, वृत्तियाँ है। मै अपनी पुष्ट टाँगो के द्वारा देश-विदेशो मे भ्रमण करती हूँ, मै भारत मे रहती हूँ और भारत से बाहर भी। भारत मे, मेरी दक्षिण जघा वैदर्भी कहलाती है और वाम जघा गौडी। मेरी दक्षिण जघा का अधोभाग पाचाली है और वाम जंघा का अधोभाग लाटी। मेरे चरण ही छन्द है। वे स्वेच्छा से विचरण करते है। मेरा दक्षिण चरण वर्णवृत्त है, तो वाम-चरण मात्रा-जाति। मेरे वस्त्र अर्थालंकार है और आभूषण शब्दालकार। मेरी जिह्वा ध्वनि है, मेरा कंठ संगीत है। शिव मेरा अस्थि-संस्थान है, सौन्दर्य मेरा मास है और सत्य मेरा मन है। मन, चित्त और बुद्धि मे अर्थ का निवास है, तथा जिह्वा, कण्ठ और कर्ण मे शब्द का। उक्त सभी तत्त्वों की औचित्य-पूर्ण समष्टि मेरी आत्मा है। मेरी आत्मा की अभिव्यजना ही सफल अभिव्यक्ति है। मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ एव मेरा परिवेश (अर्थात् यह तपोवन) सभी काव्य के विषय है। मेरा उद्देश्य और अभिप्राय वीणा-वादन है। मेरी यह वीणा जन-कल्याण का प्रतीक है, इससे संसार को ज्ञान की, सुख की, और कल्याण की प्राप्ति होती है। मैं वाणी हूँ, किन्तु मै अपनी वीणा के बिना कभी नही रहती।"

कला

व्युत्पत्तियाँ

(१) 'कला' शब्द की एक व्युत्पत्ति इस प्रकार है : कल+अच्+टाप्। 'कला' शब्द का अर्थ है : किसी वस्तु का छोटा अंश, चन्द्रमण्डल का षोडश अश, राशि के तीसवे भाग का साठवाँ भाग। 'कल्' धातु का अर्थ है आवाज करना, गिनती करना। आवाज अथवा ध्वनि से तात्पर्य है अव्यक्त से व्यक्त की ओर गमन। कलाकार अपने अव्यक्त भावो को कतिपय साधनो के द्वारा व्यक्त करता है।

(२) 'कला' की व्युत्पत्ति एक अन्य प्रकार से भी सम्भव है। 'कवि' और 'लास्य', इन दोनो शब्दो के प्रथमाक्षरो से 'कला' शब्द निर्मित है। कवि का लास्य ही कला है। 'लास्य' शब्द का कोशार्थ है : नृत्य अथवा उछल-कूद। कवि के काव्य मे कवि के अव्यक्त भावों की अभिव्यक्ति होती है। उसके अव्यक्त भाव शब्दो के माध्यम से और आन्दातिरेक के कारण नृत्य करने लगते है। 'कवि' शब्द का अर्थ 'चतुर' है, अतएव उसकी कल्पना के मूर्त लास्य को 'कला' कहा जा सकता है। 'काव्य' और 'लास्य' इन दोनो शब्दो से 'कला' शब्द की व्युत्पत्ति उतनी ही समीचीन है, जितनी कि 'शत' और 'क्रतु', इन दोनो शब्दों से 'शक्र' की। भगवान् शकर ने अपने गण तण्डु को आज्ञा दी थी कि वह भरतमुनि को नृत्य की शिक्षा दे और तण्डु ने जो नृत्य भरतमुनि को सिखाया वह ताडव नाम से अभिहित हुआ। लास्य की उत्पत्ति भी इस प्रकार है : भगवती पार्वती ने बाण-कन्या उषा को नृत्य की शिक्षा दी थी। कालान्तर मे उषा ने वही नृत्य द्वारका की महिलाओ को सिखाया। ताडव की अपेक्षा लास्य अधिक सौम्य और मृदु है। लास्य मे शृंगार आदि मृदु रसो की अभिव्यक्ति अगो के कोमल और मधुर सचालन के द्वारा होती है। 'लस्' धातु से 'लास्य' शब्द बना है जिसका अर्थ है . शोभित होना, आकर्षक, चित्ताकर्षक। कला के प्रसग मे लास्य का अर्थ है कवि का लालित्य, शोभन और मधुर अभिव्यञ्जन। कवि की अभिव्यक्ति रेखा, अभिनय, स्वर, शब्द, सकेत आदि के माध्यम से संभव है।

(३) 'कला' की तीसरी व्युत्पत्ति इस प्रकार है : क+ला। क=कामदेव, सौन्दर्य, प्रसन्नता, हर्ष, आनन्द। ला=देना। क लाति ददातीति कला, अर्थात् वह जो सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के द्वारा सुख प्रदान करे।

कला की परिभाषा

अभिव्यक्ति की विधा को कला कहते है । कला वह कौशल है, जिससे कोई कार्य सम्पन्न हो । 'योग' शब्द का कोशार्थ रीति और योग्यता भी होता है । इसी से गीता का वचन है . 'योग· कर्मसु कौशलम्' । सम्पादन की विशिष्टता प्राणी के प्रत्येक कार्य मे देखी जा सकती है । भोजन करना और वस्त्र पहनना भी कलात्मक हो सकता है , इसी प्रकार बात-चीत करना और कथा-कहानी कहना भी कलात्मक हो सकता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार 'कला माया है,' यह वह प्रतीति है जो 'अस्ति' है और 'नास्ति' भी ।

कलाओं की सख्या

भारतीय-साहित्य मे चौसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है । वे ये है—(१) गान, (२) वाद्य, (३) नृत्य, (४) नाट्य, (५) चित्र, (६) बेल-बूटे, (७) पूजोपहार-रचना, (८) पुष्प-शैया, (९) अगराग, (१०) मणि-फर्श, (११) शैया-रचना, (१२) जल-बन्ध, (१३) सिद्धि-प्रदर्शन, (१४) माला-ग्रथन, (१५) पुष्पाभरण, (१६) वस्त्राभरण, (१७) प्रसाधन, (१८) कर्णपत्र-रचना, (१९) गध-निर्माण, (२०) इन्द्रजाल, (२१) इच्छा-वेष, (२२) हाथ की सफाई, (२३) पाक, (२४) पेय, (२५) सूची-कार्य, (२६) काष्ठ-पुत्तलिका, (२७) प्रहेलिका, (२८) प्रतिमा-निर्माण, (२९) कूटनीति, (३०) शिक्षण, (३१) नाटकाख्यायिकादि निर्माण, (३२) समस्या-पूर्त्ति, (३३) वेत्र-बाणादि निर्माण, (३४) गलीचा-दरी निर्माण, (३५) बढई-गीरी, (३६) भवन-निर्माण, (३७) रत्नधातु परीक्षा, (३८) किमिया, (३९) मणि-रग-परीक्षा, (४०) खनि परीक्षा, (४१) वृक्ष-चिकित्सा, (४२) पशु-पक्षी युद्ध, (४३) पशु-पक्षियो की ध्वनि का अनुकरण, (४४) उच्चाटन, (४५) केश-कर्म, (४६) मुट्ठी की चीज या मन की बात बताना, (४७) म्लेच्छ-काव्य-ज्ञान, (४८) विभाषा-ज्ञान, (४९) शकुन-विचार, (५०) मातृका यंत्र, (५१) रत्न-कर्त्तन, (५२) साकेतिक भाषा, (५३) कटक रचना, नव-वस्तु निर्माण, (५४) नयी-नयी बाते निकालना, (५५) छल-प्रयोग, (५६) कोष-ज्ञान, (५७) छन्दो ज्ञान, (५८) वस्त्रगोपन-परिवर्त्तन, (५९) द्यूत-क्रीडा, (६०) दूराकर्षण, (६१) बालखेला, (६२) मत्र-विद्या, (६३) विजय-विद्या, (६४) बेताल-विद्या । उपर्युक्त चौसठ कलाओ मे आधुनिक सभी ललित-कलाओ का समावेश है ।

कला-विभाजन

उपर्युक्त चौसठ कलाओं मे लगभग सभी प्रकार की कलाओं का समावेश है

यद्यपि आधुनिक काल की फोटोग्राफी जैसी अनेक विद्याओं के लिए गुंजाइश है, किन्तु प्राचीन भारत में उक्त कलाओं का कोई वर्गीकरण उपलब्ध नहीं होता।

आधुनिक काल में कला का विभाजन दो प्रकार का किया जाता है—(क) उपयोगी और (ख) ललित। उपयोगी कलाएँ वे हैं जो जीवन के लिए उपयोगी हैं और सुविधाप्रद हैं। वे हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, यथा भोजन बनाना, कपड़े बुनना, बर्त्तन बनाना, आभूषण निर्माण, बढ़ईगीरी, लुहारगीरी आदि। इन कलाओं के द्वारा हमारे जीवन में सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं और इनके अभाव में जीवन अधिक कष्टमय होता है। उक्त कलाओं के कारण मनुष्य पशु की अपेक्षा अधिक उन्नत है, क्योंकि उसने कला के द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त की और परिस्थिति को अभीष्ट रूप प्रदान किया है। उक्त उपयोगी कलाओं के अतिरिक्त ऐसी कलाएँ और हैं जिनसे सौन्दर्य की अनुभूति और आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि उपयोगी कलाएँ आवश्यकता की पूर्ति करती हैं, तो ललित कलाएँ सौन्दर्य की प्राप्ति कराती हैं।

ललित-कलाओं का विभाजन

ललित-कलाएँ द्विविध हैं—नेत्र-परक और श्रोत्र-परक। नेत्र-परक ललित कलाओं का सम्बन्ध नेत्र से है, यथा वास्तु (स्थापत्य), मूर्ति (शिल्प) और चित्र। श्रोत्र परक कलाओं का सम्बन्ध श्रोत्र से है, यथा : संगीत और काव्य। नेत्र-परक कलाओं का आधार मूर्त्त होता है, किन्तु श्रोत्रपरक कलाओं का आधार मूर्त्त नहीं होता।

(क) **वास्तु** : इसको स्थापत्य भी कहते हैं। इस कला के द्वारा प्रासाद, मन्दिर, सेतु, विद्यालय, मसजिद, समाधि आदि का निर्माण होता है। इसके आधार हैं ईंट, गारा, सीमेंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी, और साधन हैं कन्नी, बसूला, फावड़ा, फेन आदि। इस कला में तीन मान रहते हैं, लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई। स्थापत्य के द्वारा मनोभावों की अभिव्यक्ति इतनी भली नहीं हो पाती, जितनी कि अन्य ललित कलाओं के द्वारा। फिर भी मन्दिर, मसजिद, समाधि, गिरिजाघर आदि के शिखरों को देख कर यह अनुमान किया जा सकता है कि अमुक भवन हिन्दू, ईसाई या मुसलमान धर्म से सम्बन्ध रखता है।

(ख) **शिल्प** (मूर्ति) स्थापत्य की अपेक्षा यह अधिक उन्नत कला है। इसमें भी रूप, रंग, आकार होते हैं। इसमें भी लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई ये तीनों मान होते हैं। इसका आधार स्थापत्य की अपेक्षा अधिक बढ़िया हो सकता है क्योंकि मूर्त्ति न केवल मिट्टी, पत्थर और लकड़ी की बनायी जा सकती है, किन्तु वह चाँदी-सोने की तथा रत्न-जटित भी हो सकती है। इस कला का मुख्य साधन है छेनी। स्थापत्य की

अपेक्षा यह कला अधिक उत्कृष्ट इस कारण है कि यह मनोभावो को भी अभिव्यक्त कर सकती है। इसके द्वारा करुणा, वात्सल्य और स्मित आदि भावो की अभिव्यक्ति हो सकती है, जो स्थापत्य मे अप्राप्य है। काव्य शिल्प मे अधिक उन्नत है, पर शिल्प की भी अपनी विशेषता है। शिल्पी के 'लाकून' मे और वर्जिल के 'लाकून' मे जो अन्तर है, उसे लेसिङ् ने भली-भाँति स्पष्ट किया है*।

(ग) **चित्र** यह कला शिल्प से भी अधिक उत्कृष्ट है। यद्यपि वास्तु और मूर्त्ति के समान इसमे भी रूप, रग, आकार होते है, तथापि इसमे तीन मान न होकर दो ही होते है। चित्र मे लम्बाई और चौडाई ही होती है. मोटाई की प्रतीति मात्र होती है। कागज और कपडे अथवा पत्थर की मोटाई से कोई सम्बन्ध नही, ये उसके आधार है। रग, कूची, पैंसिल, कलम इसके साधन है। शिल्प की अपेक्षा चित्र मनोभावो को अधिक स्पष्ट कर देता है और इसमे शिल्प की अपेक्षा प्रकृति-दृश्य की अधिक व्यापकता रह सकती है।

(घ) **सगीत** वास्तु, मूर्ति और चित्र की अपेक्षा संगीत और भी उत्कृष्ट है। इसका आधार नाद अथवा स्वर है। इसका साधन मनुष्य का कठ अथवा विभिन्न प्रकार के वाद्य-यत्र है। इसके माध्यम से मनोभाव, चित्र की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होते है। संगीताचार्य अपनी कला के द्वारा श्रोताओ को यथावसर हँसा-रुला सकता है। नेत्र-परक कलाओं की भाँति इसमे विविध मान नही रहते। अतएव हम इसको न देख सकते और न छू सकते है। इसका उपकरण कर्ण है।

(ङ) **काव्य** ललित-कलाओ मे सर्वोत्कृष्ट कला काव्य है। इसके आधार है शब्द और अर्थ। यदि सगीत-कला मे केवल स्वरो का प्रयोग हो सकता है तो काव्य मे स्वर और व्यजन दोनो का। सगीताचार्य एक या दो स्वरो को बहुत देर तक तोड-मरोड सकता है, जिसके कारण हृदय प्रभावित हो उठता है, किन्तु व्यजनो के प्रयोग और अर्थ के द्वारा कवि जो प्रभाव डालता है वह बहुत स्थायी रहता है।

ललित-कलाओं के सामान्य तत्त्व

सभी ललित कलाओ के तीन सामान्य तत्त्व होते है। वे है—(१) **आधार और साधन**, यथा नाद, शब्द, अर्थ, ईंट, पत्थर, लोहा, लकडी, धातु, कागज, कपडा। साधन, यथा· कठ, वाद्य, भाषा, बसूला, छैनी, कुची।

२—**उपकरण** : नेत्र अथवा कर्ण। वास्तु, मूर्त्ति और चित्र के उपकरण नेत्र है ; और सगीत तथा काव्य के उपकरण कर्ण है।

---

*The difference is best illustrated by Laocoon's shriek, which Virgil described, the sculptors suppressed, and Lessing has immortalized—The Making of Literature, p.182.

३—सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण। कलाकार सुन्दरता की अनुभूति और अभिव्यक्ति करता है, चाहे वह विश्वकर्मा, शिल्पी, चित्रकार, गायक अथवा कवि कोई हो।

संगीत और काव्य की तुलना

साम्य : संगीत और काव्य दो विषयो मे समान है। प्रथमत', दोनो मे गतिशीलता विद्यमान है—एक मे नाद की, दूसरे मे विचार की। यह गतिशीलता चित्र मे प्राप्य नही, उसमे तो स्थिरता रहती है। पर गायनाचार्य की ध्वनि मे नाद का आरोह और अवरोह क्षण-क्षण मे बदलता रहता है, और कवि का विचार भी क्षण-क्षण में इसी प्रकार प्रवाहित होता रहता है जिस प्रकार किसी नदी का जल। द्वितीयत, सगीत और काव्य दोनो मे ध्वनि और लय का उपयोग होता है, यद्यपि कविता मे यह उपयोग कुछ कम भी हो सकता है।

वैषम्य सगीत और काव्य मे तीन विषमताएं भी है। प्रथमत., संगीत मे केवल स्वर का प्रयोग होता है, किन्तु काव्य मे व्यंजन का भी जिसके कारण काव्य मे भाव की स्पष्टता अधिक होती है। द्वितीयत, सगीत की अपेक्षा कविता का क्षेत्र व्यापक है, क्योकि सगीत केवल हर्ष, करुणा, विषाद आदि मनोभावो को अर्थात् आन्तरिक जगत् को व्यक्त करता है, किन्तु काव्य आन्तरिक जगत् के अतिरिक्त बाह्य जगत् (प्रकृति) का भी चित्रण करता है। तृतीयत, संगीत अपने परिमित क्षेत्र मे एकाकी है, उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नही, वह इच्छा का प्रतिरूप है। विचार उसके बाह्य रूप है।

चित्र और काव्य की तुलना

काव्य गतिशील होता है क्योकि उसके शब्द और अर्थ प्रतिक्षण प्रवाहित होते रहते है, किन्तु चित्र स्थिर होना है। उसके किसी अश मे प्रवाह नही होना। अतएव चित्र केवल एक पल को चित्रित करता है और काव्य समय के प्रवाह का भी वर्णन कर सकता है। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि चित्र का सम्बन्ध समय-बिदु से है और काव्य का समय विस्तार से। काव्य के द्वारा परिवर्तनशील परिस्थितियो और क्रियाओं का वर्णन हो सकता है, किन्तु चित्र के द्वारा ऐसा सम्भव नही। इसके अतिरिक्त चित्र के द्वारा जितना गम्भीर प्रभाव उत्पन्न होता है वह काव्य के द्वारा नही होता। चित्रकार रंग और कुचिका के माध्यम से प्रकृति की जो अनुकृति उपस्थित करता है, वह प्रकृति के अधिक अनुरूप होती है, वह उपलब्धि काव्य के माध्यम से सभव

नहीं। होमर ने हैलिन के नख-शिख का वर्णन नही किया, क्योकि शब्दों के माध्यम से ऐसा करना उसकी शक्ति से बाहर था। किसी सुन्दरी की वर्णाकृति पर कितने ही सहस्र पृष्ठ क्यो न लिख दिये जाये, किन्तु प्रभाव मे वह वर्णन उसके चित्र (अथवा फोटो) का शताश भी न होगा।[1]

कला के उद्देश्य

विचारको ने कला के अनेक उद्देश्य बताए है, जिनका विभाजन दो शीर्षको मे हो सकता है—जीवनवाद और कलावाद। जीवनवाद के अनुसार कला के उद्देश्य के निम्न रूप हो सकते है—

(अ) **जीवनवाद** (क) कला जीवन के लिए (Art for life's sake) (ख) कला जीवन मे प्रवेश के लिए (Art as an escape into life) (ग) कला सेवा के लिए (Art for service's sake) (घ) कला आत्मानुभूति के लिए (Art for self-realization)

(आ) **कलावाद**—कलावाद के निम्न प्रकार के रूप होते है :—

(क) कला सर्जन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए (Art as a creative necessity), (ख) कला मनोरजन के लिए (Art for recreation) (ग) कला जीवन से पलायन के लिए (Art as an escape from life) (घ) कला आनन्द के लिए (Art for joy) (ङ) कला कला के लिए (Art for Art's sake).

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। कला के उपर्युक्त विभिन्न रूपों का समावेश केवल दो रूपों मे किया जा सकता है, अर्थात् (क) कला जीवन के लिए, और (ख) कला कला के लिए। इनकी चर्चा आगामी पृष्ठो मे की जायगी।

कलावाद और जीवनवाद

प्राक्कथन : प्राचीन यूनान में कलावादी विचारधारा पर्याप्त रूप में प्रमुख थी।

१—And so, again, when Homer brings Helen before the Trojan elders, he knew that he could not make us see her beauty by describing its several parts—R. A. Scott James

Poetry is not a speaking picture and painting is not mute poetry. (Lessing)

प्लेटो ने नैतिकता के दृष्टिकोण से कविता को हेय समझा था, किन्तु अरस्तू ने प्लेटो की नैतिक आस्था का तिरस्कार न करते हुए, यह प्रतिपादन किया कि सौदर्य-शास्त्र एवं नीति-शास्त्र पृथक् है और काव्य का लक्ष्य है परिष्कृत आनन्द की अनुभूति। इटली के सिसिरो ने 'डैकोरम' और भव्यता पर, लौजिनस ने कला मे भावना के उदात्तीकरण पर बल दिया। डायोनीसियम और डिमैट्रियस ने कलावादी शैली को महत्त्व प्रदान किया। दान्ते ने भी उदात्त गुणो की पुन प्रतिष्ठा के साथ-साथ शैली-पक्ष का विवेचन किया। 'क्लैसिकल' कला अधिकतर ईसाई धर्म के आश्रय मे पली। अतएव वह प्रचारात्मक और उपदेशात्मक रही। टॉल्सटॉय ने कलावाद का घोर विरोध किया, उन्होने न तो सौदर्य को, न आनन्द को ही कला का ध्येय समझा। इनका दृष्टिकोण सुधारवादी है, वे समझते है कि कलावाद अधार्मिक विचारो को उत्पन्न करता है।

१८६६ ई० के लगभग जेम्स एबॉट मैकनील ह्विस्लर ने कलावाद का प्रवर्तन और रस्किन ने उसका तीव्र विरोध किया। 'लै आर्म फॉर लै आर्त्त' इस फ्रेंच वाक्य का अंग्रेजी अनुवाद है 'आर्ट फॉर आर्ट्स सेक,' अर्थात् 'कला कला के लिए'। ब्रैडलि, क्लाइव बैल, रोजर, फ्रॉयड तथा जॉर्ज इनेम ने कलावाद का समर्थन किया। किन्तु आई० ए० रिचर्ड्स ने प्रेषणीयता को विशेष महत्त्व देते हुए भी काव्य के अनुभवो को सामान्य अनुभवो से भिन्न नही माना और न काव्य की सत्ता को शेष जगत् की सत्ता से भिन्न समझा। इमैनुअल कैंट ने कहा था कि सौदर्य का कोई बाह्य अस्तित्व नही। पर बैनेदेत क्रोचे ने सौदर्य की अनुभूति के लिए 'इन्ट्यूशन' अर्थात् सहजज्ञान की प्रतिष्ठा की।

कार्ल मार्क्स ने कला की उपयोगिता को नये दृष्टिकोण से उपस्थित किया। मार्क्सवादियो ने कला को जनता के लिए विशेषतया सैनिको और श्रमिको के लिए उपयोगी समझा। इससे भिन्न वे कलाकार के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को नही मानते, यद्यपि ट्रौटस्की ने इस विषय मे राजनीतिक हस्तक्षेप को अप्रशस्त समझा है; पर कैडवैल जैसे मार्क्सवादी उनसे सहमत नही है।

कलावाद भारत मे यूरोप से आया। प्रेमचन्द उपयोगितावादी थे, तो जयशकर प्रसाद कलावादी (आनन्दवादी)। डॉ० श्यामसुन्दरदास मध्यस्थ से है। साहित्यालोचन मे वे लिखते है कि 'कला कला के लिए का हमारे लिए केवल इतना ही अर्थ रह जाता है कि कला एक स्वतन्त्र सृष्टि है। कला सौदर्य और कलाभिव्यंजना के अपने नियम है।'

(क) कलावाद

कलावाद का अर्थ

काव्य मे कलावाद का अर्थ है कलापक्ष पर अवधारण। कलावादियो के अनुसार कला जीवन से पलायन के निमित्त है, वह मनोरजन के लिए अथवा आनन्द प्रदान करने के लिए होती है। मन मे अन्तर्निहित यह वह आवश्यक तत्त्व है, जिमकी पूर्ति काव्य-रचना के द्वारा होती है। घोर कलावादियों के अनुसार कला का उद्देश्य कला के अतिरिक्त और कुछ नही। 'कला कला के लिए होती है' ऐसा कहने मे यह स्पष्ट है कि कला का सम्बन्ध नैतिकता अथवा किसी ऐसी बात से नही जिससे जीवन अपने लिए व दूसरो के लिए उपयोगी बने। कलावादी तो सौदर्य की अनुभूति के द्वारा आनन्द के अभिलाषी है।

प्रमुख कलावादी

वाल्टर पेटर—वाल्टर होरेशियोपेटर अग्रेजी आलोचक थे। वे शब्द की प्रभावशालिनी शक्ति को मानते है, उनके अनुसार इस शक्ति का उपयोग सहानुभूति, सहयोग और मानवता की सेवा है, किन्तु आॅस्करवाइल्ड समझते है कि काव्य ऐसी कोई पुस्तक नही, जिसमे सदाचार-दुराचार का प्रतिपादन किया जाय। उनकी धारणा है कि समालोचक मे यह परख होनी चाहिए कि कला और आचार के क्षेत्र अलग-अलग है और समालोचक के लिए ऐसी परख की प्रथम आवश्यकता है। फ्रॉसीसी उपन्यासकार फ्लॉबर्ट इसी बात को पुष्ट करते हुए कहते है कि बुद्धि और हृदय एक है भिन्न नही। जो व्यक्ति इन्हे भिन्न समझते है, उनके पास इन दोनो मे से कोई भी नही, अर्थात् न उनमे बुद्धि है और न हृदय है। अमेरिका के जे० ई० स्पिन्गार्न कलावाद की पुष्टि इन जोरदार शब्दो मे करते है 'रेखागणित मे समबाहु त्रिभुज को सदाचारी कहना और विषमबाहु को दुराचारी मानना ठीक नही, उसी प्रकार किसी शुद्ध काव्य मे सदाचार या दुराचार का ढूढ़ना असगत है। ,अग्रेजी विद्वान् टॉमस स्टर्न्स ईलियट का कथन है कि 'शब्दो के भयानक दुष्प्रयोग के बिना यह बताना संभव नही कि कविता की नीति क्या है—राजनीतिक मार्ग-दर्शन, धार्मिकता या ऐसा कुछ और। इग्लैड के ए० सी० ब्रैड्लि कला को स्वयसिद्ध और स्वयसाध्य समझते है।

सिगमड फ्रॉयड काव्य को अतृप्त वासनाओ की अभिव्यक्ति समझते हे; यह अभिव्यक्ति अश्लील है, परन्तु साधन है, साध्य नही। टॉमस हार्डी यथार्थवादी है। बैनेदेतो क्रोचे अभिव्यंजना को मुख्य समझते है। यह अभिव्यंजना दो प्रकार की

होती है—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। सैद्धान्तिक अभिव्यंजना के दो साधन है—'इट्यूशन' अर्थात् सहजानुभूति तथा 'लौजिक' अर्थात् तर्क। व्यावहारिक अभिव्यंजना के भी दो रूप है—आर्थिक और नतिक।

भारत मे इलाचन्द्र जोशी और रामधारीसिह 'दिनकर' कलावादी है। जोशीजी के अनुसार कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौदर्यदेवी के मन्दिर को कलुषित करना है। 'दिनकर' जी मानते है कि 'वसन्त का गुलाब और कवि के स्वप्न अपने मे पूर्ण होते है। वे किसी को कुछ सिखलाने के लिए नही होते।'[1]

(ख) जीवनवाद

प्राक्कथन

जीवनवाद का अर्थ है कि काव्य का उद्देश्य जीवन मे प्रवेश, समाज सेवा, अथवा आत्मानुभूति के लिए होना है। घोर जीवनवादी तो कलामात्र को जीवन के लिए मानते है। अतएव उनके लिए काव्य की कोई स्वतत्र सत्ता नही। भारतवर्ष मे 'शब्द' और 'अर्थ' को लेकर आचार्यो मे बडा मतभेद रहा है; वामन आदि आचार्यों ने रीति पर बल दिया है, तो विश्वनाथ आदि ने रस पर। आगामी किसी अध्याय मे बताया जायेगा कि काव्य-प्रयोजन के सम्बन्ध मे किन आचार्यों का क्या मत है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपना राम-चरितमानस 'स्वान्त सुखाय' लिखा था; उनका आग्रह हित पर है। वे कहते है—

कीरति भनितिभूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कर हित होई।

कलावाद की प्रतिक्रिया

'यदि कला का उद्देश्य केवल मनोरजन है, तो ऐसी कला मादक पदार्थ है अथवा एकान्त सौन्दर्य की भावना है जो बौद्धिक जगत् के लिए विष है।' सुकरात और प्लेटो नैतिकता के पक्षपाती रहे है। वर्त्तमान युग मे आइजक न्यूटन ने कविता को अबुद्धि पूर्ण मूर्खता बताया है। पी० बी० शैलि का रसवादियों जैसा कथन है कि 'कविता सदैव आनन्द से युक्त रहती है, परन्तु इसका प्रभाव अलौकिक या काल्पनिक तथा सासारिक चेतन से ऊपर होता है।' एगिल्स के विचार से साहित्य में जो बात कही जाय, वह ऐसे आकर्षक ढंग से कही जानी चाहिए कि यह प्रकट न हो कि कवि उपदेश दे रहा है। लैनिन और टॉलसटॉय का भी जीवनवादी मत है। रस्किन ने कलावादी ह्विस्लर का घोर विरोध किया था। उनके अनुसार सौन्दर्य की अनुभूति का आधार हमारी इन्द्रियों अथवा मानसिक शक्तियो पर आधृत नही, उस अनुभूति का सम्बन्ध तो

---

१ अधिक विचार के लिए देखिए अभिव्यंजनवाद.

हमारी आभ्यन्तर भावनाओं में है, अतएव सच्चरित्र व्यक्ति ही कला का सर्जन कर सकता है। मैथ्यू आर्नोल्ड के अनुसार 'जो काव्य नैतिकता के प्रति विद्रोही है, वह उपेक्षा योग्य है।' टॉमस कार्लायल समझते है कि 'काव्य मिथ्याओं का वह समुदाय है, जिसे भ्रष्ट जीव मनोविनोद के लिए लिखते हैं।'

प्रमुख आधुनिक भारतीय

बंकिमचन्द्र चटर्जी के अनुसार कवि लोग संसार के शिक्षक होते है, किन्तु वे नीति की व्याख्या करके शिक्षा प्रदान नहीं करते, वे तो सौन्दर्य की ही परमोत्कृष्ट सृष्टि करके संसार को शुद्ध करते है। यही है सौन्दर्य के परम उत्कर्ष के साधक एवं सर्जनात्मक काव्य का मुख्य उद्देश्य। गांधीजी ने कहा है कि कला में जीवन का महत्त्व है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की धारणा है —

मानते हैं जो कला को कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।

निष्कर्ष

जीवनवाद और कलावाद अपने अतिवादी रूप में सत्य-तथ्य से दूर रहते है। यदि कलाकार शिव की अवहेलना करके केवल सुन्दर की उपासना करेगा तो नैतिक-पतन की आशंका रहती है। यदि सुन्दरता का ही चित्रण करना है तो इस चित्रण के लिए किसी वेश्या को ही क्यों चुना जाय? संसार में अनेक सती और साध्वी नारियाँ हो गयी है, जो सुन्दर भी थी, किन्तु यदि कवि सौन्दर्य को भूल कर नैतिकता के प्रतिपादन में तल्लीन हो जाय तो कला कला न रहेगी, वह नीतिशास्त्र का रूप धारण कर लेगी। सत्काव्य में, तुलसीदास के अनुसार, 'सुरसरि सम सब कहं हित' की सम्भावना रहती है। 'साहित्य' शब्द में 'हित' की विद्यमानता को अवांछनीय नहीं कहा जा सकता। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार 'सौन्दर्य की मूर्त्ति ही पूर्ण मंगल की मूर्त्ति है और मंगल की मूर्त्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप है।'

— —

साहित्य की परिधि

व्युत्पत्ति और अर्थ

'साहित्य' 'सहित' से बना है : सहित+ष्यञ्। 'सहित' की व्युत्पत्ति कई प्रकार से सम्भव है : (१) सहित=सह+हित, 'तेन सहेति तुल्ययोगे' २,२,२८. पाणिनि के इस सूत्र से हकार का लोप हो जाता है। (२) सहित=सम्+हित; 'वोपसर्जनस्य' ६.३,८२. पाणिनि के इस सूत्र से मकार का लोप हो जाता है। 'हित' शब्द की व्युत्पत्ति भी दो प्रकार से सम्भव है : (१) हित=धा+क्त; 'दधाते हिः' ७,४,४२. पाणिनि के इस सूत्र से 'धा' धातु 'हि' में परिवर्तित हो जाता है। (२) हित=हि+क्त।

'सहित' शब्द का अर्थ है 'साथ', अतएव 'साहित्य' का अर्थ है 'सह-भाव' अर्थात् साथ रहना। किसका सहभाव ? 'शब्द' और 'अर्थ' का। 'सहभाव' को सम्पृक्ति कहा जा सकता है। 'शब्द' और 'अर्थ' की सम्पृक्ति किस प्रकार की होती है, इस विषय में महाकवि कालिदास कहते है कि जिस प्रकार अर्द्धनारीश्वर रूप में भगवान् शिव और भगवती पार्वती की सम्पृक्ति। रघुवंश में उनका मंगलाचरण है –

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

गो० तुलसीदास ने इस सम्पृक्ति को जल और वीचि की सम्पृक्ति में देखा है :

'गिरा अरथ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।' रा १,१८

यदि 'सहित' का अर्थ किया जाय 'हित के साथ', तो 'साहित्य' का अर्थ होगा वह बन्ध अथवा वाक्य जिसके द्वारा हित अथवा कल्याण हो। यह 'हित' व्यक्तिगत कवि का अथवा समाज का हो सकता है। अतएव तुलसीदास जी कहते हैं :

कीरति भनिति भूति भल सोई, सुरसरि सम सब कह हित होई। रा २.१३.९.

यदि 'सहित' का अर्थ किया जाय 'सम्यक् हित' अथवा 'पूर्ण हित', तो 'साहित्य' का अर्थ होगा—वह रचना जिसके द्वारा सम्यक् हित हो।

यदि 'हित' की व्युत्पत्ति 'धा' धातु से की जाय, जिसके अर्थ है धारण करना, पोषण करना, तो 'साहित्य' का अर्थ होगा उस रचना से जो शब्द और अर्थ को धारण

करती अथवा अनेक विधि से उनका पोषण करती है। यदि 'धा' धातु का अर्थ किया जाय—जड़ना, रखना, स्थापित करना, तो 'साहित्य' का अर्थ होगा उस रचना से जो शब्द के माध्यम से कवि के 'अर्थ' को सहृदय के मन में निहित कर देती है, जो (अर्थ) वहाँ इस प्रकार शोभा प्राप्त करता है, जिस प्रकार अंगूठी में नग।

और यदि 'हित' को 'हि' धातु से व्युत्पन्न माना जाय, जिसका कोषार्थ है : रेलना, ठेलना, उत्तेजित करना, आगे बढ़ाना, प्रसन्न करना, तो 'साहित्य' का अर्थ उस कृति से होगा जो कवि के अर्थ को पाठक, भावुक, भावक अथवा सामाजिक के हृदय तक आगे बढ़ाती और उसके हृदय को उत्तेजित कर प्रसन्न करती है।

उक्त सभी अर्थ 'साहित्य' के परिचायक है।

शब्द और अर्थ

'शब्द' आकाश का गुण है, जिसकी प्रतीति कर्ण के माध्यम से होती है। आकाश मे उसकी लहरे उठती है और इन्ही लहरो ने, किन्ही विद्वानों के अनुसार, देवनागरी लिपि को प्राथमिक रूप दिया था जो अब परिवर्तित हो गया है। 'शब्द' के पर्याय है : स्वन, ध्वनि, आवाज, साउण्ड, स्वर। संगीत मे स्वर का प्रयोग होता है, किन्तु साहित्य मे व्यञ्जन का भी, जिसके कारण अर्थ का अभिव्यञ्जन होता है।

'अर्थ' शब्द 'ऋ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है पहुँचना, मिलना, उत्तेजित करना, रोपना, सोचना। आधुनिक मनोविज्ञान से यह स्पष्ट है कि बाह्य वस्तुएँ ज्ञान-संवाहिका (afferent) नाड़ियो (स्नायुओ) के द्वारा अपनी ऊर्मियो को मन तक पहुँचाती है और मन अपने संचित ज्ञान मे उस ऊर्मि को स्थान दे देता है। अंग्रेजी मे 'अर्थ' का पर्याय 'मीनिङ' है जो सार्थक है, क्योकि 'मीन' का अर्थ है 'मध्य', अतएव जो निर्विकल्प (प्रत्यक्ष) अथवा सेसेशन पूर्व-संचित ज्ञान के मध्य उसी प्रकार स्थान प्राप्त कर लेता है जिस प्रकार किसी सभा मे अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सभा सद्। जिस प्रकार स्वागताध्यक्ष आगन्तुकों को उनके अनुरूप मंच पर अथवा आस-पास अथवा दूरी पर स्थान का निर्देश करता है, उसी प्रकार मन भी वस्तु की नवीनोद्भूतियों को यथावत् अपनाता है। कवि भी शब्द की अभिधा शक्ति के द्वारा अपने 'अर्थ' को अर्थात् अपने विचार, भाव एव रचनात्मक आह्लाद को सहृदय तक पहुँचा देता है। काव्य की सफलता कवि की कुशलता पर निर्भर होती है।

यथावत् सम्पृक्ति

यदि कवि कुशल होता है, तो 'शब्दार्थ' की सम्पृक्ति 'यथावत्' होती है। इसी-लिए राजशेखर को 'काव्य मीमांसा' मे लिखना पड़ा :

शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या। १,२.

क्योकि वे साहित्य को विद्या मानते है। यदि हम 'यथवात्' पर आग्रह न करे तो ऐसा सम्भव है कि लेखक कुछ लिखे और पाठक कुछ और समझे, और यह भी सम्भव है कि केवल वाङ्मय और साहित्य में भेद न हो सके। सिनिमा के विज्ञापन मे शब्द और अर्थ की सम्पृक्ति तो है, पर उसे साहित्य नही कहा जा सकता, क्योकि उसमे न चिरन्तनता है, न हितभावना और न किसी अनुभूति की अभिव्यक्ति हो।

साहित्य और काव्य का सम्बन्ध

(क) प्राचीन धारणाएँ

राजशेखर ने साहित्य को विद्या कहा है और उसकी चौसट उपविद्याएँ है, जिन्हे विद्वान् कला कहते है :

शब्दार्थयोर्यथात् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या ।
उपविद्यास्तु चतुःषष्टिः ताश्च कला इति विदग्धवादः । १,२.

पर पश्चिमी काव्य-शास्त्री काव्य-साहित्य को कला मानते है। ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य शब्द कालान्तर में काव्य का पर्यायवाची हो गया। भर्तृहरि ने 'साहित्य सगीत कला' की पंक्ति मे साहित्य को सगीत और कला के साथ स्थान दिया है। पश्चिमी विद्वान् लिट्रेचर और पोइट्री मे भेद नही मानते। यही दशा भारत मे भी है। भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (का० १,१६) कहकर मानों 'साहित्य' का समावेश 'काव्य' मे कर दिया। रेवाप्रसाद द्विवेदी जी समझते है[1] कि आचार्य आनन्दवर्द्धन ने 'साहित्य' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'ध्वन्यालोक' की वृत्ति मे किया है। आचार्य के अनुसार बन्ध-सौदर्य तो (ध्वनि और गुणीभूतव्यग्य) दोनो अर्थों के अनुरूप होना है, अनपेक्षित तथा विशिष्ट अर्थ से हीन रचना सुन्दर नही होती अन्यथा निरर्थक, किन्तु सुहावनी और चतुरतायुक्त वचनावली भी काव्य रूप से प्रसिद्धि प्राप्त कर सकती है। अतएव शब्द और अर्थ के सहभाव से काव्यत्व सम्भव है। 'शब्दार्थयो. साहित्येन काव्यत्वे' (४-६), किन्तु आनन्दवर्द्धन ने 'साहित्य' शब्द का प्रयोग 'काव्य' या 'काव्य की जाति' के अर्थ में नही किया, वह तो काव्य की प्रक्रिया-मात्र है। राजशेखर ने, जैसा कि हम देख चुके है, साहित्य को विद्या माना है। कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवित' मे शब्द और अर्थ के निरे सहभाव पर आक्रमण किया है, क्योकि वे समझते है कि इस प्रकार के केवल सहभाव को मान लेने से व्याकरण के सूत्रो को ही नही, अपितु इक्के-वाले के (ऊल-जलूल) शब्दो को भी साहित्य मानना होगा। उनके शब्द है 'साहित्य-शब्देनाभिधीयमाने कष्टकल्पनोपरचितानि गाङ्कुटादिवाक्यानि असम्बद्धानि शाक-टादिवाक्यानि च सर्वाणि साहित्यशब्देनाभिधीयेरन्। तेन पद-वाक्य-प्रमाण-व्यति-

---

१ 'संस्कृत काव्य-शास्त्र मे साहित्य-तत्त्व', सम्मेलन-पत्रिका, पौष-फाल्गुन १८८२ शक

रिक्तं किमपि तत्त्वान्तरं साहित्यमिति विभागोऽपि स्यात् (१,१६)। कुन्तक ने 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य के अर्थ में किया है। पर साहित्य है क्या ? कुन्तक का उत्तर है कि 'साहित्य शब्दार्थ की वह स्थिति है, जिसकी मनोहारिता (आवश्यकता से) न न्यून है, न अतिरिक्त है, किन्तु परस्पर स्पर्धामयी है :' (अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति , वक्र. १,१७)। इस कारिका की वृत्ति मे वे और भी अधिक स्पष्ट रूप से कहने है कि 'शब्दार्थयो. सौन्दर्यश्लाघिता प्रति परस्पर-साम्यसुभगमवस्थान साहित्यमुच्यते'। अर्थात् जब सुन्दरता और प्रशस्तता की प्राप्ति के लिए शब्द और अर्थ दोनो एक-दूसरे के प्रति अनुकूल और चारु व्यवहार करते है तो ऐसी अवस्था को साहित्य कहते है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि साहित्य मे शब्द अर्थ को और अर्थ शब्द को, समानभाव से चमत्कृत करने हुए सौन्दर्य और श्रेय की सृष्टि करते है। इस व्याख्या से विदित होता है कि कुन्तक 'साहित्य' शब्द का प्रयोग 'काव्य' के अर्थ में करते है।

'सरस्वती कण्ठाभरण' मे भोज वाक्य-प्रयोग को दो प्रकार का समझते है—सामान्य और सम्यक्। 'सामान्य' प्रयोग के अन्तर्गत अभिधा, विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग, व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय और एकार्थी भाव ये आठ सम्बन्ध है, किन्तु 'सम्यक्' प्रयोग अर्थात् 'साहित्य' के अन्तर्गत उपर्युक्त आठ के अतिरिक्त ये चार सम्बन्ध और होते है : दोषत्याग, गुणग्रहण, अलंकारनिवेश और रसावियोग। अतएव स्पष्ट है कि भोज के अनुसार साहित्य = काव्य। क्षेमेन्द्र तो 'सुवृत्त तिलक' मे स्पष्ट कहते है कि सुलकृत और शब्दार्थयुक्त साहित्य काव्य है-३,३। 'साहित्य-मीमांसाकार' रुय्यक कहते है कि 'कुन्तक के अनुसार विवक्षा का परिष्कार ही साहित्य है, हम तो शब्दार्थ के सम्मेलन-मात्र उक्ति को साहित्य समझते है यथा शास्त्राख्यान, किन्तु हम साहित्य के परिष्कार-विशेष को काव्य मानते है।" इस कथन से यह प्रतीति होती है कि कुन्तक साहित्य को और रुय्यक साहित्य के परिष्कृत रूप को काव्य मानते है।

(ख) हमारी धारणाएँ

काव्य और साहित्य मे भेद कर लेना समीचीन है। साहित्य मे काव्य का समावेश हो सकता है, क्योकि पहले की परिधि दूसरे की परिधि की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। मानस के त्रिविध व्यापार है ज्ञान, भक्ति और कर्म, अथवा संवेदन (नोइङ्), भाव (फीलिङ्) और सकल्प (विलिङ्), अथवा सत्यं, सुन्दरं और शिवम्। प्रत्येक मनोव्यापार में यह त्रिविध व्यापार युगपत् विद्यमान रहता है। मनोव्यापार की उपमा त्रिभुज से दी जा सकती है। जिस प्रकार त्रिभुज की किसी भुजा के निकल जाने पर त्रिभुजता ही नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार मानस-व्यापार

के ज्ञान-भक्ति-कर्म में से यदि कोई भी निकल जाय तो उस मानस-व्यापार की सत्ता ही नही रहती। प्रकृति में सत्त्व, रज और तम तीनों ही किसी न किसी परिमाण मे विद्यमान रहते है; उसी प्रकार मन के प्रत्येक कार्य में सत्यं, शिवं और सुन्दरं तीनो विद्यमान रहते है। हाँ, जिस प्रकार त्रिभुज की कोई भी भुजा छोटी-बड़ी हो सकती है, उसी प्रकार मनोव्यापार मे सत्यं, शिवं और सुन्दरं मे से किसी एक पर आग्रह किया जा सकता है। समस्त वाङ्मय मे सत्यं, शिवं, सुन्दर युगपत्, किन्तु न्यूनाधिक रहते है। उदाहरण-स्वरूप कहा जा सकता है कि गणित, विज्ञान, दर्शन, तर्क, कानून, इतिहास, मीमासा आदि मे सत्यं की प्रधानता, शिव की गौणता और सुन्दर की न्यूनता रहती है। स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र, संगीत और काव्य नामक सभी ललित कलाओ मे सुन्दर की प्रधानता, सत्य की गौणता और शिव की न्यूनता रहती है। इसी प्रकार धर्म-शास्त्र, आचारशास्त्र और राजनीति मे शिव की प्रधानता रहती है, सत्य की गौणता और सुन्दर की न्यूनता। उक्त सभी वाङ्मय साहित्य की कोटि मे आता है। गणित की पुस्तक मे सख्या आदि प्रतीको के द्वारा विचारो की सम्प्रेषणीयता होती है, जिसका रस गणितज्ञ ही ले सकता है। कलाओ मे विशेषत. काव्य मे, यह सम्प्रेषणीयता अधिक व्यापक होती है, तथापि सहृदयो की वहाँ भी आवश्यकता पड़ती है, यदि काव्य मे 'सहृदय' की, तो दर्शन-विज्ञान आदि में समान मन वाले (समना.) की। 'सुन्दर' का चित्रण नग्न भी हो सकता है। वेश्या के सौन्दर्य का चित्रण अति मनो-रम हो सकता है, किन्तु क्या वह समाज के लिए हितकर समझा जा सकता है? ऐसी आशंका से ही तुलसीदास जी काव्य-सौदर्य को शिव से आवृत रखना चाहते है

भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। राम नाम बिन सोह न सोऊ।
बिधुबदनी सब भाँति संवारी। सोह न बसन बिना बर नारी। रा १,१३.६

सत्यं और सुन्दरं दोनों का ही संयमन शिव के द्वारा होता है।

'सत्य ब्रूयात्, प्रिय ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' आदि वचनो के द्वारा सत्य के नग्न-प्रदर्शन पर ऐसी ही रोक-थाम लगा दी गयी है, जैसी कि सौन्दर्य के नग्न प्रदर्शन पर। इसी कारण मनीषियो को 'साहित्य' के 'हित' पर आग्रह करना पडा।

वाङ्मय का दूसरा नाम साहित्य है। इन दोनो मे अन्तर केवल यह है कि अशिव वाङ्मय अनभीष्ट है। कल्याणकारी वाङ्मय ही साहित्य है। इसी प्रकार साहित्य काव्य है और काव्य साहित्य है। ध्यान रखने की बात केवल यह है कि सभी काव्य साहित्य है, किन्तु सभी साहित्य काव्य नही; क्योकि काव्य साहित्य के अन्तर्गत है। अतएव साहित्य काव्य है और उससे अधिक भी। कुकाव्य, अश्लील काव्य, अथवा अशिव काव्य साहित्य की परिधि से बाहर है।

काव्य की परिभाषा आगामी पृष्ठो मे दी जायगी। पर यहा यह कहा जा सकता है कि काव्य की पश्चिमी परिभाषा बड़ी सुन्दर है। 'काव्य सम्प्रेषणीय अनुभव है' अर्थात् काव्य वह अनुभूति है जो कवि के मन के द्वारा उसके हृदय को स्पर्श करे और तदन्तर उसके लिखित अथवा उक्त शब्दों में अभिव्यक्त हो सहृदय के मन के मार्ग के द्वारा प्रवेश कर उस सहृदय के हृदय का स्पर्श करे। रेलवे-टाइम-टेबल में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक विचारो की सम्प्रेषणीयता तो है, किन्तु उसमे अनुभूति और हृदय-स्पर्शिता का अभाव है। अतएव वह टाइम टेबल काव्य नही कहा जा सकता। आजकल लिट्रेचर शब्द बड़ा व्यापक है। किसी सभा के नियमोपनियम अथवा किसी फर्म के विज्ञापन, सूचीपत्र आदि को भी लिट्रेचर कह दिया जाता है, जिसे वास्तव मे काव्य नही कहा जा सकता।

डा० गुलाबराय के शब्दों में, "साहित्य संसार के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया अर्थात् विचारों, भावो और सकल्पो की शाब्दिक अभिव्यक्ति है और वह हमारे किसी न किसी प्रकार के हित का साधन करने के कारण सरक्षणीय हो जाती है।"

———

काव्य की परिभाषा

प्राक्कथन

भारतीय काव्यशास्त्र मे अधिकाश आलोचको ने काव्य की परिभाषा काव्य की आत्मा के रूप मे, पर कुछ ने स्वतन्त्र रूप से भी, की है। काव्य के दो पक्ष माने गये है : भावपक्ष और कलापक्ष। भावपक्ष का सम्बन्ध अनुभूति से और कलापक्ष का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है। एक को काव्य की आत्मा तथा दूसरे को काव्य का शरीर कहा जाता है। दोनो पक्षो का महत्त्व अपना-अपना अलग है, पर वे एक-दूसरे से सम्बद्ध भी है। अधिकाश आचार्यो ने भावपक्ष को प्रधानता दी है। इसके विपरीत पाश्चात्य विद्वान् अभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व देते है, क्योकि वहा के आद्याचार्य अरस्तू ने कला को अनुकरण माना है। अनुकरण मे मूर्त्त की प्रधानता रहती है और मूर्त्त का सम्बन्ध कल्पना से है।

(क) भारतीय आचार्य (संस्कृत)

भरत मुनि

आचार्य भरत मुनि ने अपने 'नाट्य शास्त्र' मे काव्य के लक्षण इस प्रकार बताये है—

मृदुललित-पदाढ्यं गूढ शब्दार्थ-हीनं,
जन-पद-सुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्य-योज्यम्,
बहुकृत-रसमार्गं संधि-संधानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥१७,१२३

अर्थात् शुभकाव्य मे सात बाते होनी है—मृदु ललित पदावली, गूढ शब्दार्थ हीनता, सर्व सुगमता, युक्तिमत्ता, नृत्य मे उपयोग किये जाने की योग्यता, रस के अनेक स्रोतो को बहाने का गुण और सधियुक्तता। नृत्य मे उपयोग किये जाने की योग्यता और सधियुक्तता ये दो लक्षण दृश्यकाव्य के दृष्टिकोण से दिये गये है।

भामह

यद्यपि भरत मुनि ने काव्य के उपर्युक्त सात लक्षण दिये है, तथापि भामह सर्व प्रथम आचार्य है, जिन्होंने थोडे और स्पष्ट शब्दों मे काव्य की परिभाषा उपस्थित की

है। उनके शब्द है, 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। रुद्रट की परिभाषा भी इससे मिलती-जुलती है 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्।' दोनो परिभाषाओ से शब्द और अर्थ की सपृक्ति स्पष्ट है, किन्तु ये परिभाषाएँ अतिव्याप्ति दोष से दूषित है, क्योंकि शब्दार्थ के सहभाव मात्र से ऐसे वाङ्मय का भी समावेश हो सकता है, जिसे काव्य नही कहा जा सकता यथा रेलवे-समय-सारिणी।

दण्डी

दण्डी ने काव्य-शरीर का लक्षण 'काव्यादर्श' मे इस प्रकार उपस्थित किया है 'शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' (१,१०) अर्थात् अभीष्ट अर्थ से सम्पृक्त पदावली को काव्य कहते है। उक्त परिभाषा मे 'शरीर' शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस उल्लेख से यह ध्वनि निकलती है कि काव्य की आत्मा भी होती होगी, जिस पर दण्डी ने तो नही, किन्तु उनके परवर्त्ती आचार्यो ने प्रकाश डाला है। उक्त 'शरीर' शब्द काव्य-पुरुष के रूपक की ओर सकेत करता प्रतीत होता है, जिसकी चर्चा दण्डी के पश्चात् राजशेखर, विश्वनाथ आदि कतिपय आचार्यो ने की है। दण्डी का 'इष्टार्थ' शब्द माननीय है। पण्डितराज जगन्नाथ कदाचित् उसे 'रमणीयार्थ' कहना चाहते है। दण्डी 'शब्दार्थ' को काव्य-शरीर मानते है।

अग्नि पुराणकार

अग्निपुराणकार ने लिखा है कि अभीष्ट अर्थ को सक्षेप मे प्रकट कर देने वाली उस पदावली को काव्य कहते है, जिसमे अलंकार स्पष्ट रूप मे दिखाई दे और जो गुणो से युक्त और दोषो से मुक्त हो। अग्नि पुराण (१,६-७) के वचन है.

संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थ व्यच्छिन्ना पदावली ॥६॥
काव्यं स्फुरदलंकारं, गुणवद्दोषवर्जितम् ॥७॥

इस परिभाषा का साम्य मम्मट-प्रदत्त परिभाषा मे बहुत कुछ है। दण्डी की भाँति अग्निपुराणकार का आग्रह काव्य-शरीर की ओर प्रतीत होता है।

रुद्रट

रुद्रट 'काव्यालंकार' मे शब्द और अर्थ दोनो को काव्य कहते है 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' इस परिभाषा से यह प्रतीति होती है कि रुद्रट के अनुसार शब्द और अर्थ दोनो काव्य है। इस युगपत् भाव को वामनाचार्य और भी अधिक स्पष्ट कर पाये है।

वामन

आचार्य वामन के अनुसार 'अलंकार के कारण काव्य ग्राह्य होता है, सौन्दर्य ही अलंकार है, और काव्य मे इस सौन्दर्य की प्राप्ति दोषो के त्याग एवं गुण और अलंकारों के ग्रहण से होती है।' काव्यालकार सूत्रवृत्ति' में उनके वचन है.

'काव्यंग्राह्यमलंकारात् ।' १,१ १. *'सौन्दर्यमलंकारः ।'* १,१,२.
'स दोष-गुणाऽलंकारहानादानाभ्याम् ।' १,१,३

गुणो और अलकारो से युक्त शब्दार्थ को ही काव्य कहा जा सकता है, यो तो केवल शब्दार्थ को ही काव्य कह दिया जाता है। वामन के प्रथम सूत्र पर उनकी ही वृत्ति है :

काव्य शब्दोऽयं गुणाऽलंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्त्तते। भक्तया तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते ।।१।।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य वामन से अग्निपुराणकार, भोजराज और मम्मट आदि आचार्यो को प्रेरणा मिली है। वे भामह की भाँति कोरे शब्दार्थ को काव्य नही मानते। वामन के अनुसार काव्य की शोभा गुणो से होती है और गुणो की शोभा अलकार से :

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः ।'
'तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ।' ३।१।१,२

वामन के अनुसार काव्य की आत्मा रीति है: 'रीतिरात्मा काव्यस्य' (१,२,६)। परन्तु रीति क्या है ? वह है विशेष प्रकार की पद-रचना : 'विशिष्ट-पद रचना रीति'। १,२,७.। 'विशेष' क्या है ? विशेष गुण है (विशेषो गुणात्मा) १।२।८। वामन के इन वचनो के कारण अलकार की महत्ता कम हो गई और काव्य-पुरुष की 'आत्मा' का सूत्रपात कुछ अधिक स्पष्टता से हुआ, जिस पर आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, क्षेमेन्द्र और विश्वनाथ ने अपने-अपने दृष्टिकोणो से विचार किया।

आनन्द वर्द्धन

आनन्द वर्द्धन ने काव्य का स्पष्ट लक्षण नहीं दिया, पर उन्होंने 'ध्वन्यालोक' मे यह अवश्य लिखा है कि काव्य का शरीर शब्दार्थ है और काव्य की आत्मा ध्वनि। उनके शब्द है : 'काव्यस्यात्मा ध्वनि''''''शब्दार्थशरीर तावत्काव्यम्' १,१।

भोज

धारापति भोज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' मे प्रसगवश लिखा है कि दोष-रहित, गुण-सहित, अलंकारों से अलकृत और सरस काव्य कान्ति और सुख का अधिकारी होता है। वे कहते है :

निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलंकृतम् ।
रसान्वितं कविं कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिञ्च विन्दति ।

कुन्तक

कुन्तक के अनुसार काव्य वह परस्पर सम्बद्ध शब्दार्थ है जो वक्र-व्यापार से युक्त तथा विदग्धो को आह्लाद देने वाला है। 'वक्रोक्ति जीवितम्' मे उनका वचन है।

शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कवि-व्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि । १ । ७

इस उक्ति मे स्पष्ट है कि काव्य की आत्मा वक्रोक्ति है (वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्)। कुन्तक यह मानने के लिए प्रस्तुत नही कि वक्रोक्ति कोई साधारण अलकार है। उनके अनुसार यह 'अपूर्व अलकार' और 'विचित्रैवाभिधा' अर्थात् 'विचित्र ही अभिधा' है।

मम्मट

आचार्य मम्मट की परिभाषा बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'काव्यप्रकाश' म काव्य की परिभाषा अन्वय-व्यतिरेक से परिपूर्ण है, जो इस प्रकार है 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणा-वनलकृती पुनः क्वापि'[1] अर्थात् दोषरहित और गुणालकार सहित शब्दार्थ को काव्य कहते है, भले ही उसमे कही-कहीं अलंकार न भी हो। व्यतिरेक से इस परिभाषा मे कहा गया है कि शब्दार्थ को दोष-रहित होना चाहिए और अन्वय से यह बताया गया है कि काव्य में शब्दार्थ को गुण-सहित होना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस परिभाषा मे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि काव्य मे अलकारो का महत्त्व है, किन्तु कभी-कभी गुणोत्कृष्टता के कारण उनके बिना भी काम चल सकता है। नारी की शोभा उसकी वर्णाकृति पर निर्भर होती है, किन्तु वस्त्राभूषण से उसकी शोभा बढ़ जाती है। वस्त्राभूषण के बिना भी सुन्दरी-सुन्दरी कही जायगी। उसको असुन्दर नही कहा जा सकता, तथापि उसके लिए भी वस्त्राभूषणो की शोभा अपेक्षित है। इसी प्रकार यद्यपि काव्य दोषहीनता और गुणो की विद्यमानता पर निर्भर है, तथापि उसे अलंकारो की अपेक्षा है। यदि 'अदोषौ' अभावात्मक और 'सदोषौ' भावात्मक व्यावर्त्तक (differentia) है तो 'अनलंकृति पुनः क्वापि' विशेष धर्म (property) है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मम्मट की परिभाषा काव्य की सभी भारतीय परिभाषाओं से श्रेष्ठ है।

विश्वनाथ, जयदेव और जगन्नाथ ने इस परिभाषा पर कुछ आपत्तियाँ की है। उनकी समझ मे काव्य के लक्षण में 'अदोषौ' को स्थान नहीं मिलना चाहिए, अन्यथा लक्षण मे अतिव्याप्ति हो जायगी। सदोष काव्य तो सदा त्याज्य है। इस विषय में

---

१ काव्यं स्फुरदलकारं गुणवद्दोषवर्जितम्। अग्नि० १७.

हमारा नम्र निवेदन है कि 'अदोषौ' शब्द व्यतिरेक रूप से लक्षण मे विद्यमान है। हम किसी वस्तु के बारे मे इस प्रकार कह सकते है कि यह गाय है। उस वस्तु के बारे मे ऐसा भी कहा जा सकता है कि यह गवय नहीं, गाय है। पहली उक्ति की अपेक्षा दूसरी उक्ति अधिक स्पष्ट है, क्योकि पहले मे केवल अन्वय है और दूसरी मे अन्वय और व्यतिरेक दोनों है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने इस परिभाषा को सर्वाधिक सम्मान प्रदान किया है, क्योकि मम्मट ने अपनी परिभाषा मे प्रत्यक्ष रूप से इसका कोई उल्लेख नही किया, किन्तु परोक्ष रूप से मान्यता अवश्य दी है। इसके अतिरिक्त उन्होने इसको अङ्गी माना है और इसके स्थायी धर्मो को गुण, जो रसोत्कर्ष के कारण होते है —

य रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ ८, ६६ ॥

बाण भट्ट

बाण भट्ट ने वामन और मम्मट के मतो का समन्वय कर दिया है और काव्य का नया लक्षण उपस्थित किया है। वे कहते है कि अलङ्कार-रीति-रस से युक्त तथा दोष-रहित अच्छे शब्दार्थो के समूह को काव्य कहना चाहिए (गुणालकार-रीति-रसोपेत)।

जयदेव

इसी प्रकार समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाते हुए जयदेव कहते है कि 'निर्दोषगुणालङ्कारलक्षणरीतिवृत्तम् वाक्य काव्यम्', अर्थात् दोषहीन तथा गुण, अलङ्कार, लक्षण, रीति, रस और वृत्ति से समुपेत वाक्य ही काव्य है।

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने आनन्दवर्द्धन, कुन्तक और मम्मट के काव्य लक्षणो का खण्डन-प्रयास करके काव्य का एक नया लक्षण 'साहित्य दर्पण' मे उपस्थित किया है। वे कहते है, 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्', अर्थात् रसात्मक वाक्य काव्य है। इस प्रकार उन्होंने काव्य मे रस की प्रतिष्ठा की है, यद्यपि भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट और वामन भी रस की यथास्थान चर्चा कर चुके थे। विश्वनाथ की काव्य-परिभाषा अव्याप्ति दोष से दूषित है, क्योकि उन्होने रस के अतिरिक्त काव्य के अन्य तत्त्वों की उपेक्षा की है।

जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसगङ्गाधर' मे काव्य का जो लक्षण दिया है, वह महत्त्वपूर्ण है और इस प्रकार है : 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' अर्थात् काव्य वह शब्द है जो रमणीय अर्थ का प्रतिपादक हो। 'रमणीयता' से जगन्नाथ का

तात्पर्य उसमे है जिसे दण्डी ने 'इष्टार्थ', वामन ने 'सौन्दर्य,' आनन्दवर्द्धन एवं कुन्तक ने 'लोकोत्तर आह्लाद' तथा अन्य व्यक्तियो ने 'चमत्कार' कहा है। जगन्नाथ ने स्वय 'रमणीयता' का तात्पर्य लोकोत्तर आह्लाद के उत्पादक ज्ञान की गोचरता लिया है, उनके शब्द है : (रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद-जनक-ज्ञान-गोचरता)।

अनेकता में एकता

प्राचीन संस्कृत के आचार्यों अथवा प्रमुख कवियो के द्वारा उपस्थित काव्य-परिभाषा का अथवा काव्य-परिभाषा के प्रयत्न का दिग्दर्शन कराया जा चुका है। जिस प्रकार भारतीय दर्शन की छ शाखाएँ है जो तत्व का निरूपण विभिन्न दृष्टि कोणो से करती है, उसी प्रकार काव्य के सम्बन्ध मे विभिन्न मत है और काव्य की आत्मा के सम्बन्ध मे विभिन्न धारणाएँ हैं। किन्तु जिस प्रकार दार्शनिक विभिन्नताओ के तल में एकता है, उसी प्रकार काव्याचार्यों के मतों की विभिन्नताओ मे भी एकत्व दृष्टिगोचर हो सकता है, जिसे मम्मट जैसे समन्वयवादी आचार्यों ने उपस्थित किया है। 'भिन्न रुचिहि लोक' अत किसी विद्वान् को यह मत अच्छा लगता है, तो दूसरे को वह। उदाहरणत. डॉ० गुलाबराय समझते है कि जहाँ "दण्डी, मम्मटादि ने पत्ते और शाखाओ को सीचने की, और तुलसीदास के शब्दो मे 'बरी-बरी में लोन' देने की कोशिश की है, वहाँ विश्वनाथ ने जड को सीचा है। गुण, अलकारादि सभी रस के पोषक है। 'वाक्य' शब्द मे, शब्द के साथ अर्थ भी शामिल हो जाता है, क्योकि सार्थक शब्द ही वाक्य बन जाता है। इसके 'रसात्मक' शब्द में काव्य का अनुभूति पक्ष या भाव पक्ष आ गया और 'वाक्य' शब्द मे अभिव्यक्ति पक्ष अथवा कला-पक्ष आ गया। इस परिभाषा मे केवल यह दोष बताया जाता है कि रस की परिभाषा अपेक्षित रहती है, किन्तु मोटे तौर मे सब लोग जानते है कि रस क्या चीज है। वैसे तो 'गुण' और 'दोष' शब्द भी व्याख्या की अपेक्षा रखते है।"[1]

डॉ० सत्यदेव चौधरी के विचार मे "सस्कृत-काव्य-शास्त्रियो मे जगन्नाथ का काव्य-लक्षण सर्वोत्कृष्ट है।"[2] परन्तु सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अपने 'सस्कृत साहित्य के इतिहास' के द्वितीय भाग मे आचार्य मम्मट का समर्थन किया है।

पुनरावृत्तिस्वरूप हम कह सकते है कि अलकार को काव्य की आत्मा समझने वाले आचार्यो मे प्रमुख है रुद्रट, उद्भट। रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले है: वामन। ध्वनि ही काव्य की आत्मा है ऐसा मत आनन्दवर्द्धन का है। कुन्तक के अनु-

१ सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ४८।

२ भारतीय काव्यांग, पृष्ठ ३३।

सार वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है। अभिनव गुप्त और विश्वनाथ रस को काव्य की आत्मा मानते है। पर भट्टनायक भोग[1] को और क्षेमेन्द्र औचित्य[2] को काव्य की आत्मा समझते है।

(ख) भारतीय आचार्य (हिन्दी)

हिन्दी के आचार्यो और कवियों ने प्राय. संस्कृत के आचार्यो और कवियों का अनुसरण किया है। इसके अतिरिक्त उनमे वह सूक्ष्म दर्शिता नही, जो सस्कृत के आचार्यो मे विद्यमान थी। कभी-कभी तो उनके लक्षण-ग्रन्थ भ्रान्ति-पूर्ण भी है। तथापि यह मानना होगा कि हिन्दी मे लक्षणों के उदाहरण-प्रदर्शन मे जो कौशल प्रदर्शित किया गया है, वह प्रशसनीय है, और अलंकारो का तथा नायक-नायिकाओ के भेदो का विवेचन भी किसी दिशा मे सुन्दर हुआ है। काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी लेखकों मे प्रमुख है : केशवदास, चिन्तामणि, कुलपति, देव, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि। इनमे से जिन्होने काव्य की परिभाषा उपस्थित की है, वे ये है —

चिन्तामणि

उन्होंने काव्य का जो स्वरूप उपस्थित किया है, उसका साम्य मम्मट के मत मे है। 'कवि-कुल-कल्पतरु' मे वे लिखते है :—

छन्द निबद्ध सुपद्य कहि गद्य होत बिन छंद।
भाषा छंद निबद्ध सुनि सुकवि होत सानन्द॥
सगुनालंकारन सहित दोष-रहित जो होइ।
शब्द अर्थ ताको कवित कहत विबुध सब कोइ॥

कुलपति

कुलपति ने काव्य का लक्षण 'रस-रहस्य' मे इस प्रकार दिया है:—

जग ते अद्भुत सुख सदन शब्दरु अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैंने कियो सुमुखि ग्रन्थ बहु चित्र॥

देव

देव का काव्य-लक्षण इस प्रकार है, जो उन्होने 'शब्द-रसायन' मे व्यक्त किया है। उनके अनुसार काव्य की आत्मा रस है :

१-२ इनकी चर्चा यथास्थान होगी।

शब्द सुमति मुख ते कढ़ै, लै पद वचननि अर्थ ।
छन्द, भाव, भूषण, सरस, सो कहि काव्य समर्थ ॥
काव्य सार शब्दार्थ को रस तेहि काव्य सुसार ॥

श्रीपति

श्रीपति 'काव्य-सरोज' में काव्य की परिभाषा इस प्रकार देते है :

शब्द अर्थ बिन दोष गुन अलंकार रसवान ।
ताको काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजान ॥

सोमनाथ

'रस-पीयूष-निधि' मे काव्य-लक्षण के सम्बन्ध मे सोमनाथ का मत इस प्रकार है—

सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत अविरुद्ध ।
भूषन जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि सुद्ध ।

भिखारीदास

भिखारीदास जी 'काव्य-निर्णय' मे काव्य की परिभाषा को इस प्रकार व्यक्त करते है –

रस कविता को अंग भूषन हैं भूषन सकल ।
गुन सरूप औ रंग, दूषन करैं कुरूपता ॥

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि 'काव्य-विलास' में कहते है—

व्यंग्य जीवन कहि कवित को हृदय सो पुनि पहिचानें ।
शब्द अर्थ कहि देह पुनि भूषन भूषन कहि जानि ॥

उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि हिन्दी के आचार्यो ने परम्परागत विचारों मे, जहाँ तक काव्य की परिभाषा का सम्बन्ध है, कोई नवीन विचार प्रकट नही किया । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'नाटक' नामक ग्रथ मे नाटक के स्वरूप, भेदोपभेद आदि विभिन्न विषयों पर संस्कृताचार्यो के द्वारा प्रतिपादित नाटक-सम्बन्धी सिद्धान्तो का समर्थन किया है । महावीरप्रसाद द्विवेदी ज्ञान-राशि के संचित कोष को साहित्य मानते है । उनकी काव्य-परिभाषा इस प्रकार है :

सुरभ्यता ही कमनीय कान्ति है, अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे !
शरीर तेरा शब्द मात्र है, नितान्त निष्कर्ष यही यही यही ॥

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, जैसा कि कहा जा चुका है, मम्मट का अनुमोदन करते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास हिन्दी-काव्य-शास्त्र के व्याख्याता थे, उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी रहा है। वे कविता के अन्तर्गत केवल पद्य को ही ग्रहण करते प्रतीत होते है, क्योंकि वे लिखते है—'यद्यपि गद्य के ऐसे भी उदाहरण मिलते है जो अलंकार और कल्पना के चमत्कार मे उत्कृष्ट पद्य से कम नही, और पद्य के भी ऐसे उदाहरण मिलते है जिनकी सरल निरलंकार स्वाभाविकता गद्यवत् भासित होती है, तथापि पद्य में संगीत-कला की छाया अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली देख पडती है, कल्पना का अधिक अनिवार्य रूप देख पडता है और उसकी रसमयता भी अधिक बलवती समझ पडती है।' जयशंकर प्रसाद के अनुसार 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प या विज्ञान से नही है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।' 'वह सत्य-शिव-सुन्दर, सार्वजनीनता, चिरन्तनता, अनुभूति और आदर्श की समष्टि है।' डा० कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना का आधार प्राय शास्त्रीय है। उनके अनुसार, "गुणाधिक्य, अलंकार-बाहुल्य, रस-परिपाक एव भाव-चमत्कार, कविता की उत्तमता की कसौटी रहनी चाहिए।"*

मुंशी प्रेमचन्द पाश्चात्यो की भाँति काव्य को जीवन की आलोचना कहते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रागात्मक तत्त्व को प्रधानता देते हुए कहते है कि 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, वह कविता है।'

डा० गुलाबराय आचार्य विश्वनाथ के मत से अत्यधिक प्रभावित है। वे उन्ही के मत को कुछ विस्तार के साथ इस प्रकार उपस्थित करते है, "काव्य ससार के प्रति कवि की भाव प्रधान (किन्तु क्षुद्र वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त) मानसिक प्रतिक्रियाओ की, कल्पना के ढाँचे मे ढली हुई, श्रेय की प्रेयरूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।"

(ग) पश्चिमी आचार्य

पश्चिमी काव्य-शास्त्र का सूत्र-पात प्लेटो और अरस्तू से होता है। इन दोनो ने कविता और त्रासदी के सम्बन्ध मे बडे सुन्दर विचार उपस्थित किये है, जिनकी

* भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा, पृष्ठ ६३५

चर्चा यथा-स्थान की जायगी। अरस्तू के अनुसार 'काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना के द्वारा जीवन का पुन सर्जन है'। *

सन्त ओगस्टाइन ने कहा है कि 'सभी जानते है कि कविता क्या होती है। यदि आप मुझसे न पूछे तो मै कहूंगा कि मै उसे जानता हूं, किन्तु यदि आप मुझसे पूछे (कि कविता क्या होती है), तो (मै कहूंगा कि) मै नही जानता।' इस कथन से स्पष्ट है कि काव्य की परिभाषा अनिर्वचनीय है।

सेम्युअल जॉनसन ने अपनी 'डिक्शनरी' मे लिखा है कि छन्दोमयी रचना (metrical composition) को कविता कहते है। किन्तु इस परिभाषा पर यह आपत्ति की जा सकती है कि कविता बिना वृत्त-छद की भी हो सकती है, परन्तु वे कविता की परिभाषा को, 'लाइफ ऑव मिल्टन' के लिखते समय, इस प्रकार भी देते है 'बुद्धि की सहायता के लिए, कल्पना के आवाहन द्वारा, सत्य और आनन्द के सयोजन की कला को काव्य कहते है।' यह परिभाषा अधिक सगत है और कविता के प्राय सभी तत्वो का इसमे समावेश है, अर्थात् इसमे काव्य के भावपक्ष और कलापक्ष दोनो ही ध्वनित है। 'लाइफ ऑव वाल्टर' मे जानसन कहते है कि 'कविता का तत्त्व आविष्कार है (Its essence is invention)।' यह परिभाषा उक्त दोनो परिभाषाओ मे हीन है, क्योकि इसमे प्रसाद गुण नही, क्योकि 'आविष्कार' के अर्थ को समझने की आवश्यकता पडती है। क्या उसका अर्थ 'नवोन्मेष' हो सकता है?

जौन स्टुआर्ट मिल कहते है 'कविता क्या है? वह तो केवल वे विचार और शब्द (शब्दार्थ) है, जिनमे भाव स्वत मूर्त्तिमान् है (What is poetry but the thought and words in which emotion spontaneously embodies itself)'। यह परिभाषा भी काव्य के दोनो पक्षो का निर्देश करती है, अतएव उपयुक्त है।

मैकॉले का मत इस प्रकार है काव्य से हमारा अभिप्राय उस कला से है जो शब्दो का प्रयोग इस प्रकार करती है जिससे कल्पना पर भ्रान्ति का आरोप हो जाय। अर्थात् यह कला शब्दो के माध्यम से वह कार्य करती है, जिसे चित्रकार रगो के माध्यम से करता है (By poetry we mean the art of employing words in such a manner as to produce an illusion on the imagination, the art of doing by means of words what the painter does by means of colours)।

टॉमस कार्लायल अपने ग्रन्थ 'हीरोज एण्ड हीरो वरशिप' मे बताते है कि कविता संगीतमय विचार (musical thought) है। यह परिभाषा उचित ही है,

* अरस्तू का काव्यशास्त्र

किन्तु व्याख्या की अपेक्षा करती है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि क्या संगीत गद्य का निष्कासन तो नहीं कर देता, यद्यपि गद्य में भी एक प्रकार का संगीत विद्यमान रहता है।

पी. बी. शैलि अपने 'डिफेंस ऑव पोइट्री' नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि साधारणतः काव्य की परिभाषा इस प्रकार हो सकती है कि वह कल्पना की अभिव्यक्ति है। "Poetry in a general sense may be defined as the expression of the imagination"। इस परिभाषा में यदि 'कल्पना' के स्थान पर 'अनुभूति' शब्द का प्रयोग होता तो अधिक अच्छा था।

विलियम हैजलिट ने 'लैक्चर्स ऑन दि इंगलिश पोइट्स' में यह बताया है कि काव्य तो भाव और कल्पना की भाषा है। "Poetry is the language of the imagination and passions" इस परिभाषा में भी 'अनुभूति' शब्द का अभाव खटकता है।

जेम्स हैनरी ली हंट के अनुसार काव्य तो सत्य, सौंदर्य और शक्ति के निमित्त वह भावात्मक उक्ति है, जिसमें कल्पना-विकल्पना के द्वारा उसके विचार-प्रत्ययों का समावेश और चित्रण ऐसी भाषा के माध्यम से होता है, जिसका सिद्धान्त एकता में विभिन्नता है। "The utterance of a passion for truth, beauty and power embodying and illustrating its conceptions by imagination and fancy, and modulating its language on the principles of variety in unity" 'इमैजिनेशन एण्ड फैंसी' से उद्धृत इस परिभाषा में सत्यं-सुन्दर की तथा विचार की एकसूत्रता द्रष्टव्य है।

सेम्युअल टेलर कॉलरिज 'बायोग्रेफिया लिट्रेरिया' तथा अन्यत्र कहते हैं कि काव्य विज्ञान का विलोम है, जिसका आत्यन्तिक उद्देश्य आनन्द है, सत्य नहीं। 'Poetry is the antithesis of science, having for its immediate object pleasure, not truth" काव्य को विज्ञान का विरोधी समझना उचित नहीं, क्योंकि यदि एक का आग्रह सत्य पर है तो दूसरे का आनन्द पर है। दोनों को एक-दूसरे का पूरक मान लेना अधिक उचित प्रतीत होता है।

वर्ड्सवर्थ के अनुसार काव्य समग्र ज्ञान का प्राण और उत्कृष्टतर आत्मा है, और वह ऐसा भावात्मक अभिव्यंजन है जिसे सारे विज्ञान का समर्थन प्राप्त है। It is 'the breath and finer spirit of all knowledge' and 'the impassioned

expression' which is the countenence of all science. (Preface to the second edition of Lyrical Ballads).

मैथ्यू आरनोल्ड के अनुसार काव्य तो उक्ति का पूर्ण एवं अधिकतम आनन्द-प्रद रूप है, जिसे मानव-शब्द प्राप्त कर सकते है। यह मनुष्य की पूर्णतम वाणी से तनिक भी कम नहीं, यह वह है जिसमे मनुष्य सत्य का कथन करने के लिए अधिकतम निकट आ सकता है। यह जीवन की आलोचना है, ऐसी आलोचना जिसके आधार है—काव्य-सत्य और काव्य-सौदर्य के नियम। 'It is simply most delightful and perfect form of utterance that human words can reach'. It is 'nothing less than the most perfect speech of man, that in which he comes nearest to being able to utter the truth'. It is 'a criticism of life under the conditions fixed for such a criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty'

एडगर एलन पो के अनुसार कविता सुन्दरता की लयात्मक सृष्टि है। "It is the rhythmic creation of beauty".

रस्किन के अनुसार कविता कल्पना के द्वारा रुचिर मनोवेगों के लिए रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करती है। It is 'the suggestion by the imagination of the noble ground for the noble emotions.' (Modern Painters).

प्रोफेसर कोर्टहोप के अनुसार काव्य वह कला है, जो छदोमयी भाषा मे कल्पना-पूर्ण विचारो और भावो की उचित अभिव्यक्ति करके आनन्द प्रदान करती है। "The art of producing pleasure by the just expression of imaginative thought in metrical language."

डब्ल्यू० एच० हडसन के मत मे भाव और कल्पना के द्वारा जीवन की व्याख्या को काव्य कहते है। "An interpretation of life through imagination and feeling".

एबर क्रॉम्बि ने काव्य की जो परिभाषा दी है, वह अत्यन्त सक्षिप्त किन्तु सारगर्भित और आदर्श है। काव्य, उनके अनुसार, भाषा के माध्यम से प्रेषणीय अनुभूति (Communicable experience) है। ये आचार्य काव्य को अनुभूति बताते है और वह अनुभूति प्रेषणीय भी है। हँसना, रोना अनुभूतियाँ है और प्रेषणीय भी हैं; किन्तु उनकी अभिव्यक्ति साकेतिक है, शाब्दिक नही। अतएव वे काव्य नही।

रेलवे समय-सारणी मे प्रेषणीयता तो है, क्योकि सारणी का निर्माता अपने विचारो को अपने पाठको तक पहुँचा देता है, पर वे विचार कोरे विचार है, अनुभूति नही। अतएव ऐसी सारणी को काव्य नही कहा जा सकता। काव्य मे इस प्रकार का चित्रण नही होता जैसा कि फोटो-कैमरे के द्वारा किसी वस्तु का। कवि किसी 'वस्तु' का वर्णन नही करता, वह तो अपने 'भाव' का वर्णन करता है अथवा उस 'प्रभाव' का जो किसी 'वस्तु' से प्रेरित हो। अतएव अनुभूति की शाब्दिक अभिव्यक्ति ही काव्य है।

काव्य के स्रोत

(क) प्रेरक (ख) हेतु (ग) प्रयोजन

प्राक्कथन

'प्रेरक', 'हेतु' और 'प्रयोजन' ये तीनो शब्द लगभग एक से है, परन्तु काव्य का वह गूढतम कारण जिसका साधारणतया अनमान नही हो पाता, 'प्रेरक' (अथवा प्रेरणा) कहलाता है, उसका अर्द्ध व्यक्त रूप 'हेतु' है और अपेक्षाकृत स्पष्ट रूप 'प्रयोजन' नाम से अभिहित है। काव्य का 'प्रेरक' वह कारण है जो मनोविश्लेषण से ज्ञात होता है, काव्य का साधक 'हेतु' है और काव्य का निमित्त अथवा उद्देश्य 'प्रयोजन' है। भारतीय काव्य-शास्त्र मे 'हेतु' और 'प्रयोजन' की चर्चा की गई है, यद्यपि उसके अन्तर पर विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। 'प्रेरक' की चर्चा पश्चिमी मनोवैज्ञानिको और काव्य-शास्त्रियो के द्वारा अच्छे ढग से हुई है।

भट्टनायक ने साधारणीकरण के प्रकरण मे दो शब्दो का उल्लेख किया है—'भावकत्व' और 'भोजकत्व'। मेरे विचार से ये दोनों काव्य की कारण-भूत शक्तियाँ है, इनमे से 'भावकत्व' तो काव्य को उत्पन्न अथवा प्रेरित करता है और भोजकत्व काव्योत्पत्ति के पश्चात् इसके भोगोपभोग से सम्बन्ध रखता है।* यदि भावकत्व काव्य के अतीत की ओर, तो भोजकत्व काव्य के भविष्य की ओर संकेत करता है, जबकि साधक 'हेतु' काव्य के वर्तमान की ओर इंगित करता है। भावकत्व 'प्रेरक' है, तो 'प्रयोजन' भोजकत्व है, और अभिधा का सम्बन्ध साधक-तत्व 'हेतु' से। उक्त पंक्तियो मे, मैंने 'भोजकत्व' और 'भावकत्व' का प्रयोग भट्टनायक के दृष्टिकोण से नही किया है।

* दे० "पीछे की ओर देखने से प्रयोजन प्रेरणाओ का रूप धारण कर लेते है। भविष्य मे स्थित प्रेरणाएँ प्रयोजन बनती है। कुछ का सम्बन्ध साहित्य-स्रष्टा से है और कुछ का आस्वादक से है, किन्तु बहुत अंश मे भोक्ता और स्रष्टा के दृष्टिकोण मिल जाते है।" (डा० गुलाबराय)

(क) प्रेरक अथवा प्रेरणाएँ

काम

ऋग्वेद में लिखा है कि आरम्भ में 'काम' उत्पन्न हुआ, जो मन का प्रथम बीज था, १०,१२९,४। उपनिषदो मे भी 'काम' शब्द इच्छा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, यथा: आत्रेय (३,५,२) में। काम का यह रूप अयौन था। वृहदारण्यक उपनिषद् मे लिखा है कि यह पुरुष काममय है (काममय एवायं पुरुष, ४,४,५) उस पुरुष ने इच्छा की कि मै एक से दूसरा हो जाऊँ। छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है, 'सोऽकामयत बहुस्या प्रजायेय' (६,२,३)। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् मे लिखा है: सोऽकामयत द्वितीयो वै आत्मा जायते (१,२,४)।

इन उक्तियो मे काम का रूप यौन और अयौन के मध्यस्थ है। परमात्मा को अकेलापन अखरा। अतएव उन्होने दूसरे की इच्छा की। वे नारी बन गये और उन्होंने पति-पत्नी का रूप ग्रहण किया, जिससे मानवो की सृष्टि हुई (वृहदा० १,४,१-६)। काम का यह रूप यौन है। मूर्त्तरूप मे काम कामदेव है। वास्तव मे काम की बडी महिमा है। महानारायणोपनिषद् मे लिखा है कि काम कर्त्ता है, मै नही। (कामः कर्त्ता, नाह कर्त्ता। काम. करोति, नाहं करोमि। काम कारयिता, नाह कारयिता। (१४,३)।

एषणाएँ

महर्षि चरक ने 'चरक सहिता' के सूत्रस्थान (११,२) मे तीन एषणाओ की चर्चा की है, जो सभी पुरुषो मे विद्यमान होती है। वे है प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा। गोस्वामी तुलसीदास (रा,७,१०१,३) एवं अन्य कुछ महानुभावों ने उक्त एषणाओं को इस प्रकार गिनाया है: पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। वास्तव मे पुत्रैषणा का समावेश प्राणैषणा में हो जाता है। यदि गूढ दृष्टि से देखा जाय तो प्राणैषणा में ही अन्य दोनो एषणाओं का समावेश हो जाता है।

मूल प्रवृत्तियाँ

पश्चिमी मनोवैज्ञानिको ने लगभग चौदह मूल प्रवृत्तियां बतायी है, जिनका समावेश तीन एषणाओं मे हो सकता है—भोजनानुसंधान, पलायन, युयुत्सा, विकर्षण, सवेदना, पुत्र-कामना, और कामुकता का समावेश प्राणैषणा में हो जाता है। उत्सुकता और सचय का समावेश वित्तैषणा मे हो जाता है। इसी प्रकार सामाजिकता और हास्य का समावेश लोकैषणा मे संभव है। आत्मगौरव और आत्महीनता की स्थिति

पुत्रैषणा और वित्तैषणा के मध्य की है और विधायकता की स्थिति वित्तैषणा और लोकैषणा के मध्य की है।

सामान्य प्रवृत्तियाँ : अनुकरण

मूल प्रवृत्तियों (Instincts) के अतिरिक्त मनोविज्ञानियों ने सामान्य प्रवृत्तियों (Tendencies) की सत्ता बतायी है। ये सामान्य प्रवृत्तियाँ त्रिविध है : अनुकृति, ढर्रा और खेल। अनुकृति के तीन रूप है—निर्देश, सहानुभूति और अनुकरण। इनके भी भेदोपभेद है, जिनकी चर्चा यहाँ आवश्यक नही।

भारतीय आचार्यो ने काव्य-शास्त्र के 'हेतु' और 'प्रयोजन' का सीधा सम्बन्ध इन प्रवृत्तियो से नही जोडा है, यद्यपि काव्य-शास्त्र मे रस का, और रस में भी शृंगार, वीभत्स, वीर, भयानक आदि का, उल्लेख हुआ है, जिनमे क्रमश. काम, विकर्षण, युयुत्सा और भय का समावेश है।

यूनान मे अरस्तू ने अपने काव्य का आधार अनुकरण नामक सामान्य प्रवृत्ति को माना है। अनुकरण का क्या अर्थ है, इस पर प्लेटो और अरस्तू दोनों का मत-भेद रहा है जिसकी चर्चा यथावसर की जायगी।

दान्त काम

फ्राइड के अनुसार सभी क्रियाओ की उत्पत्ति काम-वासना (Libido) से होती है। यह मानव-जीवन की सभी क्रियाओं की मूल प्रेरक शक्ति है, जो बाल्यकाल से ही अपना कार्य प्रारम्भ कर देती है। अवरुद्ध अथवा दबी हुई वासनाएँ नष्ट नहीं होती, वे राजभय, समाजभय और धर्मभय के कारण दब जाती और तदनन्तर उपचेतन मन से चेतन मन मे आना चाहती है, किन्तु अन्तरात्मा (कौशेस, मोरल सैंस अथवा सुपर ईगो) अवाछित इच्छाओ को मन के भीतर इसी प्रकार ढकेलता रहता है, जिस प्रकार जेल का प्रहरी भागने वाले कैदियों को जेल के अन्दर ही तत्परता से ढकेलता रहता है और उन्हे निकलने नही देता। पर जिस प्रकार कैदी प्रहरी को सोता अथवा असावधान देखकर और अपना वेश बदल कर निकल ही भागते है, उसी प्रकार अवाछित इच्छाएँ अथवा विचार अचेतन से चेतन को उस समय प्राप्त होते है, जबकि अन्तरात्मा असावधान रहती है। जिस प्रकार भागने वाले कैदी अपना वेश बदल लेते है, उसी प्रकार अवाछित एवं अव्यक्त इच्छाएँ प्रतीको के द्वारा व्यक्त होती है। अन्तरात्मारूपी पहरेदार निद्राकाल मे असावधान रहता है। अतएव दमित इच्छाएँ स्वप्न के रूप मे व्यक्त होती है। जाग्रत अवस्था मे भी वे वेश बदलकर प्रतीको का रूप धारण कर दैनिक भूलों, हँसी, व्यग्य, कला और काव्य के माध्यम से प्रकट होती है। अतएव फ्रॉइड के अनुसार काव्य भी

दान्त काम-वासनाओं की तृप्ति का साधन है। काव्य कार्य है, तो काम कारण है। जो अश्लीलता साधारणत त्याज्य समझी जाती है, वह काव्य मे ग्रहण कर ली जाती है, क्योकि उसमे काम का उन्नयन हो जाता है। विद्यापति का घोर शृंगार इस कारण भी ग्राह्य है कि उसमे राधा-कृष्ण के नाम मे धार्मिक भावना का पुट है।

क्षति-पूर्त्ति

एडलर के अनुसार क्षति-पूर्त्ति (अभाव की पूर्त्ति) ही जीवन की मूल प्रेरक शक्ति है। मनुष्य के मन मे हीनता की ग्रन्थियाँ होती है। जब उसे अपनी हीनता का आभास मिलता है, तो वह अपनी क्षति की पूर्त्ति अनजाने कर लेता है। लँगड़े, काने और क्षुद्र-ग्रीव प्राय चालाक होते है। अधो की स्मरण-शक्ति प्रबल होती है। सूर और मिल्टन दोनो अन्धे थे। उन दोनो कवियो के काव्य कितने उत्कृष्ट है। कबीर जुलाहे थे, कदाचित् इस कारण उन्होने लिखा 'तू काशी का ब्राह्मण मै कासी का जुलाहा।' जायसी काने और कुरूप थे, अतएव उन्होने लिखा 'चाँद जैस विधि जग औतारा, दीन कलक दीन्ह उजियारा।' तुलसीदास जी का आहत दाम्पत्य प्रेम भगवत् प्रेम मे परिणत हो गया।

प्रभुत्व कामना

कार्ल युंग के अनुसार कामवासना और प्रभुत्व कामना दोनो ही जीवनधारा के भिन्न-भिन्न पहलू है। दो प्रकार के मनुष्य होते है : अन्तर्मुख (इट्रोवर्ट) और बहिर्मुख (एक्स्ट्रोवर्ट)। जो मनुष्य अन्तर्मुख होता है वह अध्यात्म की ओर उन्मुख होकर (अथवा अन्तश्चेतन की ओर प्रवृत्त होकर) प्रगीत काव्य का स्रष्टा अथवा उपासक होता है। उसकी आन्तारिक अनुभूति मुक्तक, गीत आदि के द्वारा, समास शैली मे, अभिव्यक्त होती है। बहिर्मुख व्यक्ति की प्रवृत्ति बाह्य ससार की ओर रहती है। वह अपने शरीर, परिवेश, समाज और राष्ट्र मे अधिक रुचि लेता और व्यास-शैली से उन्ही का वर्णन करता तथा उपन्यास और महाकाव्यो का स्रष्टा बनता है।

चार प्रेरणाएँ

डब्ल्यू० एच० हडसन ने *चार प्रवृत्तियो का उल्लेख किया है। वे ये है—(१) आत्माभिव्यक्ति की कामना। हमारी यह इच्छा रहती है कि हम अपनी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति करे। शिशुओ को जब 'कवास' आती है और कोई भी उनकी बात नहीं सुनना चाहता तो वे झँझोड कर उस व्यक्ति को अपनी बात सुनाना चाहते

* एन इण्ट्रोडक्शन टु द स्टडि ऑव लिट्रेचर, पृष्ठ ११

हैं। इसी प्रकार वयस्क (अडल्ट) भी अपने भाव-विचारों को, कहानी-निबन्ध आदि काव्य के किसी रूप में, अपनी अभिव्यक्ति करते है। (२) मनुष्य और उनके कार्यों के प्रति हमारा लगाव है, हम समाज मे रहते है, इसलिए हमारी रुचि और हमारा लगाव अन्य लोगो मे होता है। इसी कारण उनके आचार-विचार, वेश-भूषा हमारे काव्य के वर्ण्य-विषय बनते है। हम विदेशो मे जाते और वहाँ की बातो को घर आकर अपने इष्ट-मित्रो को सुनाते है। (३) यथार्थ जगत् के प्रति हमारा आकर्षण होता है और कल्पना जगत् के निर्माण की प्रवृत्ति हमारे भीतर होती है। पर्वत-नदी, गगन-मडल, सूर्य-चन्द्र, वन-उपवन, विभिन्न आकृति के पशु, अनेक वर्ण के पक्षी सभी की ओर हम आकृष्ट होते है। इसलिए हम प्रकृति का चित्रण अनेक रूप मे करते है। कवि मे वह शक्ति है कि वह हमे चन्द्रलोक की यात्रा स्पुतनिक के आविष्कार से वर्षों पूर्व करा दे। कवि अपने दिव्य चक्षुओ से रहस्य का साक्षात्कार कर लेता है, क्योकि 'जहाँ न जावे रवि' तहाँ जावे कवि। (४) इन तीन प्रवृत्तियो के अतिरिक्त एक चौथी प्रवृत्ति और है। वह है रूप विधान की कामना (लव ऑव फॉर्म एज फार्म)। उक्त प्रवृत्तियो म से प्रथम तो काव्य का हेतु है पर द्वितीय और तृतीय काव्य के उपादान है। कवि मे एक ऐसी प्रवृत्ति और होती है जो उसे कथन के ढग की ओर प्रवृत्त करती है। जो बात कही जाती है वह रोचक हो सकती है, किन्तु उसके कहने का ढंग भी रोचक होना चाहिए। साधारणत नीरस वस्तुएँ भी अभिव्यक्ति-कौशल के द्वारा सरस हो जाती है, और इस कौशल के अभाव मे सरस से सरस विषय भी नीरस हो जाता है। हम 'रामचरित' मानस को स्वय पढते और आनन्द प्राप्त करते है, किन्तु अच्छे कथावाचको से उसे सुनकर और भी अधिक आनन्द की प्राप्ति होती है। बच्चे सुनी हुई कहानी को ऐसे लोगो के मुख से बार-बार सुनना पसन्द करते है, जो कहानी के कहने मे प्रवीण होते है।

आत्माभिव्यक्ति

डा० नगेन्द्र उपर्युक्त आत्माभिव्यक्ति को ही साहित्य की मूल प्रेरणा मानते है। 'विचार तथा विवेचन' मे उनके शब्द है "आत्माभिव्यक्ति ही वह मूलतत्त्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है"।

(ख) हेतु

काव्य के चार साधक माने गये है, जिन्हे हेतु कहते है। वे है : प्रतिभा, व्युत्पत्ति (अथवा निपुणता), अभ्यास और समाधि। इनकी चर्चा यथाक्रम अपेक्षित है।

(अ) प्रतिभा

लक्षण

प्रतिभा के पर्याय है—प्रतिभान, शक्ति और सस्कार-विशेष। भट्ट तौत के अनुसार प्रतिभा वह प्रज्ञा है, जो नवीन-नवीन विचार उत्पन्न करने वाली है : 'प्रज्ञा नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'। रुद्रट के अनुसार, जिस विशेषता के द्वारा सुस्थिर चित्त मे अनेक प्रकार के वाक्यार्थ का स्फुरण तथा कठिनता-रहित पदो का भान होता है, उस शक्ति को प्रतिभा कहते है। 'काव्यालंकार' मे उनके वचन है।

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधा विधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्ति.। १, १५

'वक्रोक्ति जीवित' मे कुन्तक ने कवि शक्ति को प्रतिभा माना है। वे कहते है प्राक्तनाद्यतन सस्कार परिपाक प्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्ति.। अर्थात् पूर्व जन्म के तथा इस जन्म के सस्कारों मे परिपक्व दृढ बनी हुई एक अनोखी दिव्य शक्ति प्रतिभा कहलाती है। इसी बात को आचार्य वामन इस प्रकार स्पष्ट करते है. कवित्व-बीज प्रतिभानं, कवित्वस्य बीज कवित्व बीज, जन्मान्तरागत सस्कार-विशेष कश्चित् यस्माद् बिना काव्य न निष्पद्यते, निष्पन्न वा हास्यायतनं स्यात्। अर्थात् कवित्व का कारण प्रतिभान है; यह प्रतिभान सस्कार विशेष है जो जन्मजन्मान्तर्गत होता है, जिसके बिना काव्य निष्पन्न नही हो सकता, और यदि होता है तो हास्यास्पद। काव्य-मीसासा मे राजशेखर के अनुसार प्रतिभा वह है जो शब्दो के समूहो को, अर्थो के समुदाय को, अलकार एवं सुन्दर उक्तियों को, तथा अन्यान्य काव्य-सामग्री को हृदय के भीतर सुझाती है। उनका वचन है : या शब्द ग्राममर्थ सार्थमलकार तंत्रमुक्तिमार्ग मन्यदपि तथा विधमधि हृदय प्रतिभासयति सा प्रतिभा। उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि प्रतिभा वह जन्मजात शक्ति है, जो काव्य के लिए नए-नए विचार-भाव उपयुक्त भाषा मे प्रेरित करती है। यह अग्रेजी लोकोक्ति ठीक ही है कि कवि उत्पन्न होते है, बनते नही।

प्रतिभा के दो तत्त्व : रमणीयता और नवीनता

प्रतिभा के दो तत्व है : नवीनता और रमणीयता। भट्टतौत ने, जैसा कि देख चुके है, 'नवनवोन्मेषशालिनी' प्रज्ञा को प्रतिभा बताया है। इससे 'नवीनता' स्पष्ट है। जगन्नाथ पण्डित के शब्द है : काव्य घटनानुकूल शब्दार्थौ परिस्थिति। अर्थात् प्रतिभा वह शक्ति है, जिसके द्वारा कवि-मन मे ऐसे शब्द और अर्थ सूझते है जो काव्य-घटना के अनुकूल हो। वाग्भट्ट ने कविता को सर्वतोमुखी माना है, क्योकि वह भाव, विचार और अभिव्यक्ति मे विद्यमान रहती है।

राजशेखर के विचार से विचारो की मौलिकता असंभव है। इसलिए उनके मत से सभी कवि चोर होते है।

प्रतिभा के प्रकार

अभिनव गुप्त ने प्रतिभा के दो प्रकार माने है · आख्या और उपाख्या। कवि की प्रतिभा को आख्या और भावक अर्थात् समालोचक की प्रतिभा को उपाख्या कहते है। राजशेखर ने भी प्रतिभा के दो रूप माने है, कारयित्री और भावयित्री। इनमें से पहली तो कवि की है और दूसरी भावक की। कारयित्री तीन प्रकार की होती है · सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। जन्म-जन्मान्तरो के संस्कारो से प्राप्त प्रतिभा को 'सहजा', जन्म, शास्त्र और काव्यों के अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा को 'आहार्या', तथा मंत्र-तंत्रोपदेश से उत्पन्न प्रतिभा को 'औपदेशिकी' कहते है।* प्राय. सभी आचार्यो ने प्रतिभा को सहज अथवा नैसर्गिक माना है। पर रुद्रट ने इसके दो भेद किये है—सहजा (अर्थात् जन्म जात) और उत्पाद्या (अर्थात् साधन जन्य)।

(आ) व्युत्पत्ति अथवा निपुणता

'काव्य-प्रकाश' मे, लोक और शास्त्र आदि के अवलोकन से जो चतुरता प्राप्त होती है, मम्मट ने उसे 'निपुणता' कहा है 'निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्, १,३। इस वचन से स्पष्ट है कि निपुणता के दो स्रोत है एक है लोक का निरीक्षण, दूसरा है शास्त्रो का अध्ययन। शास्त्रो के अध्ययन से काव्य-सिद्धान्तों का ज्ञान बढता है, छन्द शास्त्र के अध्ययन से छन्दो का ज्ञान होता है। अमरकोश, हलायुध आदि कोशों और पाणिनीय अष्टाध्यायी, सारस्वतचन्द्रिका आदि व्याकरणो से भाषा परिमार्जित हो जाती है। व्युत्पित्ति के द्वारा प्रतिभा की अभिव्यक्ति को सहायता मिलती है। यदि ऐसे किसी बालक को जिसमे प्रतिभा है उचित शिक्षा न दी जाय तो प्रतिभा का समुचित प्रकाश नही हो पायगा। रुद्रट ने अपने 'काव्यालकार' मे निपुणता के लिए 'व्युत्पत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार छन्द, व्याकरण, कला, लोकस्थिति, पद, तथा पदार्थो के विशेष ज्ञान से उचित एवं अनुचित का सम्यक् परिज्ञान ही व्युत्पत्ति है। उनका वचन है ·

छन्दो व्याकरण कला लोकस्थिति पद पदार्थ विज्ञानात्,
युक्तायुक्त विवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन।१,१८

अतएव विविध शास्त्रों, विद्याओं, लोक-व्यवहार, ज्ञान और स्वानुभव के द्वारा काव्य रचना की जो योग्यता होती है, उसे निपुणता अथवा व्युत्पत्ति कहते है।

---

* काव्य-मीमासा, अध्याय ४

(इ) अभ्यास

'अभ्यास' का अर्थ है बार-बार प्रयोग। काव्य मीमासा (अ० ४) के अनुसार निरन्तर प्रयास करने को अभ्यास कहते है, 'अविच्छेदेन शीलनमभ्यास ।' इस पर प्रतिभा और निपुणता की भी सफलता निर्भर है। काव्य के जानकार से शिक्षा लेना आवश्यक है। उर्दू के शायर प्राय अपने उस्ताद से इस्लाह लिया करते है, क्योकि रचना को गुरु के द्वारा शुद्ध करा लेने से रचना-शक्ति मे गति आ जाती है। दण्डी ने प्रतिभा का सर्वोपरि महत्व स्वीकार किया है, तथापि उन्होने अभ्यास पर सबसे अधिक बल दिया है, जो उचित ही है, क्योकि मूल प्रवृत्तियाँ अनवसर और अनभ्यास से अविकसित रह जाती है और प्रतिभा भी कुंठित बनी रहती है, जिस प्रकार खान मे से निकला सोना। काव्यादर्श मे दण्डी कहते है

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥ १,१०४
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती क्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभि ।
कृशे कवित्वेपि जना कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ॥ १.१०५

अर्थात् भले ही पूर्व सस्कारो के गुणो से सम्बद्ध सहज प्रतिभा न हो, तो भी काव्य आदि के श्रवण, अनुशीलन तथा अभ्यास के निरन्तर प्रयत्न से सरस्वती अनुग्रह करती ही है। इसलिए जो लोग काव्य से यश चाहते है, उन्हे आलस्य छोड़कर और श्रम करके सरस्वती की उपासना अवश्य करनी चाहिए, क्योकि कवित्व-शक्ति के क्षीण होने पर भी वे लोग भी विदग्धो की गोष्ठी मे रसास्वादन कर सकते है जो परिश्रम करते है।

(ई) समाधि अथवा अवधान

मन की एकाग्रता को समाधि कहते है, जो काव्य-कर्म मे कवि के लिए सर्वोत्कृष्ट साधन है। यह मत श्यामदेव का है, जिसका उल्लेख राजशेखर ने 'काव्य मीमासा' के चतुर्थ अध्याय मे किया है। वामन ने 'काव्यालकार' (१,३,१७) में समाधि के लिए अवधान शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है : 'चित्तैकाग्रमवधानम् ।'

हेतु-संख्या

आचार्यो ने चार हेतु माने है। जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, वे है : प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास और समाधि, किन्तु किसी आचार्य ने इनमें से एक पर, किसी ने दो पर, तथा किसी ने तीनों पर आग्रह किया है, और किसी ने समाधि को

नहीं माना है। भामह ने केवल प्रतिभा का उल्लेख किया है। दण्डी और रुद्रट ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को माना है। वामन ने लोकव्यवहार, विद्या (व्युत्पत्ति) और प्रकीर्ण को काव्य-हेतु माना है, और प्रकीर्ण के अन्तर्गत उन्होंने काव्य-परिचय, काव्योद्योग, वृद्धसेवा, प्रतिभा और अवधान को रखा है। श्यामदेव 'कवि-समाधि' को और आचार्य मंगल 'अभ्यास' को प्रधान कारण मानते हैं। राजशेखर के अनुसार शक्ति ही काव्य का अकेला कारण है; शक्ति तो समाधि और अभ्यास से उत्पन्न होती तथा प्रतिभा और व्युत्पत्ति को जन्म देती है, (काव्य मीमांसा ४)। मम्मट ने प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास के समन्वय को हेतु माना है और इन्हें अलग-अलग स्वीकार नहीं किया। उनका वचन है: त्रयः समुदिता नतु व्यस्ता स्तस्य काव्यस्योद्भवेत् निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्नतु हेतव। अर्थात् ये तीनों मिलकर काव्य के निर्माण और उत्कर्ष के हेतु हैं, ये अलग-अलग हेतु नहीं हैं (१,३)। वाग्भट्ट ने प्रतिभा को काव्य का कारण, व्युत्पत्ति को विभूषण और अभ्यास को सर्जन-वर्द्धक माना है। हेमचन्द्र ने प्रतिभा को काव्य का हेतु, किन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास को उसका संस्कार करने वाला बताया है और इसी बात को जयदेव ने भी 'चन्द्रालोक' में कहा है। पण्डितराज जगन्नाथ केवल प्रतिभा को काव्य का कारण समझते हैं और व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का हेतु। प्रतिभा का हेतु कभी किसी देवता अथवा महापुरुष के प्रसाद से उत्पन्न होता है और कभी विलक्षण व्युत्पत्ति और काव्य-रचना के अभ्यास से। उनके शब्द हैं 'तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा··· तस्याश्च (प्रतिभायाश्च) हेतु क्वचिद्देवता महापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम् क्वचिच्च विलक्षण व्युत्पत्ति काव्यकारणाभ्यासौ।'

हिन्दी के आचार्यों ने मम्मट और जयदेव का अनुसरण किया है, यथा सूरतिमिश्र, श्रीपति, जगन्नाथप्रसाद भानु, बिहारीलाल भट्ट, भिखारीदास।

पश्चिमी मत

सुकरात ने एक बार कहा था कि "कवि लोग कविता इस कारण नहीं करते कि वे बुद्धिमान् होते हैं, किन्तु इस कारण कि उनमें एक विशिष्ट प्रकृति अथवा प्रतिभा है जो उत्साहप्रद होती है।" लैस्लि एबर क्राबि * सुकरात के उक्त तथा अन्य कतिपय शब्दों से इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि सुकरात के अनुसार काव्य-शक्ति द्विविध है—कवि की कारयित्री प्रतिभा और आलोचक की भावयित्री प्रतिभा।

यूनानी आचार्य प्लेटो के अनुसार भी काव्य का हेतु अन्तःप्रेरणा है। इसके बिना केवल बाह्य अभ्यास के द्वारा जो कवि बनने का प्रयत्न करता है, उसमें कोई महत्त्व

*प्रिंसिपिल्स ऑव लिट्रेशी क्रिटिसिज़्म, पृष्ठ ७-९.

नही मिलता। तत्पश्चात् अरस्तू ने मानव-स्वभावस्थ अनुकरण और सामञ्जस्य इन दो प्रवृत्तियो मे काव्य-हेतु का अनुसन्धान किया है। अरस्तू के अनुसार काव्य एक कला है, उसका एक निश्चित रीति-विधान है, जिसके सम्यक् पालन से निपुणता प्राप्त की जा सकती है। अभ्यास से कवि-कर्म मे सफलता सम्भव है। अरस्तू ने निपुणता और अभ्यास पर पर्याप्त बल दिया है, किन्तु उन्होने प्रतिभा की भी नितान्त उपेक्षा नही की है। 'रेटरिक्स' अर्थात् 'भाषण शास्त्र' मे उन्होने स्पष्ट लिखा है कि कविता अन्त स्फूर्त वस्तु है। काव्य-शास्त्र मे भी अनेक ऐसे प्रसंग है, जहाँ प्रतिभा का महत्त्व स्पष्ट है। यह सब होते हुए भी अरस्तू ने निपुणता को प्रधानता दी है और प्रतिभा को गौणता। आचार्य वामन और मंगल इन दोनों भारतीय आचार्यो का साम्य अरस्तू के सिद्धान्तों से है।

होरेस के अनुसार सत्काव्य की रचना का हेतु प्रतिभा और अभ्यास दोनो का समन्वय है। वे कहते है कि प्रतिभा के बिना अध्ययन की क्या उपयोगिता है और अभ्यास के बिना प्रतिभा का उपयोग किस प्रकार सम्भव है? होरेस ने प्रतिभा को गौण स्थान तो नही दिया, तथापि वे निपुणता को अधिक महत्त्व देते प्रतीत होते है।

(ग) प्रयोजन

प्राक्कथन

भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो ने काव्य के भिन्न-भिन्न प्रयोजन माने है। डॉ० गुलाबराय के अनुसार हम इन्हे दो वर्गो मे विभाजित कर सकते है आन्तरिक और बाह्य। प्रेरणारूप प्रयोजन आन्तरिक कहलाते है तथा भविष्य के लिए स्थित प्रेरणाएँ बाह्य है। कुछ प्रयोजनो का सम्बन्ध स्रष्टा से, और कुछ का भोक्ता से होता है।

भामह

भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ मे नाटक का विवेचन किया है। अतः नाटक के दृष्टिकोण से उन्होने काव्य का प्रयोजन इस प्रकार बताया है

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्द्धनम्।
लोकोपदेशेन जननं नाट्यमेतत् भविष्यति॥

आगे चल कर अन्य आचार्यो ने भी प्रायः इन्ही प्रयोजनों को मान्यता प्रदान की है। भामह ने काव्य के सात प्रयोजन माने है—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कलाओ मे चातुर्य, प्रीति और कीर्त्ति। उनका वचन इस प्रकार है :

धर्मार्थ काम मोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीति करोति कीर्तिं च साधु काव्य निबन्धनम्॥ (काव्यालंकार १।२)

वामन

वामन के अनुसार काव्य के दो ही प्रयोजन है.—प्रीति (आनन्द) और

कीर्त्ति। ये प्रयोजन जीवन-काल मे और जीवनोपरान्त भी रहते है। जब तक स्रष्टा जीवित रहता है, वह इस ससार मे काव्यानद का उपभोग करता है। यह प्रयोजन ऐहिक अथवा दृष्ट हेतु है, मृत्यूपरान्त वह काव्य उसकी कीर्त्ति को अक्षुण्ण बनाये रहता है। आज भी वाल्मीकि, कालिदास तथा गोस्वामी तुलसीदास की कीर्त्ति काव्य-प्रदत्त है। यह प्रयोजन आमुष्मिक अथवा अदृष्ट-हेतु है। वामन का वचन इस प्रकार है—

काव्यसद् दृष्टा दृष्टार्थं प्रीति-कीर्त्ति-हेतुत्वात् (काव्यालंकार सूत्र १।१।५)

रुद्रट

रुद्रट के अनुसार काव्य के नौ प्रयोजन है—युगान्त तक रहने वाला जगत् व्यापी यश, दुर्गा आदि की स्तुति के द्वारा धन-प्राप्ति, विपत्ति-विनाश, असाधारण आनन्द, आप्तकामना, धर्मार्थकाममोक्ष की प्राप्ति (काव्यालंकार, १.४,१.८,१२ ६)।

आनन्द वर्द्धन

आनन्द वर्द्धन ने 'ध्वन्यालोक' मे ध्वनि का निरूपण सहृदय जनो के मन की प्रसन्नता (हृदयाह्लाद) के लिए किया है १,१। इस बात से यह विदित होता है कि वे हृदयाह्लाद को काव्य का प्रयोजन समझते थे।

राजशेखर

राजशेखर काव्य का प्रयोजन 'कीर्त्ति' समझते है। 'काव्य मीमासा' मे वे लिखते है यस्येत्थ धी प्रगल्भा स्तपयति सुकवेस्तस्य कीर्त्तिर्जगति। अर्थात् जिस सुकवि की प्रगल्भ बुद्धि पाठक को आनन्द मे अवगाहन कराती है, उसकी कीर्ति इस ससार मे रहती है।

कुन्तक

कुन्तक के अनुसार काव्यबध उच्च कुल मे समुत्पन्न हृदयो को आह्लादित करने वाला और कोमल शैली से कहा हुआ धर्मादि सिद्धि का मार्ग है। वे 'वक्रोक्ति जीवित' में कहते है :

धर्मादि साधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥ १,३

वे समझते है कि व्यवहार करने वाले मनुष्यो को अनुदिन के नूतन औचित्य से युक्त चेष्टा आदि का सौन्दर्य सत्काव्य के परिज्ञान से प्राप्त हो सकता है, १.४। इसके अतिरिक्त काव्यामृत का रस काव्य को समझने वाले (सहृदय) के अन्तःकरण मे चतुर्वर्ग अर्थात् ध,र्म अर्थ, काम और मोक्ष के आह्लाद से बढ़कर चमत्कार को उत्पन्न करता है, १-५। इस प्रकार कुन्तक काव्य के तीन प्रयोजन मानते है—आह्लाद-कारिता, व्यवहार-ज्ञान, धर्मादिसिद्धि और चमत्कार।

मम्मट

भारतीय काव्य-शास्त्र में मम्मट द्वारा प्रतिपादित 'प्रयोजन' सर्वाधिक मान्य हुआ है। उन्होंने काव्य का विशेष तथा महत्त्वपूर्ण प्रयोजन एक ही माना है। वह है आनन्द। 'काव्य प्रकाश' में उनके शब्द इस प्रकार हैं 'सकल प्रयोजन-मौलिभूत समनन्तरमेव रसास्वादन-समुद्भूत विगलित वेद्यान्तरमानन्दम्' (१।२। की वृत्ति), अर्थात् वह जो संसार के सभी प्रयोजनों में मुख्य है, जो प्राप्त होते ही तुरन्त अपने रस का स्वाद चखाकर ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव कराता है कि शेष ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान उसके आगे तिरोहित हो जाते हैं। यह प्रयोजन स्रष्टा और सहृदय दोनों के लिये है। परन्तु आगे चलकर मम्मट ने काव्य के छ प्रयोजन और माने हैं, वे हैं :—

काव्यं यशसेऽर्थ कृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे। १,२।

अर्थात् यश, धन, व्यवहार-कुशलता, अनिष्ट-निवारण, आनन्द और कान्ता-सम्मित उपदेश काव्य के प्रयोजन हैं। इन पर कुछ और विचार करना अनुचित न होगा।

(१) **यश**—यश की कामना प्रायः सभी में होती है। यह एक प्रधान प्रेरक शक्ति है। महाकवि कालिदास, भवभूति, जायसी आदि कवियों ने यश के लिए ही काव्य रचना की। महाकवि जायसी पद्मावत में लिखते हैं —

'औ मन जानि कवित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत मंह चीन्हा॥ ६५२।

अंग्रेजी के महाकवि मिल्टन का कथन है कि महामनाओं की अन्तिम निर्बलता यश है।

(२) **अर्थ**—काव्य का दूसरा महाप्रयोजन धन है। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति को इसकी आवश्यकता होती है। कवि और साहित्यकार अपने काव्य से अर्थ-पूर्ति करते हैं। श्रीहर्ष कवि को प्रचुर सम्पत्ति की प्राप्ति हुई थी। महाकवि केशव को २१ गाँव माफी में मिले थे। कहा जाता है कि बिहारी को प्रति दोहा एक अशरफी मिलती थी। रीतिकाल में कविगण जमींदार, राजा आदि के उपजीवी रहते थे। अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार स्काट ने कर्ज चुकाने के लिए उपन्यासों की रचना की। 'शाहनामा' के रचयिता फिरदौसी को भी एक शेर पर एक अशरफी देने का वचन दिया गया था, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रत्येक कवि धन-लालसा से ही काव्य रचना में प्रवृत्त होता है। अष्टछाप के कवि कुंभनदास जी ने यह कहकर कि 'सन्तन को कहा सीकरी सो काम' बादशाह अकबर के निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया था। आधुनिक युग में भी प्रायः अर्थ-लाभ के लिए काव्य-सर्जन किया जाता

है। लेखको का ध्येय अपने ग्रन्थो को पाठ्यक्रमो में लगवाकर अथवा जनता के मनोरंजनार्थ कहानी, उपन्यास आदि लिखकर उनकी बिक्री से अर्थोपार्जन करना है।[1]

(३) **व्यवहार-ज्ञान**—काव्य से लोक-व्यवहार का ज्ञान भी पाठक को होता है, लेखक को तो रीति-व्यवहार का ज्ञान होता ही है। वह पाठकों के समक्ष मानव-हृदयो के उन रहस्यो और अनुभवों का उद्घाटन करता है, जिनका ज्ञान उसे वर्षो के अनुभव से मिल सका। कहानी और उपन्यास इस दिशा मे विशेष उपकार करते है।

(४) **शिवेतरक्षति**—अनिष्ट-निवारण के लिए जो रचना होती है, उसमे धर्म की प्रधानता रहती है। अत प्राचीनकाल मे रोग अथवा कष्टो को दूर करने के लिए देवी-देवताओ की स्तुति की जाती थी। आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' मे मयूर कवि का उदाहरण दिया है, जिन्होने सूर्य की प्रार्थना के द्वारा अपने कोढ़ को ठीक किया था। जिस प्रकार मयूर कवि ने 'सूर्य-शतक' की रचना की थी, उसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'हनुमान् बाहुक' की रचना बाहु-पीडा के निवारणार्थ की थी। आधुनिक युग की प्रगतिवादी रचनाओ का प्रयोजन भी शिवेतरक्षति समझा जा सकता है, क्योकि इनका उद्देश्य देश और समाज का हित है।

(५) **सद्यःपरनिर्वृत्ति**—यह काव्य का मुख्य उद्देश्य है। काव्य के आस्वादन से जो रस-रूपी आनन्द मिलता है, वही इसका लक्ष्य है। इससे पाठक को तो आनन्द मिलता ही है, स्रष्टा को भी आनन्द मिलता है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरित मानस' की रचना इसी उद्देश्य से की थी, जैसा कि उनके 'स्वान्तः सुखाय' इस वचन से स्पष्ट है। भक्त और मुमुक्षु भी अभीष्ट कल्याण के निमित्त उसे पढते-सुनते है।

(६) **कान्तासम्मिततयोपदेश**—पत्नी के समान मधुर शब्दो मे उपदेश देना भी काव्य का एक प्रयोजन है। कबीर, गुरु नानक, रहीम आदि की रचनाएँ इस प्रयोजन के अन्तर्गत आती है। पचतत्र, हितोपदेश आदि कहानी-सग्रहो मे भी उपदेश ही निहित है। बहुत से विद्वान् इस प्रयोजन से सहमत नही। वे अपने मत की पुष्टि मे कहते है कि उपदेश के लिए धर्म-ग्रन्थ क्यो न पढे, काव्य की क्या आवश्यकता? इस मत का परिहार हमारे शास्त्रो मे मिलता है। उनमे तीन प्रकार के वचन बताये है—प्रभु-सम्मित, सुहृद्-सम्मित और कान्ता-सम्मित। प्रभु-सम्मित वचनो मे आज्ञा रहती तथा ऊँच-नीच की बात समझायी जाती है, जसे वेद-शास्त्रादि के आदेश।

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ. ५

मित्रों(सुहृदो)के उपदेश अर्थ-तात्पर्य प्रधान होते है,यथा—इतिहास, पुराण आदि। कान्ता-सम्मित वाक्य मे प्रेम-मिश्रित उपदेश होता है, यथा लोकप्रिय रामचन्द्र का व्यवहार पात्रानुसार। काव्य सरस और मधुर होता है, अत वह उपदेश को भी उपभोग्य बना देता है। कहते है कि बिहारी के इस दोहे ने राजा जयशाह पर जादू का सा प्रभाव डाला था :

नहिं पराग नहि मधुर मधु, नहिं विकास एहि काल।
अली कली ही सौ बिध्यों, आगे कौन हवाल॥ २८॥

यदि कदाचित् बिहारी केवल उपदेश देते तो जयशाह पर कोई प्रभाव नही पडता, उलटे वे कोप-भाजन बन जाते। इसी प्रकार मुहम्मदशाह के वजीर के इस शेर ने नादिरशाह के हृदय को परिवर्तित कर दिया और दिल्ली के कत्लेआम को रोक दिया था :

कसे न मॉद कि दीगर व तेगे नाज कुशी।
मगर कि ज़िंदा कुनी खल्क राव बाज कुशी॥

(७) **चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति**—बहुत से आचार्यो ने चतुर्वर्ग की प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन माना है। धर्म तो 'शिवेतरक्षति' के अन्तर्गत आ सकता है, अधिकाश रच नाएँ अर्थ के लिए होती ही है, काम शृंगार रस मे निहित है, किन्तु मोक्ष से क्या तात्पर्य है? शास्त्रों मे, जन्म-मरण के बन्धन से छूटने को मोक्ष कहते है। जीव को मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान अथवा भक्ति के द्वारा होती है। शान्तरस और वीभत्सरस दोनो मे प्रवृत्ति को निवृत्ति की ओर कर देने की शक्ति है। भक्ति-चर्चा भी परमार्थ प्रदायिनी है।

इस प्रकार हम देखते है कि काव्य के निम्न-लिखित प्रयोजन हो सकते है — धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि-विवर्द्धन, लोकव्यवहार, अर्थ, काम, मोक्ष, कला-नैपुण्य, प्रीति, शिवेतरक्षति, आप्तकामता, कान्ता-सम्मित उपदेश, असाधारण आनन्द।

पश्चिमी दृष्टिकोण

पश्चिम मे काव्य को कला माना गया है और कला के प्रयोजन भी अनेक माने गये है, जिनमे से मुख्य नौ ये हैं १—कला कला के लिए, २. कला जीवन के लिए, ३. कला जीवन से पलायन के लिए, ४. कला जीवन में प्रवेश के लिए, ५. कला सेवा के लिए, ६. कला आत्मानुभूति के लिए, ७ कला विनोद के लिए, ८. कला सर्जन की अदम्य आवश्यकता-पूर्ति के लिए, ९ कला आनन्द के लिए। इनकी चर्चा कला-विषय अध्याय मे विद्यमान है।

अरस्तू ने काव्य के दो प्रधान प्रयोजन माने है —शिक्षा और आनन्द। उनके अनुसार काव्य के पठन-पाठन से शिक्षा की प्राप्ति होती है और आनन्द की भी। इनके अतिरिक्त एक और प्रयोजन है और वह है विरेचन के द्वारा मनःस्वास्थ्य की प्राप्ति। विरेचन-सिद्धान्त की चर्चा यथा-स्थान की जायगी। परन्तु ड्राइडन ने शिक्षा और आनन्द के समन्वित रूप को ही काव्य का प्रयोजन माना है। होरेस ने उपयोगिता, मनोरजन और इन दोनो के समन्वय को स्पष्टत प्रयोजन माना है, यो तो परोक्ष रूप से यश, अर्थ, शिक्षा और आनन्द भी काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत है।

———

काव्य के गुण

लक्षण

'गुण' का कोशार्थ है—उत्तमता, विशेषता, आकर्षक अथवा शोभाकारी धर्म, दोषाभाव। काव्यशास्त्र मे इसके अर्थ है—दोषाभाव अथवा काव्य की शोभा करने वाले धर्म। भरत के अनुसार दोष-विपर्यय गुण है 'एत एव विपर्यस्ता गुण काव्येषु कीर्त्तिता:' (नाटय० १७,९५)। वामन उन्हे काव्य के शोभाकारक धर्म और आनन्द वर्द्धन रस के आश्रित रहने वाले धर्म मानते है, किन्तु मम्मट गुणो को रसरूप अंगी के धर्म समझते तथा रस के उत्कर्ष का कारक भी समझते है। इस प्रकार यदि भरत ने गुणो को अभावात्मक तत्त्व माना है, तो दण्डी ने स्पष्टत: उन्हे भावात्मक समझा और काव्य-शोभाकारी बताया है। गुण को प्रतिष्ठा प्रदान करने वाले आचार्य वामन है। उनके मत से काव्य-शोभा के कर्त्ता गुण होते है 'काव्य-शोभाया कर्तारो धर्मा गुणा.' ३,१,१। आनन्द वर्द्धन, मम्मट और विश्वनाथ ने गुणो को रसाश्रित बताकर उनकी स्वतन्त्र सत्ता को नही माना। पण्डितराज जगन्नाथ ने गुण को शब्दार्थ का धर्म माना है, और उन्होने रस को काव्य की आत्मा तो माना है, किन्तु उसे गुण-शून्य बताया है। गुण के आश्रय है . वर्ण-संघटन, शब्द-योजना, शब्द-चमत्कार, शब्द-प्रभाव और अर्थ की दीप्ति।

गुण-संख्या

भरत मुनि ने दस गुण माने है, वे है—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पद-सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति। दण्डी ने भी दस गुण माने है, किन्तु उन्होने समाधि, कान्ति आदि कुछ गुणो का अर्थ भरत के अर्थ से भिन्न किया है। वामन ने दस गुणो मे से प्रत्येक के दो भेद, शब्द और अर्थ के आधार पर, कर दिये है। अतएव उनके अनुसार गुणो की सख्या बीस हो जाती है। भोज ने गुणो की संख्या चौबीस तक पहुँचा दी है, क्योकि उन्होने उक्त दस गुणो मे ये चौदह और जोड़ दिये है · उदाहरण, ओजत्व, प्रेयस, सुशब्दता, सूक्ष्मता, गंभीरता, विस्तार, संक्षेप सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति, प्रौढि। भोज ने बाह्य (शब्द गुण), आभ्यन्तरिक (अर्थ गुण) और वैशेषिक (प्रसंग गुण) के आधार पर चौबीस के उपभेद

करके गुणो की संख्या बहत्तर तक पहुँचा दी है। 'अग्नि पुराण' के अनुसार गुणो को दोषाभाव कहना ठीक नही, क्योंकि वे भावात्मक है और काव्य मे महती छाया उत्पन्न करने है। ऐसे १९ गुण होते है--सात शब्द गुण, छ अर्थ गुण, छ उभय गुण। वे ये है--श्लेप, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता, औदार्य, सत्य, और यौगिकी, माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढि, सामयिकत्व, प्रसाद, सौभाग्य, यथासख्य, प्रशस्यता, पाक, राग। आचार्य कुन्तक ने औचित्य और सौभाग्य नाम के दो अनिवार्य सामान्य गुण तथा माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य नाम के विशिष्ट गुण माने है। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व नामक चित्त की तीन अवस्थाओं के आधार पर क्रमश तीन गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद बताये है। वामन ने दस गुणो का समावेश उक्त तीन गुणो मे कर दिया और मम्मट ने दस गुणो का खडन कर तीन गुणो की स्थापना की। हिन्दी के आचार्यो ने साधारणत. मम्मट और विश्वनाथ की मान्यताओ मे आस्था प्रकट की है।

श्लेष

श्लेप का कोशार्थ है मेल-जोल। भरत के अनुसार अनेक शब्दों, अर्थो या वर्णो के एक मे सघटन को, अथवा दण्डी के अनुसार गाढबन्धता तथा रचना के संघटन को श्लेप कहते है। यह 'श्लेप' गुण 'श्लेप' नामक अलंकार से भिन्न है। इसका प्रयोग सूर, तुलसी, जायसी आदि महाकवियो ने विशेष सफलता से किया है।

समता

समता का अर्थ है समानता, तुल्यता। भरत के अनुसार यह गुण तब होता है, जब रचना मे कठिन, व्यर्थ, अति चर्ण पद अधिक न हो। यह वैदर्भ मार्ग की विशेषता है। ध्वनिवादी आचार्यो के अनुसार समता का समावेश प्रसाद मे हो जाता है।

सुकुमारता

रचना मे यह गुण तब उत्पन्न होता है, जब कर्ण-कटु और कठोर वर्णो का त्याग तथा कोमल वर्णो की योजना के द्वारा सुकुमार भावना की अभिव्यक्ति होती है। यह गुण वैदर्भी रीति की विशेषता है।

अर्थव्यक्ति

इस गुण की प्राप्ति तब होती है, जब सम्पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति शब्दो और पदो के द्वारा हो जाय। दण्डी के अनुसार यह गुण वहाँ होता है, जहाँ पदों के द्वारा उस अर्थ की अभिव्यक्ति हो जो अभिप्रेत है। वे इसे वैदर्भी और गौडी दोनों ही मार्गो के अनुरूप समझते है।

उदारता

उदारता का अर्थ है व्यापकता, उत्कर्ष। इस गुण के कारण प्रतिपाद्य अर्थ मे उत्कर्ष की प्रतीति होती है। इसके द्वारा उक्ति-विशेष खिल जाती है। इस गुण की प्राप्ति के निमित्त मनोरम, ललित और मंजुल विशेषणों का प्रयोग अभीष्ट है।

कान्ति

इसका अर्थ है उज्ज्वलता, कमनीयता, आभा, शोभा या दीप्ति। भरत के अनुसार यह वह गुण है जिसके द्वारा मन की और श्रोत्र विषयक प्रसन्नता उत्पत्ति होती है (१७,१०७)। दण्डी के अनुसार इस गुण मे लौकिक गुण का अतिक्रमण नही होता, पर जगत् की कमनीयता की अभिव्यक्ति होती है। वामन के अनुसार कान्ति गुण दो प्रकार का होता है—शाब्दिक कान्ति और आर्थिक कान्ति। रचना की उज्ज्वलता अथवा नवीनता मे शाब्दिक कान्ति, और किसी रचना के शृगार आदि रस के दीप्त होने पर आर्थिक कान्ति होती है।

समाधि

'समाधि' की व्युत्पत्ति है. सम्+अ+धा+कि। इसका अर्थ है—एकाग्रता, मेल, जोड, शान्ति या फिटनेस। समाधि की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है. यह वह गुण है, जो किसी धर्म को अन्य धर्मो मे ठीक ढग से आरोपित करे। भरत के अनुसार समाधि किसी रचना का वह विशिष्ट अर्थ है, जिसे प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति उपलब्ध करते है। नाट्य शास्त्र (१७,१०१) मे उनके वचन है—

अभियुक्तैर्विशेषस्तु योऽर्थस्यैवोपलभ्यते
तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्त्यते।

किन्तु यह श्लोक निम्नाकित श्लोक का पाठान्तर है—

उपमास्वियहिष्टानां (?) अर्थाना यत्नतस्तथा।
प्राप्तानां चातिसयोगः समाधि. परिकीर्त्यते॥

इस श्लोक का भाव अधिक स्पष्ट नही। अतएव सपादक ने उस पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया है। ऐसा प्रतीत होता कि भरत मुनि के मन मे समाधि की परिभाषा कुछ और थी। कदाचित् उनके अनुसार सदृश और अभीष्ट अर्थो की यत्नपूर्वक प्राप्ति के अतिसंयोग को समाधि कह सकते है। मेरी विनीत सम्मति मे यह भाव ध्वनिवादियो के द्वारा क्षेमेन्द्र तक पहुँचा और औचित्य में परिवर्त्तित हो गया। अस्तु। दण्डी के अनुसार समाधि गुण वहाँ होता है, जहाँ लोक-सीमा के अनुरोध से अन्य के धर्म का अन्यत्र आरोप किया जाता है। काव्यादर्श मे वे लिखते है :

अन्य धर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥१,६३॥

आचार्य वामन की व्याख्या के दो दृष्टिकोण है—(क) शब्द-दृष्टि से आरोह के पश्चात् क्रमिक अवरोह, तथा अर्थ-दृष्टि से नवीन अर्थ की प्राप्ति। यह नवीन अर्थ या तो अकारण अथवा अन्य कवि के काव्य की छाया से प्राप्त होता है। मम्मट आदि ध्वनिवादी तथा कुछ आचार्य समाधि को नही मानते। महाकवि देव ने समाधि का लक्षण देते समय दण्डी का आधार ग्रहण किया है, परन्तु देव की अभिव्यक्ति दण्डी के अनुकूल नही पडती, क्योकि वे लिखते है—'लोक सीव उलघै अरथु'। समाधि मे दण्डी के अनुसार लोकसीमा का अनरोध है, तो देव के अनुसार लोकसीमा का उल्लघन है।

माधुर्य

'माधुर्य' का कोशार्थ है मिठास अथवा रोचकता। भरत ने 'माधुर्य' से श्रुति-मधुरता तात्पर्य ग्रहण किया है (नाट्य० १७,१)। दण्डी के अनुसार माधुर्य का अर्थ है रसमयता। शाब्दिक माधुर्य श्रुत्यनुप्रास है और आर्थिक माधुर्य अग्राम्यता है। इस प्रकार सरसता, शिष्टता एव सस्कृतता माधुर्य के पर्याय है। वामन के अनुसार माधुर्य का अर्थ है समास-साहित्य एवं उक्ति-वैचित्र्य। ध्वनिवादियो के अनुसार माधुर्य सहृदयों को द्रवित करने वाला गुण है, मम्मट के अनुसार उसमे आह्लादकता और शृगार रस मे द्रवित करने की विशेषता भी है। इस प्रकार माधुर्य के पर्याय है श्रुति-मधुरता, समास-राहित्य, उक्ति-वैचित्र्य, आर्द्रता, चित्त-द्रवण, भावमयता, आह्लादकता।

विश्वनाथ कहते है कि क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, र और अनुस्वार युक्त वर्ण माधुर्य को उत्पन्न करते है, उनका प्रयोग शृंगार, करुण और शान्त रसो के अनुकूल होता है। इस प्रकार की रचना समास-रहित और अल्प गुणो वाली होती है।

ओज

ओज का अर्थ है तेज, प्रताप या दीप्ति। यह वह गुण है जो मन मे उत्साह, वीरता, आवेश आदि को उत्पन्न करता है। भरत का मत है कि समास-युक्त, किन्तु श्रवण-सुखद एवं अर्थ-गाम्भीर्य-युक्त पदावली ओजमयी होती है। दण्डी के अनुसार समास-बहुला पदावली ओज-गुण से युक्त होती है, जो वैदर्भी गद्य तथा गौडीय गद्य-पद्य मे भी उपलब्ध होती है। वामन कहते है कि ओज के लिए सयुक्ताक्षरो का सयोग तथा अर्थ की प्रौढ़ता आवश्यक है (काव्यसूत्रवृत्ति ३,१,५, ३,२,२,)।

ध्वनिवादियो के अनुसार ओज गुण चित्त को दीप्त करता है। यह गुण वीर, वीभत्स और रौद्र रस की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त है। ओज की निष्पत्ति के लिए वर्गों के आदिम और तृतीय वर्ण संयुक्ताक्षर होने चाहिएं, ट, ठ, ड, ढ, व, स का अधिक प्रयोग होना चाहिए और दीर्घ समासों का भी।

प्रसाद

प्रसाद की व्युत्पत्ति इस प्रकार है : प्र+सद्+घञ्; और इसका अर्थ है प्रसन्नता, स्वच्छता, प्राञ्जलता, या सुस्पष्टता। प्रसाद वह गुण है जिसमे भरत के अनुसार स्वच्छता, सरलता और सहजग्राह्यता होती है (नाट्य० १७,९८), दण्डी के अनुसार वह शब्द-प्रयोग जिसके कारण अर्थ सुनते अथवा पढ़ते ही समझ मे आ जाय, और वामन के अनुसार वह गुण जो ओज का विरोधी तथा शिथिलता-जन्य है, यद्यपि यह शिथिलता दोषरूपा नही होती। ध्वनिवादी कहते है कि प्रसाद गुण के कारण सामाजिक के हृदय मे भाव या अर्थ की व्याप्ति शीघ्र ही ऐसे व्याप्त हो जाती है, जैसे सूखे काष्ठ मे अग्नि अथवा स्वच्छ वस्त्र मे जल (का० प्र० ८,७०-७१)। हिन्दी के अधिकाश आचार्यो ने मम्मट और विश्वनाथ को मान्यता प्रदान की है। उनके अनुसार प्रसाद का निवास सरल, सहज और भावव्यजक शब्दावली मे तथा अर्थ की निर्मलता एव रोचकता मे होता है।

———

काव्य के दोष

दोष की परिभाषा

दोष का शाब्दिक अर्थ है—भूल, त्रुटि, हानि या रोग। साहित्य-दर्पण (७) मे विश्वनाथ कहते है कि यह वह पदार्थ है जो मुख्य अर्थ का अपकर्ष करता अर्थात् रस की हानि करता है। यह हानि तीन प्रकार से हो सकती है—रस की प्रतीति मे विलम्ब के द्वारा, अवरोध के द्वारा, और रस-प्रतीति मे विघात के द्वारा। भरत ने (नाट्यशास्त्र १७,९५ मे) गुण को दोष का विपर्यस्त रूप माना है। ऐसा कहने से यह स्पष्ट है कि दोष का रूप अभावात्मक नही, भावात्मक है। भरत की यह धारणा अग्राह्य-सी प्रतीत होती है, किन्तु उसे अस्वीकार करने से पहले हमको यह ध्यान में रखना चाहिए कि वेदो और उपनिषदो मे सत् और असत् का बडा घनिष्ट सम्बन्ध माना गया है और कही-कही तो असत् से सत् की उत्पत्ति मानी गयी है यथा, 'असतो मा सद्गमय' (वृ० उ०, १,३,२८), असदेवमग्रआ सीदेकमेवाद्वितीयम् (छादो० ६, २, १), सतोबन्धुमसति निविन्दन् (ऋग० १०, १२९)। इसी प्रकार का सम्बन्ध गुण-दोष का भी हो सकता है। दोष की व्यापकता इसी प्रकार की समझी जा सकती है, जिस प्रकार अन्धकार की। भामह ने काव्यालंकार, (१,५४-५९) मे कहा है कि सत्कवि दोष का प्रयोग नही करते, तथापि क्या ललना की आखो मे अञ्जन की कोई शोभा नही ? क्या गौर और सुन्दर मस्तक पर दिठौने का कोई मूल्य नही ? क्या गुण-दोष का वह सम्बन्ध नही जो चित्र का और चौखटे का है ? इतना तो दण्डी भी मानते है कि कवि-कौशल के बल से सभी दोष दोष-सीमा का उल्लंघन करके गुण बन जाते है, 'उत्क्रम्य दोषगणना गुणवीथी विगाहते' (काव्यादर्श, ३,१७९) अस्तु। दण्डी ने **'काव्यादर्श'** (१) मे दोष को हेय एवं त्याज्य इस कारण बताया है कि दोष से काव्य मे विफलता मिलती है। **'अग्नि पुराण'** के अनुसार दोष के द्वारा उद्वेग उत्पन्न होता है, 'उद्वेग जनको दोष' ११,१। वामनाचार्य **'काव्यालंकारसूत्र'** (२,१२) मे लिखते है कि दोष से काव्य-सौन्दर्य की हानि होती है। मम्मट के अनुसार दोष से मुख्य अर्थ का अपकर्ष (मुख्यार्थहतिर्दोष, ७,४९) होता है और विश्वनाथ के अनुसार रस की हानि भी (रसापकर्षका दोषा)। केशव कहते है कि 'दूषण सहित कवित्त' से इसी प्रकार बचना चाहिए, जिस प्रकार कृतघ्न प्रभु से। दोषों के कारण रसास्वादन में अवरोध, काव्योत्कर्ष का नाश और काव्यास्वाद में विलम्ब होता है।

दोष-संख्या

नाट्य-शास्त्र मे, भरत ने दोषों की संख्या दस मानी है, जो इस प्रकार है—

अगूढमर्थान्तरमर्थहीन भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम् ।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ॥ १७, ८८.

पर्याय शब्दो के द्वारा जो कथन होता है, उसे गूढार्थ अथवा 'अगूढ' कहते है। इसमे घुमा-फिराकर बात कही जाती है। अवर्णनीय के वर्णन को 'अर्थान्तर' और असम्बद्ध अर्थ को 'अर्थहीन' दोष कहते है, जहाँ चर्चा विषय से बाहर चलने लगती है। जहा अभीष्ट तो दूसरा अर्थ हो और कहा जाय भिन्न अर्थ, उसे 'भिन्नार्थ' (एम्बिग्युटि) दोष कहते है। 'एकार्थ' दोष ऐसे पर्यायो के प्रयोग से होता है, जिनमे अर्थ की किंचित् भिन्नता होती है, और यह दोष तब उत्पन्न होता है जब कवि पर्यायों के अर्थ-भेद और साम्यो पर ध्यान नही देता। जब प्रत्येक पाद मे वाक्यार्थ सक्षेपतः पूर्ण किया जाय, तब 'अभिप्लुतार्थ' दोष होता है। प्रमाण-रहित रचना मे 'न्यायापेत' और छन्दयुता रचना मे 'विषम' दोष होता है। इसी प्रकार सन्धिहीनता मे 'विसन्धि' और अशब्द-योजना मे 'शब्दहीन' दोष कहे जाते है।

भामह ने तीन प्रकार के दोष माने है—सामान्य दोष, वाणीदोष और अन्य दोष। सामान्य दोष ये है नेयार्थ (जबरदस्ती का अर्थ), क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्त और गूढ शब्द। वाणी-दोष चार है—श्रुति-दुष्ट, अर्थ-दुष्ट, कल्पना-दुष्ट और श्रुति-कष्ट। अन्य दोष ये है—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, देश-विरुद्ध, काल-विरुद्ध, प्रतिज्ञा-हीन, हेतुहीन और दृष्टान्तहीन।

दण्डी ने जो दोष माने है, वे ये है—निरर्थक, विरुद्धार्थक, अभिन्नार्थक, सशय-युक्त, अपेक्षित शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, असमवृत्त, सधिरहित, तथा स्थान, समय, कला, लोकन्याय और आगम का विरोध।

आचार्य वामन ने दोषो के दो भेद किये है—शब्दगत और अर्थगत। फिर इनके भी चार विभाजन किये है— पद-दोष, पदार्थ-दोप, वाक्य-दोप और वाक्यार्थ-दोप। इनके अनुसार शब्दगत दोषो के तीन भेद है—पदगत, पदार्थगत, वाक्यगत; और इसी प्रकार अर्थगत के दो भेद है—पदार्थगत और वाक्यार्थ गत।

मम्मट ने तीन प्रकार के काव्य-दोष बताये है—शब्द-दोप, अर्थदोष और रस दोष। पद, पदाश और वाक्य सम्बन्धी दोप शब्द-दोष के अन्तर्गत है। शब्द दोप सैंतीस, अर्थदोष तेईस और रस दोष दस है।

ध्वन्यालोक मे रस-विषयक दोषो के प्रकरण मे 'दोष' के स्थान पर अनौचित्य शब्द का प्रयोग हुआ है। विश्वनाथ ने मम्मट का अनुसरण किया है।

वर्गीकरण

डॉ० गुलाबराय ने (सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २४१) दोषो का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

प्रथम वर्ग : क्लिष्टत्व, अप्रतीतत्व और अप्रयुक्त दोष। कठिन और दुर्बोध रचना, ऐसे शब्दों का प्रयोग जिसे केवल विशेषज्ञ ही समझ पावे। अप्रचलित शब्द दोष समझे जाते है।

द्वितीय वर्ग : अश्लीलत्व तथा ग्राम्यत्व। गन्दे, भद्दे और अशिष्ट शब्दो का प्रयोग दुष्ट समझा जाता है।

तृतीय वर्ग : अधिकपदत्व तथा न्यूनपदत्व। आवश्यकता से अधिक अथवा आवश्यकता से न्यून पदो का प्रयोग अप्रशस्त माना जाता है।

चतुर्थ वर्ग : विपरीतत्व और श्रुतिकटुत्व। रस के प्रतिकूल अथवा औचित्य के प्रतिकूल तथा कानो को बुरे लगने वाले वर्णों या शब्दों का प्रयोग अवाञ्छनीय है, यद्यपि वीर और रौद्ररस की अभिव्यक्ति मे यह श्रुतिकटुत्व दोष भी गुण हो जाता है।

पंचम वर्ग : च्युतकृति। शब्दो की रचना और वर्त्तनी व्याकरण-विरुद्ध नही होनी चाहिए।

षष्ठ वर्ग . अभवन्मत्सम्बन्ध, दूरान्वय, समाप्त पुनरात्त, **त्यक्त पुनः स्वीकृत** तथा **गर्भित दोषत्व**। वाक्य का अन्वय ठीक होना चाहिए, ऐसा न होना चाहिए कि वर्त्ता, क्रिया अथवा कर्म के बीच मे इतना बडा व्यवधान हो जाय कि अर्थ की सगति कष्टकारक हो। जब वाक्य समाप्त हो जाय तो उसके सम्बन्ध मे पुन. चर्चा न की जानी चाहिए, क्योकि वाक्य के समाप्त हो जाने पर और कुछ कहने से विषय मे शिथिलता आ जाती है। वाक्य के भीतर वाक्य का प्रयोग, अर्थात् किसी अतिरिक्त वाक्य का किसी वाक्य के बीच मे आ जाना, अरुचिकर एवं भ्रमात्मक होता है।

सप्तम वर्ग : अक्रमत्व तथा दुष्क्रमत्व दोष। ये दोष तब उत्पन्न होते है, जब शब्दों का विन्यास वाक्य मे इस प्रकार हो कि यह निश्चय न हो सके कि किस शब्द का सम्बन्ध किससे है। 'राजन्, मुझे घोड़ा दो न हो तो हाथी दो।' इस वाक्य में न का सम्बन्ध आगे-पीछे जोडने से वाक्य के अर्थ एक मे अधिक निकलते है।

काव्य-सम्प्रदाय

प्राक्कथन

काव्य की आत्मा के सम्बन्ध मे प्राचीन काल से ही भारतीय विद्वानो के विभिन्न मत रहे है, जिन्हे छ सम्प्रदायो मे विभक्त किया गया है—

१. रस-सम्प्रदाय, २ अलकार-सम्प्रदाय, ३ वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, ४. रीति-सम्प्रदाय, ५. ध्वनि-सम्प्रदाय, ६ औचित्य-सम्प्रदाय ।

रस-सम्प्रदाय

रस के सर्व-प्रथम आचार्य नन्दिकेश्वर कहे जाते है, किन्तु राजशेखर की 'काव्य-मीमासा' के अतिरिक्त इनका कही उल्लेख नही मिलता । वाल्मीकि-कृत 'रामायणम्' के एक छन्द मे नव रसों का उल्लेख है, किन्तु अधिकाश विद्वान् इसे प्रक्षिप्त मानते है । अतएव 'नाट्यशास्त्र' के कर्त्ता भरत मुनि को ही रस-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक समझा जाता है । भरत मुनि ने नाटक के दृष्टिकोण से ही रस की विवेचना की है, किन्तु रस की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उन्होने कोई विस्तृत विवेचना नही की । इस विषय मे उनका एक सूत्र है —'विभावानुभाव-व्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति.' । परवर्त्ती आचार्यो ने अपने-अपने दृष्टिकोण मे इस सूत्र की व्याख्या की है, जिनमे भट्ट लोल्लट, शकुक, भट्टनायक एव अभिनवगुप्त मुख्य है ।

भरत मुनि रस को काव्य की आत्मा मानते है । उनका वचन है 'नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थ प्रवर्तते' ६,३२, अर्थात् काव्य मे रस के बिना अर्थ-प्रवर्त्तन सभव नही ।

'अग्नि पुराण' में भी स्पष्ट रूप से रस को ही काव्य की आत्मा घोषित किया गया है । उसके शब्द है—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' अर्थात् काव्य में वाग्वैदग्ध्य भी प्रधान है, किन्तु उसकी आत्मा रस ही है ।

राजशेखर ने काव्य-पुरुष का जो रूपक बाँधा है, उसमे उन्होने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर और रस को आत्मा बताया है । 'शब्दार्थौ ते शरीर ····· रस आत्मा' (काव्य मीमांसा, ३) । राजशेखर से पूर्व रुद्रट भी रस को काव्य की आत्मा मानने के पक्ष मे थे । उनके विचार से रस के सम्यक् परिपाक के बिना कविता की नीरसता सिद्ध होती है ।

इनके अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ भी रस के प्रबल पोषक रहे है। उन्होने काव्य की परिभाषा ही इस पर आधारित की है, जो इस प्रकार है—'वाक्यं रसात्मक काव्यम्·····रस एव आत्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य। तेन विना तस्य काव्यत्वाभावस्य प्रतिपादितत्वात्। 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्तियोगाद्भावनदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते' (साहित्य-दर्पण, ३)। अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है····· साररूप होने के कारण रस काव्य का जीवनभूत आत्मा है। रस के बिना काव्यत्व नही होता। 'रस्यते इति रस' इस योगार्थ के द्वारा जो आस्वादित हो, उस सबको रस कहते है। इससे रस, रसाभास, भाव और भावाभास का भी ग्रहण होता है।

रीति-कालीन आचार्यो ने काव्य का कोई मौलिक विवेचन नही किया है, किन्तु वे किसी सम्प्रदाय-विशेष के अनुयायी अवश्य थे और उसी के विवेचनो का रूपान्तर अपनी भाषा में करते रहे। रस की उपेक्षा किसी कवि ने नही की है। रसवादियों में देव, मतिराम, कुलपति मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय है। देव 'शब्द रसायन' में लिखते है—

काव्य सार शब्दार्थ को रस तेहि काव्य सुसार।
ताते काव्यहि मुख्य रस जामे दसरत भाव॥
अलंकार भूषन सुरस जीन छन्द तन भाख।
तन भूषन बिनहू जिए बिन जीवन तन राख।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी रसवादियों मे से है। उनका कथन है—'इस सम्बन्ध में हमारा मत है कि अनूठी से अनूठी उक्ति भी काव्य तभी हो सकती है, जबकि उसका सौन्दर्य, चाहे दूर से ही सही, हृदय के किसी भाव से हो'।

अलंकार-सम्प्रदाय

अलकार का सर्वप्रथम उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र मे हुआ है। उन्होंने केवल यमक, दीपक, उपमा और रूपक—चार अलकारो का उल्लेख किया है, जिनका सम्बन्ध विशेषकर रूपक से ही है। भरत के पश्चात् अलंकारो का वैज्ञानिक विवेचन **भामह** के 'काव्यालंकार' में उपलब्ध है। भामह ने इस सम्प्रदाय के पूर्ववर्त्ती आचार्य मेधावी का भी उल्लेख किया है, किन्तु उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही। भामह ने अलकारों की संख्या ३८ मानी और वक्रोक्ति को अलकार का प्राण तथा अलंकार को काव्य का प्राण माना। 'काव्यालंकार' मे भामह का वचन है 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।' १,३६.

भामह के उपरान्त **दण्डी** ने अलंकारों का विवेचन कर इनकी संख्या पैंतीस निर्धारित की। उन्होंने भामह के कुछ उपभेदो का त्याग किया, भामह के द्वारा

परित्यक्त कुछ अलंकारो को सम्मिलित किया और वक्रोक्ति के स्थान पर 'अतिशय' को काव्य की आत्मा माना। परवर्त्ती आचार्यो ने स्पष्ट किया कि वक्रोक्ति से भामह का तात्पर्य अतिशयोक्ति ही है। भामह की अपेक्षा दण्डी की दृष्टि अधिक उदार थी, अतएव उन्होने अलकार के साथ-साथ गुण और रीति की भी प्रतिष्ठा की।

उद्भट ने अलंकारों का और विस्तृत विवेचन किया और उनकी संख्या ४१ कर दी। अलकार-शास्त्र के क्षेत्र मे **रुद्रट** का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होने अलंकारो के भेद-प्रभेद का स्पष्टीकरण कर उनकी सख्या ५० से अधिक कर दी और भामह के समय से चलती हुई इस त्रुटि का निराकरण किया कि रस और भाव अलंकार के अन्तर्गत है। **मम्मट** का नाम भी अलकारवादियो मे लिया जाता है। मम्मट से पूर्व ध्वनि-सम्प्रदाय प्रचलित हो गया था और यह मत भी प्रचलित हो गया था कि रस और ध्वनि के सहायक रूप मे ही अलकार गौरव प्राप्त कर सकते है, स्वतन्त्र रूप मे ही नही। मम्मट समन्वयवादी थे। अतएव उन्होने गुण और अलकार के भेद को स्पष्ट किया तथा अलकार को काव्य के अगभूत शब्दार्थ का शोभाकारक धर्म माना। इसीलिये उन्होने काव्य की परिभाषा मे 'अनलकृतिः पुन क्वापि' का प्रयोग किया है। उस समय अलकारो की सख्या ७० तक पहुँच चुकी थी। कुछ अलकार मम्मट के द्वारा रचे हुए भी हो सकते है। **रुय्यक** ने विचित्र और विकल्प नामक अलकारो की सृष्टि की। **जयदेव, अप्पयदीक्षित** आदि कुछ आचार्य अलकारो के प्रबल पोषक थे। इनका प्रभाव रीतिकालीन आचार्य **केशव** आदि हिन्दी के कवियो पर भी रहा। **जयदेव** का कथन है कि यदि काव्य को अलकारहीन कहा जा सकता है, तो फिर अग्नि को उष्णता-हीन क्यों न कहा जाय ? इसी प्रकार 'कविप्रिया' मे केशव की उक्ति है :

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न बिराजई, कविता बनिता मित्त। ५१।

दण्डी ने अलंकार की परिभाषा मे अलकारों को काव्य की शोभा करने वाला धर्म कहा है। इस परिभाषा के दो अर्थ लगाए जा सकते है। प्रथम तो यह कि यह सहज गुण है, द्वितीय यह कि काव्य की शोभा अलंकारों पर निर्भर है। जब तक ध्वनि और रस की स्थापना नही हुई थी, तब तक प्रथम परिभाषा मान्य रही। तत्पश्चात् परिभाषा भी बदल गयी। इन्हे काव्य का अस्थिर धर्म कहा जाने लगा। यह तो सर्वसम्मति से मान्य है कि उक्ति का चमत्कार अलकार है, किन्तु प्रत्येक उक्ति-चमत्कार काव्य है, यह रस-वादियों को मान्य नही। जिस उक्ति मे केवल बौद्धिक चमत्कार होगा, वह काव्य के अन्तर्गत नही होगी। इस कारण प्राचीन आचार्यों ने चित्रकाव्य और प्रहेलिका को काव्य के क्षेत्र से निकाल दिया था। अतः जिस उक्ति-

चमत्कार मे भाव का भी योग होगा, वही काव्य के अन्तर्गत आयेगी। डॉ० नगेन्द्र का विचार है कि भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता अथवा तीव्रता को साधारण शब्दों मे व्यक्त करना असम्भव है। भाव के सौदर्य से उक्ति मे सौदर्य स्वयं आ जाता है। अतः भाव और उक्ति के सौदर्य को सर्वथा भिन्न तत्त्व मानना संगत नही। भाव की रमणीयता ही काव्य की आत्मा अवश्य है, किन्तु आत्मा का आधार शरीर भी अनिवार्य रूप से रमणीय ही होगा। अत उक्ति-चमत्कार को परिगणित अलंकारो के अन्तर्गत न रख कर उसका क्षेत्र व्यापक मानना होगा, जिसमे लक्षणा और व्यंजना का भी प्रयोग हो सके।

डॉ० गुलाबराय का भी ऐसा ही मत है। अलंकार नितान्त बाह्य आभरण नही है, जिन्हे जब चाहो पहन ले और जब चाहो उतार ले। वे कर्ण के कवच-कुण्डलो की भाँति सहज है और शक्ति-द्योतक है। हाँ, रस को अलकार के अन्तर्गत रखना अनुचित है। अलकार कृत्रिम भी हो सकते है, किन्तु महत्त्व उन अलंकारों का है जो कवि के हृदय-गत उत्साह से प्रेरित हो।

प्राचीन सस्कृत-साहित्य के शास्त्री तथा वर्तमान यूरोप के विद्वान् अलंकार और अलंकार्य मे भेद मानते है, किन्तु बेनेदितो क्रोचे ऐसा नही मानते। वे दार्शनिक थे। उनका मत भारतीय अद्वैतवाद के अधिक निकट है, किन्तु व्यवहार-क्षेत्र मे भारतीय आचार्यो का मत ही अधिक उपयुक्त है।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय[1]

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक थे। भामह और दण्डी ने वक्रोक्ति को वह विचित्र शैली माना, जो साधारण इतिवृत्त शैली से भिन्न होती है। रुद्रट आदि परवर्त्ती आचार्यो ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार ही माना है। केवल वामन इसे अर्थालंकार मानते थे। आचार्य कुन्तक ने ध्वनि का स्पष्ट विरोध न कर उसे वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना और वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को अलंकार तक ही सीमित न रखा, किन्तु उसका अर्थ विस्तृत रूप से लिया। उन्होंने वक्रोक्ति की परिभाषा भामह से ली और उसका महत्त्व भट्टतौत से। वक्रता छः प्रकार की होती है—वर्ण-विन्यास की, पदपूर्वार्द्ध की, पदपरार्द्ध की, वाक्य की, प्रकरण की और प्रबन्ध की। वर्णविन्यास-वक्रता मे शब्दालंकार आते हैं। पद पूर्वार्द्धवक्रता के अनेक भेद किये गये है, यथा. विशेषण पर्याय, रूढ़ि आदि। पदपरार्द्ध का प्रयोग हिन्दी मे प्राय नही होता। वाक्य-वक्रता में अर्थालंकार आते है। प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध वक्रता का सम्बन्ध मुक्तक काव्य से नही, क्योंकि ये वक्रताएं प्रबन्ध-

रचनाओं मे होती है। इस प्रकार विचार करने पर वक्रोक्ति मे तीन तत्त्व उपलब्ध होते है:—

१—वैचित्र्य, जो किसी न किसी रूप मे साधारण से अवश्य भिन्न होना चाहिये।

२—वस्तु-तत्त्वो का चयन, जो स्वाभाविक रूप से न होकर कवि के दृष्टिकोण से होना चाहिए।

३—स्थूल दृष्टि से कुन्तक और रसवादियो मे मतभेद है, किन्तु सूक्ष्म और व्यावहारिक दृष्टि से कोई भेद प्रतीत नही होता। वे भी रसवादी ही है क्योकि जहाँ रसत्व है, वहाँ कवि-व्यापार अनिवार्यत विद्यमान होगा और जहाँ कवि-व्यापार है, वहाँ वक्रोक्ति का अभाव नही हो सकता।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वक्रोक्तिवाद की नितान्त उपेक्षा की है, किन्तु डॉ० नगेन्द्र के अनुसार वह सर्वथा तिरस्कार के योग्य नही है। इसके संबन्ध मे दो प्रश्न है—

१—क्या प्रत्येक वक्रोक्ति काव्य है ?

२—क्या प्रत्येक काव्य मे वक्रोक्ति अनिवार्य रूप से रहती है ?

प्रथम प्रश्न के उत्तर मे कहा जा सकता है कि प्रत्येक बौद्धिक चमत्कार उक्ति को वक्रता देता है, किन्तु वह उसे सदैव सरस नही बना सकता। अत रस से असम्बद्ध वक्रता को काव्य की श्रेणी मे स्थान नही मिल सकता। दूसरे प्रश्न के विषय मे कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति का स्थान बहुत विस्तृत है। कुन्तक ने रस को वक्रोक्ति के उपादान-तत्त्वों मे से माना है। अत· रस वक्रोक्ति के अन्तर्गत है और रस के अन्तर्गत है उक्ति की तीव्रता। डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि कुन्तक और रसवादियो में क्रम-विषयक मतभेद है, क्योंकि रसवादियों के अनुसार उद्दीप्त मनोविकार को भावन करने मे कवि को एक प्रकार का आह्लाद अथवा रस का अनुभव होता है और इसी रस के कारण उसकी उक्ति में वक्रता आ जाती है। अत काव्य का प्राण उसका रस ही है। वक्रोक्ति उसका अनिवार्य माध्यम है। कुन्तक ने भावपक्ष की अपेक्षा कल्पनातत्त्व को अधिक महत्त्व दिया है।

कुन्तक का वक्रोक्तिवाद कुन्तक से प्रारम्भ होकर कुन्तक तक ही सीमित रहा। आगे चलकर उसको गान्यता प्राप्त न हुई। इसका प्रधान कारण यह था कि कुन्तक के पूर्ववर्त्ती भामह आदि अलंकारवादियो ने अलंकार के अन्तर्गत ही वक्रोक्ति का पर्याप्त विवेचन कर लिया था।

रीति-सम्प्रदाय

रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन थे। उन्होंने इसे काव्य की आत्मा माना : 'रीतिरात्मा काव्यस्य।' भरत ने 'गुण' के, भामह ने 'वैदर्भी' और 'गौड़ी' काव्य के, एवं दण्डी ने 'मार्ग' के रूप मे रीति का विवेचन किया था और वामन ने प्रचलित रीति-परम्परा को सुव्यवस्थित रूप दिया।

वामन ने रीति और गुणो का सम्यक् विवेचन किया, तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध बताकर रीति-सम्प्रदाय की स्थापना की, और वैदर्भी एवं गौडी के अतिरिक्त पाञ्चाली रीति की नयी उद्भावना भी। उनके अनुसार वैदर्भी में दसों गुणों का, गौडी मे ओज और कान्ति का, तथा पाञ्चाली मे माधुर्य और सौकुमार्य का समावेश रहता है।

तदुपरान्त रुद्रट ने चौथी रीति लाटी का आविष्कार किया। आनन्दवर्द्धन और अभिनव ने ध्वनि के आधार पर काव्य का भावगत विवेचन किया, पर रीति को स्वतन्त्र रूप से महत्त्व नही दिया। आनन्दवर्द्धन ने रीति को शोभा का उपादान वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेतु माना और रस-परिपाक तक ही उसका महत्त्व बताया। अभिनव ने अलंकार और गुण से पृथक् रीति का अस्तित्व ही नही माना। ध्वनि-वादियो ने गुणों को अवश्य महत्त्व प्रदान किया और भामह के अनुसार ही उनकी सख्या तीन निर्धारित की। कुन्तक ने रीति का विरोध किया। उनके विचार से देश के अनुसार रीति-विभाजन उचित नही था, क्योकि अभिव्यक्ति की रीति एक ही होती है। उन्होने रीति के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है और रचना-गुण के अनुसार मार्ग के दो भेद (सुकुमार और विचित्र) तथा दस गुणो की परिपाटी के अनुसार मार्ग के तत्त्वरूप चार गुण अर्थात् माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य माने और आगे चल कर उन्होने औचित्य और सौभाग्य ये दो गुण और माने। इनके पश्चात् भोज ने मागधी और अवन्तिका नामक दो और रीतियाँ आविष्कृत कीं, किन्तु वे प्रचलित न हुई।

मम्मट ने उद्भट की वृत्तियो का रीतियो के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया। डा० नगेन्द्र के अनुसार मम्मट का यह विभाजन आनन्दवर्द्धन और अभिनव से प्रभावित है। विश्वनाथ ने रस-गुण के सम्बन्ध से रीति का व्यवस्थित विवेचन किया, पर हिन्दी के आचार्यों ने रीति का विवेचन नही किया।

वामन ने रीति की परिभाषा करते हुए विशिष्ट पद वाली रचना को रीति कहा है।: 'विशिष्ट-पद-रचना रीतिः।' वे पद-रचना के वैशिष्ट्य को गुणों पर आश्रित मानते, और गुणों को काव्य की शोभा करने वाले धर्म समझते हैं। गुण नित्य धर्म

है, तो अलंकार अनित्य धर्म है। इस प्रकार जो दोषों से मुक्त गुणों से अनिवार्यत युक्त, एवं अलंकारों से साधारणतया सम्पन्न हो, वह पद-रचना रीति कहलाती है वामन का 'विशिष्ट-पद-रचना रीति' यह सूत्र पाश्चात्य कवि कॉलरिज के इस वाक्य से साम्य रखता है 'Poetry, the best words in the best order', अर्थात् श्रेष्ठ क्रम में उत्कृष्ट शब्दो को काव्य कहते है।

कुन्तक ने रीति को कवि-कर्म की विधि तथा भोज ने काव्य-मार्ग बताया है। आनन्दवर्द्धन ने इसे वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेतु कहा है, क्योकि इससे काव्य के शरीर (शब्द और अर्थ) मे सौन्दर्य आता है। मम्मट, विश्वनाथ आदि ने भी रीति को पद-रचना ही माना है, किन्तु उसे आत्मा के रूप मे न मानकर काव्य का अग मात्र स्वीकृत किया है। काव्य केवल पद-रचना के अन्तर्गत नही होता। यूनानी आचार्य अरस्तू ने भी दो प्रकार की रीतियाँ मानी है—प्रसाद-युक्त और औचित्य-युक्त।

ध्वनि-सम्प्रदाय

ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन थे। किसी-किसी के मतानुसार ध्वनिकार और आनन्दवर्द्धन दो विभिन्न व्यक्ति थे, पर कुछ विद्वान् उन्हे एक ही व्यक्ति मानते है। ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव ध्वनिकार और आनन्दवर्द्धन से पूर्व हो चुका था, जैसा कि उनके वचन से ज्ञात होता है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य. समाम्नानपूर्व.' (ध्वन्यालोक १-१), अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है, ऐसा मेरे पूर्ववर्त्ती विद्वानो का भी मत है।

ध्वनिकार ने शब्द की तीसरी शक्ति व्यजना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया और अलंकार तथा रीति का सम्बन्ध काव्य के बाह्य पक्ष से माना। रस-सिद्धान्त मे भी दो अभाव थे, पहला तो यह कि वह ऐन्द्रिय आनन्द के प्रति उदासीन था, और दूसरा यह कि वह प्रबन्ध काव्य मे तो उपयुक्त स्थान प्राप्त कर लेता था किन्तु मुक्तक में विभाव, अनुभाव, सचारी आदि का सघटन ठीक न हो सकने के कारण रस-परिपाक में कठिनता पडती थी। अत. सुन्दर मुक्तको को भी उचित गौरव प्राप्त नही हो पाता था। ध्वनि-सिद्धान्त मे व्यग्यार्थ को महत्त्व दिया गया है। व्यंग्यार्थ की महत्ता के अनुसार काव्य के तीन भेद किये गये—उत्तम, मध्यम (गुणीभूत व्यंग्य) और अधम (चित्र काव्य)। ध्वनि के तीन प्रकार है—वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि और रस ध्वनि। इनमें रसध्वनि श्रेष्ठ है। प्रकारान्तर से ध्वनिकार ने भी रस को काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व माना है। आधुनिक विद्वान् भी ध्वनि-सिद्धान्त को रस-सिद्धान्त का ही विस्तार-सूत्र मानते है। ध्वनि-सम्प्रदाय को लोकप्रिय बनाने

का श्रेय अभिनव गुप्त को है। उन्होंने ध्वनि-विषयक आपत्तियों का निराकरण कर ध्वनि को रस से सम्बद्ध होने के कारण ही महत्त्व दिया है।

ध्वनि-सम्प्रदाय का विरोध भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व, काव्य की इन दो शक्तियों के द्वारा किया। अभिनव गुप्त ने अपने प्रबल तर्कों से उनका खण्डन किया। तदुपरान्त कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत मानकर उसे आत्मा के पद से च्युत किया। महिम भट्ट ने व्यंजना की उद्भावना तर्क-सम्मत नहीं मानी, क्योंकि शब्द की केवल दो शक्तियाँ मानी गयी थीं—अभिधा और लक्षणा, फिर तीसरी शक्ति व्यंजना कहाँ से आयी? महिम भट्ट तो काव्य की केवल एक शक्ति अभिधा को ही मानते थे। व्यंजना को उन्होंने अनुमान पर आश्रित मानने के कारण काव्यानुभूति की संज्ञा दी। इन तीनों आचार्यों के मत का तथा-कथित खण्डन हो जाने के पश्चात् ध्वनिकाव्य का महत्त्व प्रचलित रहा। मम्मट ने सभी प्रचलित विचारों का खण्डन-मण्डन कर ध्वनि का विस्तृत विवेचन किया। उस समय तक ध्वनि के भेद-प्रभेदों की संख्या १०४४५ तक पहुँच चुकी थी। विश्वनाथ ने ध्वनि की अपेक्षा रस को अधिक महत्त्व दिया, किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने इनका प्रबल विरोध किया तथा काव्य के भेदों में उत्तमोत्तम नामक एक और भेद की वृद्धि की। हिन्दी के आचार्यों ने तो प्रायः रस में ही ध्वनि का अन्तर्भाव कर लिया, फिर भी प्रतापसाहि और कुलपति ने ध्वनि को ही काव्य का प्राण माना है।

ध्वनिकार ने अपने सिद्धान्त का आधार वैयाकरणों के 'स्फोट' से लिया है। स्फोट क्या है? स्फोट वह है जिसके द्वारा अर्थ का प्रस्फुटन हो। यह प्रस्फुटन शब्द, वाक्य और सम्पूर्ण काव्य का भी हो सकता है। उदाहरण के लिए 'कमल' शब्द को लीजिए। यह शब्द क, म और ल इन तीन अक्षरों के संयोग से बना है। इसमें दूसरे वर्ण के उच्चारण के समय पूर्व-वर्ण की ध्वनि समाप्त हो जाती है। तीनों वर्णों का उच्चारण एक साथ हो नहीं सकता। अतः पूर्व वर्णों का संस्कार पीछे के वर्णों तक रहता है। इस प्रकार शब्द की वर्ण-समष्टि अर्थ-बोध कराती है। इसे स्फोट अथवा ध्वनि कहते हैं। इसी प्रकार वाच्यार्थ ग्रहण करने से काव्य में सौन्दर्य का अनुभव नहीं होता। सौन्दर्य का अनुभव ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ से होता है। इसका सादृश्य घण्टे पर चोट से उत्पन्न उस तीव्र टंकार से किया जाता है, जो बाद में मीठी झंकार का रूप ले लेती है। यदि वाच्यार्थ टंकार है, तो ध्वनि झंकार है।

ध्वनि-विरोधी भट्टनायक और महिम भट्ट ने व्यंजना पर आघात किया, फिर भी व्यंजना की सत्ता बनी रही। व्यंजना का नामकरण भले ही ध्वनिकार ने किया हो, किन्तु यह पर्यायोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति जैसे अलंकारों में पहले से ही

विद्यमान थी। उदाहरण के लिए 'न स संकुचित पंथा येन बाली हतो गत.' अभिधा से इसका अर्थ है कि 'वह मार्ग संकुचित नही, जिससे बाली मरकर गया', किन्तु इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि 'जिस प्रकार बाली मारा गया, उस प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो।' द्वितीय अर्थ का आधार व्यंजना है।

भरत मुनि के अनुसार रस वाच्य नही होता, उसकी प्रतीति होती है। यह प्रतीति उक्ति के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से होती है, जिसे व्यंजना अथवा ध्वनन कहते है। इसी आधार पर ध्वनिकार ने उसे रस न मानकर रस-ध्वनि माना है। रस संवेद्य है, पर साधारण भाषा के द्वारा रस को सवेद्य नही बनाया जा सकता। उसके लिए भाषा-विशेष का प्रयोग किया जाता है, जिससे अर्थ के साथ-साथ कल्पना भी जाग्रत होती है। ध्वनिकार ने इस कल्पना को व्यंजना शक्ति, और रस के सवेद्य रूप को रसध्वनि कहा है। इस प्रकार ध्वनिकार ने कल्पना-तत्त्व को महत्त्व प्रदान किया है।

आनन्दवर्द्धन ने अन्य सम्प्रदायो का भी समावेश ध्वनि-सिद्धान्त मे कर लिया है। उनके अनुसार रस की भाँति रीति, अलंकार, वक्रता आदि व्यंग्य ही होते है, ये प्रत्यक्ष रूप से मन को आह्लाद नही पहुँचाते, अपितु ध्वनि का उपकार करते हुए अपना महत्त्व रखते है, पर ध्वनि से भिन्न होकर ये निरर्थक सिद्ध होते है। गुण का सम्बन्ध चित्त की दीप्ति, द्रुति आदि से है। ये काव्य की आत्मा से सम्बद्ध है। अलंकारो का भी सम्बन्ध शब्द और अर्थ से है। जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा को बढ़ाते है, उसी प्रकार अलंकार काव्यात्मा के सौदर्य को।

औचित्य-सम्प्रदाय

छठा सम्प्रदाय औचित्यवाद है। वास्तव मे इसे समन्वयवादी सम्प्रदाय भी कह सकते है। उपर्युक्त पाँचो सम्प्रदायो को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, जिनमे से एक शरीर को महत्त्व देता है और दूसरा आत्मा को। रस और ध्वनि आत्मवादी है; अलंकार, रीति और वक्रोक्ति शरीरवादी है। शरीर और आत्मा दोनों का ही अपना-अपना महत्त्व है। बिना शरीर के आत्मा का अस्तित्व मानना कठिन है, और बिना आत्मा के शरीर का कोई महत्त्व नही। अत. उक्ति का सौदर्य भाव-सौदर्य से, और भाव-सौदर्य का उक्ति-सौदर्य से सर्वथा भिन्न नही; ये एक-दूसरे के विरोधी नही, अपितु अन्योन्याश्रित है।

औचित्यवाद के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र है, यद्यपि भरत मुनि ने भी नाट्य-शास्त्र मे औचित्य का निर्देश इस प्रकार किया है—

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनियिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥

अर्थात् जो वेश अदेशज है, वह शोभा को उत्पन्न नही करेगा, यथा मेखला को वक्षस्थल पर धारण करना उपहासास्पद होता है। भरत मुनि के पश्चात् ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धनाचार्य का भी औचित्य की महत्ता पर यह लेख है—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।। ३, १७ ।।

अत स्पष्ट है कि रस-भग का कारण अनौचित्य है । आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'औचित्य विचार चर्चा' मे 'औचित्य' पर विस्तार से विशेष प्रकाश डाला है । उनके अनुसार काव्य की आत्मा औचित्य है । औचित्य की परिभाषा इस प्रकार है— औचित्य रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।। १, ५

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भाव स्तदौचित्यं प्रचक्षते ।।७।।

जो जिसके अनुरूप हो, उसे 'उचित' कहते है और 'उचित' का भाव औचित्य कहलाता है । औचित्य के प्रभाव मे कविता हास्यास्पद हो जाती है, यथाः यदि कोई व्यक्ति गले मे तगडी, कमर मे हार, हाथों मे पायजेब और पैरों में केयूर पहन ले तो देखने वालों को हँसी आ ही जायगी । शौर्य-प्रदर्शन करने के अवसर पर यदि कोई शत्रु पर करुणा का भाव प्रदर्शित करे तो वह सहानुभूति का पात्र न होकर हास्य का पात्र हो जायगा ।

क्षेमेन्द्र किसी एक काव्य-तत्त्व पर आग्रह नही करते है । उनके विचार से यथोचित मात्रा में छन्द, रस, अलंकार, ध्वनि, प्रकरण, वस्तु, क्रिया, विशेषण, संज्ञा सर्वनाम आदि सभी होने चाहिएँ, तभी काव्य आनन्दकारी हो सकता है। उनके अनुसार पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशीर्वचन तथा अन्य काव्याङ्गो मे 'औचित्य' जीवित रूप से व्याप्त रहता है ।

काव्यांग

काव्य-सम्प्रदायो के सिहावलोकन के पश्चात् यह उचित प्रतीत होता है कि अलंकार, छन्द, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और रस की चर्चा कुछ अधिक गम्भीरता से की जाय। यद्यपि ऐसा करने मे पिष्टपेषण की आशका है, तथापि विषय-विशदता के निमित्त वह वाञ्छनीय भी है।

[क] अलंकार

व्युत्पत्ति और परिभाषा

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है : अलम्+कृ+घञ्। इसका अर्थ है आभूषण। वैयाकरण इसको इस प्रकार से समझाते है—'अलंकरोतीति अलकार.' अर्थात् वह, जो सुशोभित करता है, अलकार है। इसी को कर्मवाच्य मे इस प्रकार कहा जा सकता है—'अलक्रियतेऽनेनेत्यलंकार' अर्थात् वह, जिसके द्वारा शोभा होती है अलकार कहलाता है। अलंकार शब्द की व्याख्या एक और प्रकार से भी सभव है—यह वह है, जिसके कारण द्रष्टा या पाठक 'अलं-अल' अर्थात् 'बस-बस' करने लगता है। मन की यह अवस्था हर्षोल्लास के कारण होती है। भामह के अनुसार 'शब्द और अर्थ की वक्रोक्ति ही वाणी का अलंकार है' (१, ३६)।

डॉ० नगेन्द्र अलंकार की दो प्रतिनिधि परिभाषाओं की ओर ध्यान आकर्षित करते है। पहली परिभाषा दण्डी की है। वे कहते है : 'काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।' इस कथन का तात्पर्य है कि अलकार वे धर्म है जो काव्य की शोभा करते है। दूसरी परिभाषा है विश्वनाथ की। वे 'साहित्य दर्पण' मे कहते है कि 'शोभा को अतिशयित करने वाले, रस, भाव आदि के उपकारक जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म है, वे केयूर आदि की भाँति अलंकार कहलाते है। दण्डी की परिभाषा से प्रतीत होता है कि अलंकार सहज गुण है और काव्य का सौन्दर्य उन्ही पर निर्भर है, किन्तु विश्वनाथ की परिभाषा से अलंकार की महिमा कम हो जाती है; उनके अनुसार 'अलंकार' काव्य का अस्थिर धर्म है। वह 'शोभा की सृष्टि नही करता, केवल वृद्धि करता है और वह रस का सहायक है।

चमत्कार और काव्य

'उक्ति के चमत्कार का नाम अलंकार है'— पर इन दोनों का क्या सम्बन्ध है ? इस विषय में डॉ० नगेन्द्र दो प्रश्न उठाते है । १. क्या प्रत्येक उक्ति अलंकार काव्य है ? २ क्या काव्य मे उक्ति-चमत्कार अनिवार्य है ? तार्किक वाक्य में, ये प्रश्न इस प्रकार उपस्थित किये जा सकते है १. क्या सभी उक्ति-चमत्कार काव्य है ? २ क्या सभी काव्य उक्ति-चमत्कार है ?

अलंकारवादी दोनो प्रश्नो का उत्तर 'हाँ' मे देते है, किन्तु रसवादी दोनो का उत्तर 'नही' मे देते है । डॉ० नगेन्द्र पहले प्रश्न के सम्बन्ध मे रसवादियों से सहमत है; क्योकि वे समझते है कि 'चमत्कार' की मूल-वृत्ति तो 'कुतूहल' है, किन्तु काव्य की मूल-वृत्ति कुतूहल नही । काव्यानन्द का सम्बन्ध तो वासनाओ की उद्‌बुद्धि अथवा भावो की झंकृति से है, अतएव चमत्कार अनिवार्य नही । दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध मे डा० नगेन्द्र रसवादियो के उत्तर से अधिक सन्तुष्ट नही; क्योंकि, उनके अनुसार अलंकार का आधार वक्रोक्ति है, जिसे भामह और कुन्तक ने काव्य के लिए अनिवार्य माना है । डा० नगेन्द्र समझते है कि काव्य के लिए रमणीय भाव अनिवार्य है और भाव की रमणीयता उक्ति की रमणीयता (वक्रोक्ति) के बिना अकल्पनीय है । अलंकार रस को तीव्रतर बनाता और वस्तु के चित्रण मे रमणीयता को उत्पन्न करता है । अतएव रस और वस्तु दोनो अलंकार्य है, अर्थात् वे जिनका अलकरण अलंकार के द्वारा किया जाय । अलकार केवल साधन है । अलंकार्य और अलकार का भेद केवल व्यावहारिक है, क्योकि वस्तुत गिरा और अर्थ की सपृक्ति जल और वीचि के, अथवा शिव और पार्वती के अर्द्धनारीश्वर रूप के, सदृश अविभाज्य है ।

अलंकार-सम्प्रदाय

भरत ने केवल चार अलंकारों का निरूपण किया है—उपमा, रूपक, दीपक और यमक । भट्टिकाव्य मे अडतीस अलंकारो का उल्लेख किया गया है और इस सख्या को भामह ने स्वीकार किया है । भामह का 'काव्यालकार' कदाचित् वह सर्वप्रथम ग्रन्थ है, जिसमें अलंकार का क्रमबद्ध और वैज्ञानिक विवेचन उपस्थित किया गया है । उनके अनुसार काव्य का प्राण अलंकार है और अलंकार का प्राण वक्रोक्ति है । इसी से उन्होंने रस और भाव की स्वतन्त्र सत्ता नही मानी, किन्तु उनका समावेश रसवत्, ऊर्जस्वित आदि अलंकारों मे कर लिया है । दण्डी ने अलंकार को काव्य का शोभाकारी और शाश्वत धर्म माना है और उनकी संख्या अड़तीस न मानकर पैंतीस ही मानी है; उन्होंने भामह-प्रदत्त अलंकारों में हेर-फेर किया है और 'अतिशय' को अलंकार की आत्मा माना है । दण्डी ने अलंकार के साथ गुण और रीति की भी

प्रतिष्ठा की है। अतएव वे भामह की अपेक्षा अधिक उदार है। उद्भट ने 'भामह-विवरण' में अलंकार के सिद्धान्तों की बडी सूक्ष्म और समृद्ध व्याख्या की है। उन्होने अलकारों की संख्या इकतालीस मानी है। अलंकार-सम्प्रदाय के सर्व-प्रमुख आचार्य रुद्रट हैं, जिन्होंने अलंकारों की संख्या पचास से ऊपर दी है। उनकी यह विशेषता है कि उन्होंने अलंकारो का वर्गीकरण वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार के आधार पर किया है। भामह ने रस और भाव को अलंकार के अन्तर्गत माना था, किन्तु रुद्रट ने रसवत् आदि कुछ अलंकारों को स्पष्टत· अस्वीकार किया है। रुद्रट के पश्चात् ध्वनिवादियों ने ध्वनि को काव्य की आत्मा, और ऐसे काव्य को अधम, माना जिसमें व्यंग्यार्थ न हो, उनके अनुसार अलकार काव्य का अनिवार्य अंग नही, वह तो रस और ध्वनि का सहायक ही हो सकता है। इसी कारण मम्मट ने काव्य की परिभाषा में अलंकार को अनिवार्य न मानते हुए ये शब्द और जोड़ दिये – 'अनलकृती पुनः क्वापि'। उनके अनुसार अलकारो की संख्या सत्तर है, जिनमे आठ शब्दालंकार और बासठ अर्थालंकार है। रुय्यक ने 'अलंकार सर्वस्व' मे अलकारो के वर्गीकरण के निमित्त रुद्रट-प्रदत्त आधारों के स्थान पर निम्नलिखित वर्गो का सुझाव दिया : सादृश्य-गर्भ, विरोध-गर्भ, शृंखला-बद्ध, न्यायमूल, गूढार्थ प्रतीति मूल और सकर। विश्वनाथ के अनुसार काव्य में अलकारो का स्थान वही समझना चाहिए जो किसी मनुष्य के शरीर मे कनककुण्डल आदि का। मम्मट और विश्वनाथ दोनो ने अलंकार-सम्प्रदाय की जड हिला दी, जिसे जयदेव, विद्याधर, अप्पय दीक्षित आदि विद्वान् भी सुदृढ न कर सके। हिन्दी मे केशवदास ने अलंकार की प्रतिष्ठा की और कुछ अन्य कवियो ने भी अलकारो की महिमा गायी, किन्तु रीति-कालीन काव्य मे भी रस ही की प्रधानता रही।

यूरोपीय अलंकार-शास्त्र

यूरोप में अलंकार-शास्त्र का जन्म भी यूनान मे हुआ। 'रेट्रिक' शब्द का प्रयोग भाषण-कला में श्रोता को प्रभावित करने के निमित्त होता था। वे विधियाँ जिनका प्रयोग इस प्रकार के प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए किया जाता था, अलंकार कहलाती थी।

यूरोपीय अलंकार के तीन वर्गाधार है—शब्द-विन्यास, वाक्य-विन्यास और अर्थ-विन्यास। कुछ पश्चिमी अलंकार ये है : सिमिलि=उपमा, मैटाफ़र=रूपक, फ़ेबिल, पैराबिल और ऐलेगरी को अन्योक्ति और रूपक का ही रूप समझा जा सकता है, यद्यपि वे शुद्ध अलंकार नही। ऑक्सिमोरन=विरोधाभास, हाइपर बोल=अतिशयोक्ति; सार=क्लाइमैक्स; यूफिमिज्म, पैरिफ्रेसिस; =वक्रता, आक्षेप और पर्याय;

इनुएंडो = गूढोक्ति; आयरनी एव सैरकैज्म = काकु, पन = श्लेष और यमक। ज्यूगमा = दीपक।

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार भारत और यूरोप के अलंकार-शास्त्रों में मुख्य अन्तर यह है कि यहाँ शब्द-शक्तियो का विवेचन अलकार से अलग मिलता है, किन्तु वहाँ लक्षणा और व्यंजना का समावेश अलंकार मे हो गया है। मैटोनोमी का प्रयोग लिङ्ग-लिङ्गी, आधाराधेय और कर्तृ-कारण के लिए होता है, सिनकडकी सामान्य-विशेष, जाति-व्यक्ति, अंगाङ्गी, मूर्त्तामूर्त्त आदि सम्बन्धो का द्योतक है। हाइपैलेज मे विशेषण का विपर्यय और परसोनिफिकेशन मे जड वस्तुओ या गुणो का मानवीकरण होता है। भारतीय अलंकार-शास्त्र मे इनके लिए पर्याय नही, पर इनका समावेश लक्षणा मे हो जाता है। योरोप मे व्यग्य को अलकार माना गया है, किन्तु भारत मे उसे शब्द-शक्ति समझा गया है। अग्रेजी अलंकारो की सख्या हिन्दी या सस्कृत के अलंकारों की अपेक्षा बहुत कम है। स्पष्टत भारत मे अलकारो का विवेचन कही अधिक और सूक्ष्म हुआ है।

अलंकार और रस

विश्वनाथ ने अलकार को रस का उपकर्त्ता माना है। अतएव अलकार रस का सहायक मात्र है। यह सहायता इस प्रकार होती है कि अलकार हमारे भावो को उद्दीप्त कर उन्हे पूर्ण अन्विति के लिए प्रस्तुत करता है। डा० नगेन्द्र ने इस अन्विति पर इस प्रकार प्रकाश डाला है यद्यपि साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार ये छः अलकार के स्पष्ट आधार है, तथापि इनमे से पाँचों का समावेश 'अतिशय' मे हो जाता है। साधर्म्य-मूलक अलकार के द्वारा हम अपने कथन को स्पष्ट करते है और यह स्पष्टता श्रोता की मनोवृत्तियो को अन्वित करती है। किसी सुन्दरी के मुख को चन्द्रमा की उपमा क्यो देते है ? इस कारण कि चन्द्रमा सुन्दरता का प्रतीक है, जो हमारे विचार-भावो का प्रतिनिधित्व श्रोता के हृदय के लिए करता है। सौन्दर्य के उक्त प्रतीक मे लोकातिशयता स्पष्ट है। विषमता-मूलक अलकार श्रोता को आश्चर्यचकित करके विविधता मे एकता लाकर मनोभावो का सामञ्जस्य करता है। कोई भावुक अपनी प्रेयसी की आँखो से प्रभावित होकर कहता है कि इसकी आँखों का लावण्य मीठा लगता है। 'लावण्य' शब्द के दो अर्थ है सुन्दरता और नमकीनपन, किन्तु मिठास नमकीन नही होती। अतएव तुरन्त ही श्रोता का ध्यान 'लावण्य' के दूसरे अर्थ पर जाता है और तज्जन्य विरोधाभास से मनोभावों की अन्विति मे सहायक होता है। औचित्य-मूलक अलंकारो में स्पष्टत. समन्वयात्मक भावना रहती है। वक्रता-मूलक अलकार जिज्ञासा को उभारते है। वक्रता मे एक

प्रकार का गोपन रहता है, जो प्रकाशन से अधिक चमत्कार पूर्ण होता है। सुन्दरी के मुख पर पडा हुआ आधा घूंघट उसके सौन्दर्य को अधिक जिज्ञासा-पूर्ण बना देता है। वृन्दावन मे बाँके-बिहारी जी की झाँकियाँ क्षण-क्षण मे पटाक्षेप के द्वारा रोक दी जाती है, जिससे दर्शन की उत्सुकता बनी रहे। चमत्कारक मूलक अलकार मे बुद्धि के व्यायाम से रसानुभूति मे योगदान होता है। अन्त मे कहा जा सकता है कि 'अतिशय' के कारण अलंकार मनोवृत्तियों को उद्दीप्त करता, उनमे सामञ्जस्य उत्पन्न करता और रसानुभूति मे योग देता है।

मनोवैज्ञानिक आधार

भामह ने वक्रोक्ति को, दण्डी ने अतिशयोक्ति तथा श्लेष को और वामन ने औपम्य को अलकारों का मूलाधार माना है। रुद्रट ने अलंकारो का वर्ग-विभाजन किया जिसके चार आधार माने है—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। रुय्यक ने छ आधार माने है : औपम्य, विरोध, शृंखला, न्याय, गूढार्थ, प्रतिपत्ति और संकर। डॉ० दे के अनुसार इन वर्गीकरणो मे से कोई भी ठीक प्रतीत नही होता। आधुनिक युग मे सुब्रह्मण्यं शर्मा ने आठ आधार माने है—औपम्य, विरोध, कार्य-कारण, अपह्नव, शृंखला-वैचित्र्य, विशेषण-वैचित्र्य, कवि-समय। डॉ० नगेन्द्र उक्त शर्मा जी के अलकार-विभाजन को रुय्यक के विभाजन का रूपान्तर-मात्र मानते है। योरोप के आचार्यो ने भी अलंकारों के वर्गीकरण के लिए छः आधार माने है—साधर्म्य, सम्बन्ध, अन्तर, कल्पना, वक्रता और ध्वनि (नाद)। साधर्म्य के अन्तर्गत उपमा, रूपक, अन्योक्ति; कल्पना के अन्तर्गत अतिशयोक्ति, वक्रता के अन्तर्गत विरोधाभास; अन्तर के अन्तर्गत सार, और ध्वनि के अन्तर्गत यमक, अनुप्रास आदि माने गये है।

अलंकार की मूल प्रेरणा क्या है? इस सम्बन्ध मे विचार करते हुए डॉ० नगेन्द्र कहते है कि हमारी वाणी के अलंकृत होने का कारण भावोद्दीपन है, भावोद्दीपन का कारण है मन का ओज, मन के ओज का सहज माध्यम है आवेग, और आवेग का सहज माध्यम है अतिशयोक्ति। वे समझते है कि भामह की 'वक्रता' और दण्डी की 'अतिशयता' दोनों में 'लोकाक्रान्त गोचरता' विद्यमान है। अतएव अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति को अलंकार-सर्वस्व अथवा उसकी मूल-प्रेरणा माना जा सकता है, जिसका व्यावहारिक रूप है प्रभावोत्पादन। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार अलंकारों के मनोवैज्ञानिक आधार छः है—स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कुतूहल। इनके मूर्त्तरूप क्रमशः ये है—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार। और इन छहों में से केवल तीन ऐसे आधार है, जो वास्तव में अपने व्यापक रूप में समस्त

अलंकारों के मूलवर्त्ती है; वे है : अतिशय अर्थात् लम्बी-चौड़ी बात करना; वक्रता अर्थात् घुमा-फिराकर कहना; और चमत्कार अर्थात् बुद्धि-कौतुक ।

मेरी धारणाएँ

आधुनिक मनोविज्ञान तीन प्रकार के विचार-सम्बन्ध मानता है : निकटता (कटिग्युटी), सादृश्य (साम्य, सिमिलैरिटी), विरोध (वैषम्य, कंट्रास्ट) । डॉ० श्यामसुन्दरदास ने ऐसा सुझाव दिया है कि अलंकारो के ये तीन आधार है, यद्यपि उनके अनुसार सभी अलकारो का समावेश इन तीनों मे नही किया जा सकता । मेरी कल्पना है कि अलकारो का सीधा सम्बन्ध 'विचार' से है, और 'सवेग' से अपेक्षाकृत कम । 'भाव' शब्द का प्रयोग दो अर्थो मे किया जाता है ' विचार' अर्थात् थॉट, और भाव अर्थात् फीलिङ् । काव्य के दो माध्यम है—शब्द और अर्थ, और अर्थ मे विचार और संवेग की संपृक्ति है, यों तो प्रत्येक मानस-व्यापार मे तीनो तत्त्व विद्यमान रहते है—सवेदन, संवेग और संकल्प । पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के चार तत्त्व है भाव, बुद्धि, कल्पना और शैली । स्पष्टत शैली का सम्बन्ध शब्द से है । भाव का फीलिङ् से, कल्पना का इमेजिनेशन और थॉट से, और बुद्धि अथवा औचित्य का संकल्प से । मैं ऐसा समझता हूँ कि अलंकार का सम्बन्ध कल्पना अथवा विचार से है । अलकार के द्वारा विचारों का आवाहन किया जाता है और उन्हे औचित्य के द्वारा एक सूत्रता मे ग्रथित भी । इस प्रकार अलकार-जन्य सामञ्जस्य से अर्थ मे चमत्कार उत्पन्न होता है और भाव-जन्य रस से रमणीयता । विद्वानो मे सदा मतभेद रहा है कि अमुक अलकार को अलंकार माने या नही, अतएव उनके पुन वर्गीकरण की आवश्यकता है । मैं समझता हूँ कि कार्य-कारण सम्बन्धी कुछ अलकार तो साम्य और कुछ वैषम्य के अन्तर्गत आ सकते है । साधर्म्य और अतिशय का समावेश 'साम्य' (सदृशता) मे और वैषम्य और वक्रता का समावेश 'वैषम्य' (विरोध) मे किया जा सकता है । औचित्य तो मन की सकल्पात्मक शक्ति है, जो अन्विति के रूप में काव्य के सभी अंगो मे विद्यमान रहता है । चमत्कार को अलकार का परिणाम माना जा सकता है ।

[ख] छन्द

व्युत्पत्ति और अर्थ

छादयन्ति ह वा एन छन्दांसि (ऐतरेय १,६,१)

आचार्य यास्क ने भी निरुक्त मे लिखा है : 'छन्दांसि छादनात्' । 'छन्द' शब्द 'छद्' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है : प्रसन्न करना, फुसलाना, आच्छादन करना,

बाँधना। कुछ कोशों में व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार है : छन्द=छन्द्+घञ्; छन्दस्=छन्द्+असुन्। पहली व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ है : इच्छा, कामना, अभिलाषा, अभिप्राय, वश मे करना, विष; दूसरी के अनुसार अर्थ है : कामना, अभिलाषा, स्वेच्छाचार, उद्देश्य, अभिप्राय, चालाकी, धोखा, वृत्त, पद्य। 'छन्द' शब्द वेद का पर्याय भी है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त मे लिखा है : छन्दासि जज्ञिरे तस्मात् १०,९०,९।

अक्षर, मात्रा, अक्षर-संख्या-क्रम, मात्रा-गणना, यति-गति आदि के नियमो से युक्त पद्य-रचना को छन्द कहते हैं। दूसरे शब्दो में, वर्ण या मात्रा की गणना के अनुसार पद अथवा वाक्य की नियोजना को छन्द कहते है और छन्द शास्त्र वह विद्या है, जिसमे छन्दों के लक्षण आदि का सोदाहरण विचार किया जाता है। छन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध लय से और लय का यति-गति तथा स्वर के आरोहावरोह से है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छन्द की परिभाषा इस प्रकार दी है 'छन्द वास्तव में बँधी हुई लय के भिन्न-भिन्न ढाँचो का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है'।

उत्पत्ति

'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे' इस वचन से स्पष्ट है कि वाणी से ही ससार की सृष्टि हुई है। वाक् के चार रूप बताये गये है—परा, पश्यन्ति, मध्यमा और बैखरी। इनमे से प्रथम तीनो की स्थिति कण्ठ के नीचे है, अतएव इन तीनो को हम अपने कानों से नही सुनते, किन्तु योग-साधना के द्वारा उनका अनुभव सम्भव है। वाक् का स्पष्ट रूप बैखरी है, जिसका नियन्त्रण माहेश्वर सूत्रो मे उपलब्ध है। भारतीय छन्द शास्त्र का स्रोत वैदिक साहित्य मे विद्यमान है और वेद के छ. अगों में उसका स्थान है। वे अंग है : शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। ऋग्वेद और यजुर्वेद की कतिपय अनुक्रमणियो में तथा अन्य वैदिक साहित्य मे वैदिक छन्दों का विवरण उपलब्ध है। किन्तु छन्दशास्त्र को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप पिगलाचार्य के 'छन्द सूत्र' मे मिला है। ये आचार्य ईसा से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व विद्यमान थे, ऐसा विद्वानो का अनुमान है। अग्नि पुराण मे छन्द की चर्चा है। कालिदास का 'श्रुतबोध', क्षेमेन्द्र का 'सुवृत्त तिलक', केदारभट्ट का 'वृत्तरत्नाकर' और हिन्दी में जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का 'छन्द प्रभाकर' विशेष उल्लेखनीय हैं। छन्द वेदों के चरण है : 'छन्दः पादौ तु वेदस्य'।

प्रकार

पिङ्गलाचार्य के 'छन्दः सूत्र' में मात्राछन्द, वर्णवृत्त, दण्डक आदि छन्द के भेद दिये गये है। उसके अष्टम अध्याय मे, जो कदाचित् प्रक्षिप्त है, गाथा-छन्दों का भी समावेश है। 'छन्द-हीन' कविता मे छन्द का सर्वथा अभाव रहता है, किन्तु 'मुक्त छन्द'

मूल रूप से रहता है, परन्तु उसकी प्रकृति मुक्त रहती है। 'अज्ञेय जी' के अनुसार इन दोनों के बीच की स्थिति का द्योतक 'छन्द-मुक्त' होता है। अतएव 'छन्द-मुक्त' वे कविताएँ है, जो स्पष्ट रूप से न तो छन्द-युक्त है और न छन्द-हीन ही।

काव्य-शास्त्र में छन्द का स्थान

काव्य-गुणो के साथ छन्द का प्रायः उल्लेख नही होता। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने इसके दो कारण बताये है। प्रथमत. छन्दों की सख्या इतनी अधिक है कि उनका निरूपण ही काव्य-शास्त्र के अन्य सब निरूपणो से अधिक स्थान ले लेता है। द्वितीयत· छन्द काव्य-शास्त्र का आवश्यक अंग नही, क्योंकि रीति, गुण और शब्दालंकारों के द्वारा संगीत अथवा राग की जितनी साधना काव्य मे है, उससे अधिक साधना की आवश्यकता प्रतीत नही होती। इसका विशेष कारण, जैसा कि डॉ० दास स्पष्ट करते है, यह है कि काव्य तो 'शब्द' की साधना है और सगीत 'स्वर' की। अतएव ऐसी आशङ्का है कि स्वर-साधना के योग से काव्य-कला की विशेषता तिरोहित हो जाय। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि जो तत्त्व सहायक-मात्र है, उसे प्रधानता प्रदान करने से कविता का निजीपन नष्ट हो सकता है।

छन्द-महिमा

काव्य-साहित्य मे छन्द की बडी महिमा रही है। इसके अनेक कारण है। प्रथमत काव्य श्रव्य-कला है और सगीत भी श्रव्य-कला है। इस नाते काव्य और सगीत का पारस्परिक सम्बन्ध है और इसी सम्बन्ध को सुदृढ करने के लिए कविता मे छन्द की आवश्यकता है। द्वितीयत मानव जीवन मे और प्रकृति मे भी सगीत की व्यापकता है। अनहद-नाद को कबीर जैसे रहस्यवादी, परमाणुओ के संगीत को चन्द्रशेखर वेकटरमण जैसे विज्ञानी, तथा मन्द-मन्द वायु पक्षि-कलरव और समुद्र के गर्जन के सगीत को तत्त्वदर्शी सुन सकते है। तृतीयत जैसा कि इतिहासकारो और मानवशास्त्रियो का मत है, कविता और सगीत का सम्बन्ध बहुत पुराना और स्थायी है, क्योकि सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य के वे भाव संगीतमयी भाषा में व्यक्त हुए है, जो अधिकाश में गम्भीर और मार्मिक है। चतुर्थत छन्द के मिठास और आनन्द से मनोभावो को तीव्रता उपलब्ध होती है और कल्पना को प्रोत्साहन मिलता है। मादक द्रव्यों के सेवन से उत्पन्न जो सुखमयी प्रतीति होती है, उससे भी अधिक आनन्दमय काव्य का संगीत होता है। संगीतमय अलौकिक काव्य कितना आह्लादकारी होता है उसे तो कवि, भावुक और भावक ही समझ सकते है। पंचमत गद्य और पद्य दोनों का अस्तित्व वर्तमान काल मे है। किन्तु इस बात का निषेध नही किया जा सकता कि भूतकाल से वर्तमान तक पद्य का साक्ष्य मिलता है।

कॉलरिज ने छन्द के अनेकविध प्रभाव को व्यक्त किया है। उनके अनुसार, प्रथमतः छन्द का उद्गम उस स्वाभाविक स्फूर्ति से है जो मन में सन्तुलन को उत्पन्न करती और भावना के ज्वार को सयत रखने में तत्पर रहती है। द्वितीयत छन्द की यह प्रवृति है कि वह सामान्य भावनाओ को और मनोयोग को (अर्थात् अवधान को) अधिक ग्रहणशील और प्रबलतर बनाता है। छन्द का यह प्रभाव विस्मय के सतत उद्दीपन से तथा उस जिज्ञासा के परिवर्तन से, जो शान्त हो-होकर पुन. उद्दीप्त हो उठती है, उत्पन्न होता है। तृतीयत छन्द ही कविता का उचित परिच्छद है, जिसके बिना कविता अपूर्ण और सदोष रह जाती है। चतुर्थतः छन्द सघठन मे भी सहायक होता है, क्योकि इसके द्वारा 'किसी सघटित इकाई के विविध अंग और उसके अधिक महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य अगो से सम्बन्ध' स्थापित होता है।

छन्द-निरपेक्षा

छन्द की उपेक्षा करने वाले भी अनेक विचारक है। अमेरिका के आधुनिक कवि ह्विटमैन छन्दहीन कविता करने वालो मे विशेष प्रसिद्ध है। छन्दहीन कविता की प्रवृत्ति विदेश से, बङ्गाल होती हुई, भारत मे प्रविष्ट हुई, जिसे कुछ तो छाया-वादियो ने, किन्तु विशेष रूप से प्रगतिवादियो और प्रयोगवादियों ने नयी कविता के रूप में अपनाया है। छन्दहीन कविता के चरण या तो रबड की भाँति इच्छानुसार घटाये-बढाये जा सकते है या वे किसी ज्ञात वृत्त-जाति से शून्य होते है। पर उनमे भी किसी न किसी प्रकार की लय तो विद्यमान रहती है। राजशेखर के 'काव्यपुरुष' से विदित होता है कि पद्य से पहले गद्य था। डॉ० श्यामसुन्दरदास बताते है कि 'नवीनता-वादियों का कथन है कि संसार की आदिम भाषा सगीतमय अवश्य होगी'। परन्तु मनुष्य ने जब विकास किया, तब उसने छन्दहीन भाषा बनायी और वह छन्द की भाषा को अविकसित मानता है। वर्तमान काल मे अधिकाश काव्य-साहित्य गद्य में प्रकाशित हो रहा है, और यह आशा करना अनुचित न होगा कि भविष्य मे गद्य का ही अधिकाधिक प्रयोग किया जायगा। छन्दहीन कविता नवीन-युग में उत्पन्न हुई है। अब उसकी निरन्तर प्रगति होगी और अन्त मे हमारा सम्पूर्ण काव्य गद्य की भाषा द्वारा ही प्रकाशित होने लगे तो कोई आश्चर्य नहीं।'

गद्य-पद्य-भेद

यद्यपि कॉलरिज के अनुसार 'गद्य की भाषा तथा छन्दोबद्ध रचना की भाषा में तात्त्विक भेद हो सकता है, होता है और होना चाहिए,' तथापि हमारी विनीत मति में कवित्व के गद्य-पद्य नामक भेदों को तात्त्विक न मानकर प्रातिभासिक मानना अधिक उचित होगा। प्रत्येक नाद संगीतमय है, यद्यपि उसके संगीत में तारतम्य हो सकता

है। मानव-मन त्रिगुणात्मक है; वह संवित्, सवेग और संकल्प से संयुक्त है। यह बात-अवश्य है कि इन गुणो मे तारतम्य बना रहता है। संवेग-वायु की अधिकता से मानस सागर में छन्दोर्मियो की प्रतीति अधिक स्पष्ट होती है। यदि विकास का अर्थ यह है कि मनुष्य की एक नासिका से, सुदूर भविष्य मे, पाँच नासिकाएँ विकसित हो जायँगी, मानव स्वभाव कुछ और ही प्रकार का हो जायगा, अथवा काम, क्रोध, मोह आदि की सत्ता ही न रहेगी, तब तो आगे किसी विचार की आवश्यकता नही। किन्तु जब तक मानव के स्वभाव और संवेगों मे ऐसा कोई आमूल परिवर्तन नही होता, तब तक संगीत के नितान्त नाश की कोई सम्भावना नही। मानव-स्वभाव का उन्नयन सम्भव है, किन्तु उसका उन्मूलन कल्पनातीत है। यदि आज का मनुष्य सुसंस्कृत और ज्ञान-विज्ञान की ओर प्रवृत्त है, तो वह कोमल भावनाओं के परिपोषण और अभिव्यंजन की ओर भी उन्मुख है। विज्ञान का और कला का कोई विरोध नही। वे एक-दूसरे के पूरक है, दोनो ही जीवन को सुखी बनाने के लिए भिन्न रूप है। क्या गद्य और पद्य में वास्तविक भेद है ? एक वाक्य लीजिए : 'सुषमा लड्डू खायेगी' और सोचिये कि शब्द-विन्यास गद्य है या पद्य ? स्यात् गद्य। पर इस समष्टि मे कि 'सुषमा लड्डू खायेगी, खाकर घर को जायेगी' संगीत की झलक है।

निष्कर्ष

जो हो, कविता और संगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनेक दृष्टियों से कविता मे उसका उपयोग होता है। डॉ०गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार छन्दो का नवविध उपयोग है, अर्थात् भावो की अभिव्यक्ति को स्पष्टतर और तीव्रतर करने के लिए, भावों की विरलता मे एक-सूत्रता की स्थापना के लिए, सजीवता लाने के लिए, रमणीयता और सुन्दरता की अभिवृद्धि के लिए, रचना को प्रभावोत्पादिका बनाने के लिए, रस-निष्पत्ति मे योगदान के लिए, प्रेषणीयता की उपलब्धि के लिए, कवि के कवित्व की प्रतिष्ठा के लिए एव उक्ति मे पवित्रता की प्राप्ति के लिए। कदाचित् ऐसे ही कुछ कारणो से कविता को जॉनसन ने 'पद्यमय निबन्ध' और कार्लायल ने 'संगीतमय विचार' बताया है।

[घ] वक्रोक्ति

व्युत्पत्ति और अर्थ

वक्रोक्ति=वक्र+उक्ति, वक्र=वङ्क+रन्। 'वक्र' शब्द का कोशार्थ है : टेढ़ा, बाँका, बेईमान। इसी सम्बन्ध में 'वक' या 'बक' का ध्यान आ जाता है, जिसका अर्थ है बगुला, ढोगी, छलिया। अतएव जिस उक्ति मे वक्रता हो, उसे वक्रोति कहते है, अथवा वह उक्ति जिसमे और का और अर्थ किया जाता है। यह अर्थ सीधे-सादे

(सरल) अर्थ से भिन्न होता है। 'कादम्बरी' मे इस शब्द का प्रयोग 'परिहास-जल्पित' के अर्थ मे हुआ है। हिन्दी मे 'बाँका' शब्द का अर्थ 'बहादुर', 'वीर', 'छैला', और 'सुन्दर' भी है। अतएव वक्रोक्ति को सुन्दर, रमणीय अथवा चमत्कृत उक्ति भी कहा जा सकता है।

वक्रोक्ति-परम्परा

भामह ने 'वक्रोक्ति' को 'इष्टा वाचामलंकृतिः' कहा और उसे सब अलंकारों का आधार माना है। दण्डी ने उसे स्वभावोक्ति का विलोम और श्लेष-पोषित समझा। रुद्रट ने, तथा अन्य परवर्ती आचार्यों ने, उसे शब्दालङ्कार माना और केवल आचार्य वामन ने उसे अर्थालङ्कार समझा। परन्तु कुन्तक ने वक्रोक्ति को निरा अलंकार नही माना, उन्होने उसे 'वैदग्ध्य भगी भणिति' कहा, जिसमे शब्दालंकार, अर्थालंकार, प्रबन्ध-कौशल सभी अन्तर्भूत है। किन्तु कुन्तक के परवर्ती मम्मट आदि आचार्यो ने वक्रोक्ति को केवल शब्दालकार माना। कुन्तक के तुरन्त पश्चात् वक्रोक्ति-सम्प्रदाय समाप्त हो गया, क्योकि श्री पी बी काणे के अनुसार, यह सम्प्रदाय अलंकार सम्प्रदाय की ही एक शाखा थी।

वक्रोक्ति का रूप

कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'वैदग्ध्य भगी भणिति' कहा है। 'वैदग्ध्य' का अर्थ है 'काव्य-नैपुण्य' और 'भगी-भणिति' का अर्थ है 'भाषा का वक्र अथवा रमणीय प्रयोग'। अतएव वक्रोक्ति को कवि प्रतिभाजन्य उक्ति-चारुत्व कहा जा सकता है। कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेद माने है और उन छ भेदो मे से प्रत्येक भेद के वैचित्र्य से शोभित होने वाले अनेक भेद हो सकते है। प्रधान छः भेद ये है :—

१—वर्ण-विन्यास-वक्रता, जो यमक आदि अलकारो मे उपलब्ध है।

२—पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता।

३—पद-परार्द्ध अथवा प्रत्यय वक्रता।

४—वाक्य-वक्रता।

५—प्रकरण-वक्रता।

६—प्रबन्ध-वक्रता।

पद-पूर्वार्द्ध के भी अनेक भेद हुए है, यथा :—

(क) रूढ़ि-वक्रता, जिसमे शब्द का प्रयोग साधारण अभिधार्थ से भिन्न रूढ अर्थ मे होता है।

(ख) पर्याय-वक्रता।

(ग) विशेषण-वक्रता।

वक्रोक्ति के इस रूप से ये बाते स्पष्ट है कि प्रथमतः, वक्रोक्ति के लिए विचित्रता अनिवार्य है, अर्थात् उक्ति ऐसी होनी चाहिए जो साधारण न हो। द्वितीयतः, वक्रोक्ति की परिभाषा में सभी प्रकार का काव्य आ जाता है। यदि यह प्रश्न हो कि क्या स्वभावोक्तिपूर्ण काव्य भी वक्रोक्ति के अन्तर्गत हो सकता है? तो कुन्तक का उत्तर होगा कि हो सकता है; क्योंकि उनके अनुसार वस्तु के तत्त्वों का चयन कवि-दृष्टि से होना चाहिए, साधारण दृष्टि से नही। अर्थात् वर्णन का रूप केवल वस्तु का परिगणन न होकर कवि-व्यापार-जन्य होना चाहिए। तृतीयतः, ध्वनिवादी वक्रोक्ति को ध्वनि के अन्तर्गत समझते है और कुन्तक ध्वनि को ही वक्रोक्ति के अन्तर्गत मानते है। किन्तु यह भेद सिद्धान्त का है, व्यवहार का नही; क्योंकि, डॉ० नगेन्द्र के शब्दों मे, 'जहाँ रसत्व है, वहाँ कवि-व्यापार अनिवार्यतः वर्तमान होगा और जहाँ कवि-व्यापार होगा वहाँ वक्रोक्ति का अभाव कैसे हो सकता है? अतएव कुन्तक ने भी रस को महत्ता प्रदान की है। कुन्तक के अनुसार कवि-व्यापार त्रिविध है—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। इन तीनो की अभिव्यक्ति के लिए क्रमशः तीन मार्ग है, जिनके आधार गुण है। शक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम सुकुमार मार्ग है; व्युत्पत्ति की अभिव्यक्ति के लिए विचित्र मार्ग है; और अभ्यास की अभिव्यक्ति के लिए मध्यम मार्ग है। गुण दो प्रकार के हो सकते है—विशेष और सामान्य; प्रथम प्रकार के अन्तर्गत माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य है और द्वितीय के अन्तर्गत औचित्य तथा सौभाग्य है।

वक्रोक्ति के दो प्रश्न

ये प्रश्न है—(१) क्या सभी वक्रोक्ति काव्य है? और (२) क्या सभी काव्य वक्रता-पूर्ण है। पहले प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है। अन्यथा डॉ० नगेन्द्र के शब्दों मे, 'ऐसी उक्तियों को भी, जिनमे साधारण बौद्धिक चमत्कार के कारण एक प्रकार की वक्रता विद्यमान रहती है, काव्य मानना पडेगा।' बौद्धिक चमत्कार से वक्रता तो उत्पन्न हो सकती है, किन्तु यह आवश्यक नही कि उसमें सरसता भी हो। द्वितीय प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक है, क्योंकि कुन्तक की वक्रता का विरोध इतिवृत्तात्मकता से है, तीव्रता से नही, और कुन्तक ने निश्चय-पूर्वक रस को वक्रोक्ति के उपादान तत्त्वों में माना है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दो मे 'उक्ति की तीव्रता रस (या भाव) के आश्रित है और रस वक्रोक्ति के अन्तर्गत है; अत तीव्रता भी उसके अन्तर्गत हुई।' कुन्तक से डॉ० नगेन्द्र का मतभेद केवल क्रम-विषयक हो सकता है। कुन्तक का मत है कि वक्रता से आह्लाद उत्पन्न होता है; किन्तु, डॉ० नगेन्द्र कहते है कि आह्लाद से वक्रता

उत्पन्न होती है, अतएव यद्यपि वक्रोक्ति काव्य का अनिवार्य माध्यम है, तथापि वह काव्य की आत्मा नही ।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनवाद

(क) **साम्य** : प्रथमतः, क्रोचे और कुन्तक दोनो ही कला-काव्य को आत्मा की अनिर्वचनीय क्रिया मानते है अर्थात् ऐसी क्रिया जिसका वर्णन शब्दो के द्वारा नही हो सकता । द्वितीयतः, क्रोचे और कुन्तक दोनों ही के अनुसार वस्तु का इतना महत्त्व नही जितना अभिव्यंजना का है, क्योकि उनके अनुसार सौन्दर्य का निवास वस्तु या भाव में नहीं, उक्ति मे है । तृतीयत , न क्रोचे न कुन्तक ही सौन्दर्य की श्रेणियाँ मानते है, क्योंकि उनके अनुसार सफल अभिव्यजना का नाम सौन्दर्य है और सफल अभिव्यंजना भी केवल एक हो सकती है, अनेक नही ; अतएव कुन्तक ने रीतियों के उत्तम, मध्यम और अधम इन भेदों को नही माना । इसी प्रकार क्रोचे ने भी सौन्दर्य का तारतम्य स्वीकार नही किया, अर्थात् उनके अनुसार ऐसी शब्दावलियाँ असंगत हैं, यथा: अधिक सुन्दर या अधिक अभिव्यक्त । अभिव्यक्ति मे न्यूनाधिकता को स्वीकार करना अभिव्यक्ति को असफल बनाना है।

(ख) **वैषम्य** : कुन्तक का सम्बन्ध उक्ति-वक्रता से है, परन्तु क्रोचे का केवल उक्ति से है । वक्रोक्तिवाद साहित्य का एक वाद है; किन्तु अभिव्यजनावाद अभिव्यंजना का दर्शन है। यदि वक्रोक्ति कवि-कौशल है, तो अभिव्यंजना आध्यात्मिक आवश्यकता है । डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि वक्रोक्तिवाद मे वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति का अन्तर है; किन्तु अभिव्यञ्जनावाद मे ऐसा कोई अन्तर नही । अभिव्यंजनावाद में उक्ति का प्रकार केवल एक ही हो सकता है । द्वितीयतः, वक्रोक्ति मे अलकार के लिए गुंजाइश है, किन्तु अभिव्यञ्जनावाद मे अलंकार की सत्ता ही अमान्य है, क्योंकि यदि अलंकार कभी आ भी जाता है तो वह केवल सहज उक्ति के रूप मे । तृतीयतः, कुन्तक ने वस्तु की सत्ता उक्ति से पृथक् मानी है और उसने वस्तु के दो भेद, सहज और आहार्य, किये है । कुन्तक ने वक्रता के जो भेद प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता के नाम से किये है, उससे प्रतीत होता है कि वे वस्तु और कवि-कौशल को अलग-अलग मानते है । परन्तु क्रोचे वस्तु को उक्ति से अलग नही मानते । चतुर्थतः, वक्रोक्तिवाद में काव्य कला के मूर्त रूपो पर आधृत है, किन्तु अभिव्यञ्जनावाद में सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया ही सब कुछ है । पंचमतः, वक्रोक्ति का आधार कवि-कौशल है । इसलिए रस से उसका सम्बन्ध घनिष्ठ एवं अपरिहार्य नही । अतएव वक्रोक्ति चमत्कार-पूर्ण होने पर भी रसहीन हो सकती है, किन्तु अभिव्यञ्जनवाद का कोई तात्त्विक विरोध रसवाद से नही; उसकी अभिव्यक्ति सहजानुभूति पर आश्रित है ।

आचार्य शुक्ल और डॉ० नगेन्द्र

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त का तिरस्कार सरलता-पूर्वक कर देना चाहा ; किन्तु डॉ० नगेन्द्र के मत से ऐसा तिरस्कार सरल नही, क्योंकि शुक्लजी रसवादी है और कुन्तक की आस्था भी रस मे है। कुन्तक काव्य के आह्लाद को उक्ति-वक्रता-जन्य बताते है, परन्तु वास्तव मे आह्लाद के कारण उक्ति में वक्रता आती है। अतएव कुन्तक से रसवादियो का मतभेद केवल क्रम-विषयक हो सकता है।

शुक्ल जी ने 'अभिव्यजनावाद को वक्रोक्तिवाद का 'विलायती उत्थान' कह दिया है। डॉ० नगेन्द्र ने शुक्ल जी की इस धारणा का निराकरण करते हुए कुन्तक के वक्रोक्तिवाद और क्रोचे के अभिव्यजनावाद मे उपर्युक्त तीन साम्य और पाँच वैषम्यों को अभिव्यक्त किया है। स्पष्ट है कि उक्त दोनों वाद एक नही, भिन्न हैं। अतएव अभिव्यजनावाद को वक्रोक्तिवाद का 'विलायती उत्थान' कह देना ठीक नहीं।

उक्त दोनो वादो पर शुक्ल जी का प्रथम आक्षेप इस प्रकार है कि 'ये वाद अनुभूति या प्रभाव का विचार छोडकर केवल वाग्वैचित्र्य को लेकर चले है, पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गभीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नही, वह केवल कौतूहल उत्पन्न करता है।' डा० नगेन्द्र कहते है कि अभिव्यंजनावाद मे तो किसी वाग्वैचित्र्य की बात ही नही, उसमें तो केवल अभिव्यंजना की चर्चा है। वक्रोक्तिवाद मे निस्सन्देह वाग्वैचित्र्य की चर्चा है, किन्तु वह वैचित्र्य इतना व्यापक है कि उसमे सभी प्रकार की उक्ति-रमणीयता का समावेश हो जाता है। कुन्तक ने कुतूहल उत्पन्न करने वाले चमत्कार का त्याग तो नही किया, किन्तु उसे अत्यन्त हेय अवश्य माना है। वस्तुत कुन्तक की 'विचित्रता' और शुक्ल जी की 'रमणीयता' में अन्तर नही।

शुक्ल जी ने उदाहरण-स्वरूप 'जगद्-विनोद' का एक छन्द प्रस्तुत किया है। जो इस प्रकार है :—

फाग के भीर अभीरनि त्यों गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।
भाइ करी मन की पद्माकर ऊपर नाय अबीर की बोरी॥
छीनि पितम्बर कम्मर तैं सु विदा दई मीड़ि कपोलनि रोरी।
नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी॥

आचार्य शुक्ल इस उक्ति को सीधी-सादी मान बैठे है। यह तो स्पष्टतः व्यग्य से वक्र है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दो में, "इसकी वक्रता की कैफियत तो उन लला से पूछिये, जिनसे 'नैन नचाकर' और 'मुसकाकर' यह कहा गया था कि 'फिर आइयो खेलन होरी।"

शुक्लजी का एक और आक्षेप है कि इन दोनों वादो मे अभिव्यंजना या उक्ति ही सब कुछ है, किन्तु वह 'वस्तु' कुछ नहीं, जिसकी अभिव्यजना की जाती है। डॉ० नगेन्द्र इस आक्षेप का समाधान करते हुए सूचित करते हैं कि 'यह तो शुक्ल जी स्वयं भी मानते है कि काव्यत्व उक्ति मे रहता है, व्यंग्य-वस्तु या भाव में नही··· ·· इन दोनो वादों में वस्तु का सर्वथा तिरस्कार नही किया गया। कुन्तक ने·····स्वयं उसका पृथक् विवेचन किया है। उधर क्रोचे ने भी प्राकृतिक वस्तु को कला का उद्दीपक तथा कलावस्तु अर्थात् अरूप भाव-झंकृतियो या सवेदनों को कला का मूल उद्गम अथवा मूलाधार मानते हुए उसे गौरव से सर्वथा वचित नहीं किया। अन्तर केवल यही है कि शुक्ल जी काव्य को वस्तु-दृष्टि से परखते हुए उसमे वस्तु और अभिव्यजना का निश्चित पार्थक्य मानते है, क्रोचे दोनो मे निश्चित भेद असंभव मानते है।'*

(ङ) ध्वनि

व्युत्पत्ति और अर्थ

'ध्वनि' शब्द का निर्माण 'ध्वन्' धातु और 'ई' प्रत्यय के संयोग से हुआ है। इसका अर्थ है—कानों से सुनायी पड़ने वाला नाद। इस अर्थ के पाँच रूप हो सकते है :

(क) ध्वनति, ध्वनयति इति वा ध्वनि·, अर्थात् जो ध्वनित करे या कराये वह ध्वनि है। इसका तात्पर्य शब्द से है।

(ख) ध्वन्यत इति ध्वनि, अर्थात् जो ध्वनित हो वह ध्वनि है। इसका तात्पर्य वस्तु, रस, अलंकार से है।

(ग) ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः, अर्थात् जिस करण के द्वारा ध्वनि की उत्पत्ति हो वह ध्वनि है। इसका तात्पर्य शब्द-शक्ति से है।

(घ) ध्वननं ध्वनिः, अर्थात् ध्वनित होने का भाव ध्वनि है। इसके पर्याय है अभिव्यंजन, सूचन आदि।

(ङ) ध्वन्यत अस्मिन्निति ध्वनि·, अर्थात् जिसमे (रस, अलंकारादि) ध्वनित हों, उसे ध्वनि कहते है। इसका तात्पर्य काव्य (अथवा ध्वनि-काव्य) से है।

परिभाषा

जब अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान को

---

* रीति-काव्य की भूमिका, पृष्ठ ११२.

अभिव्यक्त करते है, तब उस विशिष्ट काव्य को विद्वानो ने 'ध्वनि' कहा है। इस विषय में 'ध्वन्यालोक' के शब्द इस प्रकार है . 'यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत-स्वार्थौ व्यक्त काव्य-विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभि. कथित.।" (१,१३) इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वह काव्य ही ध्वनि कहलाता है, जिसमें कथित शब्द और अर्थ स्वयं अप्रधान होकर व्यंग्य अर्थ को प्रकट करते है।

यों तो प्रत्येक शब्द या वाक्य से कोई न कोई व्यग्य अर्थ निकाला जा सकता है, तो क्या प्रत्येक व्यग्यार्थ को 'व्यग्यार्थ' कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर है कि सभी प्रकार का 'व्यंग्य' काव्य नही, केवल 'चमत्कारी व्यंग्य' काव्य है। रमणियों में जिस प्रकार सौन्दर्य के अतिरिक्त लावण्य होता है, उसी प्रकार शब्द के 'वाच्यार्थ' के अतिरिक्त 'प्रतीयमान' अर्थ होता है, जिसे केवल सहृदय समझ सकते है।

ऐतिहासिक परिचय

'ध्वन्यालोक' मे 'ध्वनि' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग मिलता है, यों 'सूरिभि.' (१,१३) शब्द से प्रतीत होता है कि ध्वनि की चर्चा पहले भी होती रही होगी। इसकी रचना ८७५ ई० के लगभग हुई होगी। इसको किसने लिखा, इस विषय में मतभेद है। इस के तीन भाग है कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इनमें से अन्तिम दो भागों को आचार्य आनन्दवर्द्धन ने लिखा, इस पर मतभेद नही। किन्तु कारिकाओ को किसने लिखा इस विषय मे आनन्दवर्द्धन के अतिरिक्त 'ध्वनिकार' (अथवा 'सहृदय ?') का नाम भी सुझाया जाता है। अस्तु, इसमे कोई सन्देह नही कि ध्वनि-प्रतिपादन का श्रेय आनन्दवर्द्धन को है। आचार्य अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक की महत्त्वपूर्ण टीका की है, जिसका नाम 'लोचन' है। इस टीका से यह प्रकट होता है कि उक्त ग्रंथ पर 'चन्द्रिका' नाम की भी कोई टीका लिखी गई थी, जो अब अप्राप्य है। अभिनव गुप्त के अनन्तर मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' मे ध्वनि-सिद्धान्त को व्यवस्था और स्थिरता प्रदान की, यद्यपि उन्होने काव्य की जो परिभाषा दी, उसमें शब्द, अर्थ, गुण, दोष, अलंकार का उल्लेख तो किया है, किन्तु ध्वनि और रस को भुला दिया है और इस कारण विश्वनाथ ने उन्हे आडे हाथो लिया है। आनन्दवर्द्धन ने रस-ध्वनि की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया और अभिनव गुप्त ने उसे अनिवार्य भी सिद्ध किया, परन्तु विश्वनाथ ने रस पर आग्रह कर वस्तु-ध्वनि तथा अलकार-ध्वनि को काव्य से बहिष्कृत कर दिया। हाँ, उन्होंने काव्य के प्रथम दो भेदो को अर्थात् ध्वनि और गुणीभूतव्यग्य को ही मान्य समझा। पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीयता की दृष्टि से ध्वनि का आदर किया और काव्य को चतुर्विध बताया—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम।

हिन्दी के रीतिकालीन कुछ कवियों ने ध्वनि-सम्प्रदाय का अनुसरण किया। वे हैं—१. 'रसरहस्य' के कर्त्ता कुलपति मिश्र, २. 'रसिक-रसाल' के कर्त्ता कुमारमणि मिश्र, ३. 'काव्य-सरोज' के कर्त्ता श्रीपति, ४. 'रसपीयूष-निधि' के कर्त्ता सोमनाथ, ५. 'काव्य-रसायन' के कर्त्ता देवदत्त, ६. 'काव्य-निर्णय' के कर्त्ता भिखारीदास, ७. 'काव्य-सिद्धान्त' के कर्त्ता सूरति मिश्र, ८. 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी' के कर्त्ता प्रतापसिंह।

ध्वनि-सिद्धान्त का आधार

ध्वनिवाद का आधार वैय्याकरणो का स्फोटवाद है। स्फोटवाद क्या है? 'स्फेट' शब्द संस्कृत के 'स्फुट्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है फूटना, प्रकट होना, स्पष्ट होना। अतएव 'स्फोट' का अर्थ है मन का वह भाव जो किसी शब्द के सुनने से मन में उदित होता है। प्राचीन वैय्याकरण कहते थे कि कान तक पहुँचते-पहुँचते ध्वनियाँ शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं। इसलिए विभिन्न ध्वनियों से बना हुआ शब्द अथवा विभिन्न शब्दों से बना हुआ वाक्य अर्थ-बोध नही करा सकता। उदाहरण के लिए 'सविता' शब्द को ले, जिसका कोशार्थ है सूर्य। 'सविता' शब्द तीन वर्णों से बना है: स+वि+ता। ज्योंही हम 'स' का उच्चारण करने के पश्चात् 'वि' का उच्चारण करते है, त्यों ही 'स' की ध्वनि नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार 'ता' का उच्चारण करते-करते 'स' और 'वि' की ध्वनियाँ नष्ट हो जाती है। यदि इस शब्द के प्रत्येक वर्ण में सम्पूर्ण 'सविता' शब्द के अर्थ-बोध की शक्ति है, तब तो पूरे शब्द का उच्चारण ही व्यर्थ और अनावश्यक है, और यदि अर्थ-बोध उक्त शब्द के तीनो वर्णों की समष्टि का परिणाम है, तो प्रश्न यह है कि यह समष्टि किस प्रकार सभव है, जबकि अपर वर्ण को उच्चारण करते समय पूर्व वर्ण की ध्वनि समाप्त हो जाती है। वैय्याकरणों ने शब्द के दो रूप माने है—स्थूल और सूक्ष्म। उसका स्थूल रूप उच्चरित रूप है, जिसे विकृत और अनित्य माना गया है; शब्द का सूक्ष्म रूप मानव-मन मे विद्यमान रहता है, जो नित्य और अविभाज्य माना गया है। इस सूक्ष्म और नित्य ध्वनि-बिम्ब को स्फोट कहा गया है। स्फोट मे शब्द की ध्वनियाँ अलग-अलग नहीं, किन्तु मिले-जुले रूप में रहती है। अर्थ की प्रतीति तभी होती है, जब कि शब्द को अन्तिम ध्वनि का उच्चारण हो चुकता है।

उक्त स्फोटवाद के आधार पर अलंकार-वादियों ने यह कहना प्रारम्भ किया कि जिस प्रकार किसी शब्द के वर्णों की अलग-अलग ध्वनियाँ अर्थ का बोध नही करा सकतीं, उसी प्रकार काव्य मे केवल वाच्यार्थ से काव्य-सौंदर्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार विभिन्न ध्वनियों के स्फोट के द्वारा अर्थ प्रकट होता है, उसी प्रकार व्यंजना के द्वारा अव्यक्त अर्थ की भी अभिव्यक्ति होती है। यह कैसे?

इसे स्पष्ट करने के लिए 'घण्टे' का उदाहरण दिया जाता है। जब किसी घण्टे पर चोट पड़ती है तो उसमें से कर्कश ध्वनि सुनायी पडती है, किन्तु वह धीरे-धीरे धीमी होती जाती है और कानों को अच्छी लगने लगती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ध्वनि-सिद्धान्त शब्द-शक्तियों पर आधृत है; और व्यंजना ही इस सिद्धान्त की आधार-शिला है ; वास्तव में स्फोटवाद तो सादृश्य पद्धति पर ध्वनि के प्रयोग को केवल स्पष्ट करता है।

ध्वनि-भेद

ध्वनि के मुख्य भेद दो है—१-अभिधा-मूलक और २- लक्षणामूलक।

१—अभिधा-मूलक ध्वनि को विविक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि भी कहते है। अर्थात् वह ध्वनि जिसका आधार अभिधा है और जिसमे कवि मुख्य अर्थ को अवश्य कहना चाहता है, किन्तु वह वाच्यार्थ अन्य पर निर्भर होता है, अर्थात् वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ को प्रकट करता है। इस ध्वनि के अन्तर्गत रस, वस्तु और अलंकार की व्यजनाएँ होती है। इसके दो उपभेद है—असलक्ष्यक्रम ध्वनि और सलक्ष्यक्रम ध्वनि। (क) पहले उपभेद में अर्थात् असंलक्ष्यक्रम ध्वनि मे वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति का क्रम अलक्षित रहता है और उस ध्वनि मे भाव, रस आदि की व्यंजनाओ का समावेश हो जाता है। रस का समावेश ध्वनि में होता है। रस और भाव ऐसी मानसिक स्थितियाँ है, जो शब्द के द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती, अतएव उनकी व्यजना ही सभव है। विभाव और अनुभाव व्यजक है, रस व्यग्य है।

(ख) दूसरे उपभेद मे अर्थात् संलक्ष्यक्रम ध्वनि मे व्यग्यार्थ की प्रतीति का क्रम वाच्यार्थ के द्वारा लक्षित रहता है। इस ध्वनि मे वस्तु और अलंकार की ऐसी व्यजनाएं होती है, जो शब्द से अथवा अर्थ से अथवा शब्दार्थ से उत्पन्न होती है।

२—लक्षणा-मूलक ध्वनि को अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहते है, क्योंकि इस ध्वनि मे वाच्यार्थ के कहने की इच्छा नहीं रहती। यह वाच्यार्थ या तो दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है या पूर्ण तिरस्कृत हो जाता है। इस प्रकार इन दोनों दिशाओ मे मुख्य अर्थ बाधित रहता है अर्थात् रुका रहता है, और वह अपने स्थान में कोई अन्य अर्थ देने लगता है। आचार्य वामन ने इस लाक्षणिक विलक्षणता को वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना था।

ध्वनियों के शुद्ध भेदोपभेद इक्यावन होते है और यदि इन शुद्ध इक्यावन का परस्पर मिश्रण कर दिया जाय तो ध्वनि के २६०१ मिश्रित भेद हो जाते है। पर

ध्वनियों के मिश्रण के भेदोपभेद की दृष्टि से मम्मट[1] के अनुसार 'शरेषुयुगखेन्दव. अर्थात् १०४५५ भेद होते है।

काव्य के तीन भेद

व्यंग्यार्थ के दृष्टिकोण से आनन्दवर्द्धन ने काव्य को तीन प्रकार का माना है : १—उत्तम काव्य : इसे ध्वनि-काव्य भी कहते हैं, क्योंकि इसमे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यग्यार्थ अधिक उत्कृष्ट होता है। २—मध्यम काव्य . इसमे वाच्यार्थ के समान ही व्यग्यार्थ उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होता है। ऐसा काव्य गौण काव्य समझा जाता है, इसीलिए इसे गुणीभूत काव्य भी कहते है। ३—अधम काव्य . इसमे किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ नही रहता, केवल अलंकारों का कौतुक रहता है, और ये अलकार भी ऐसे होते है जिनमे व्यग्यार्थ का सर्वथा अभाव बना रहता है। इसीलिये आनन्द-वर्द्धन ऐसे काव्य को काव्य नही कहते। वे उसे काव्य की नकल अथवा काव्यानुकृति समझते है।

ध्वनि और रस

उक्ति के द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नही होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है, अर्थात् व्यंजन या ध्वनन होता है। अतएव ध्वनिकार ने उसे निरा रस नही माना, रसध्वनि माना है। ध्वनि के अनुसार काव्य का त्रिविध वर्गीकरण हुआ है—उत्तम, मध्यम, अधम। उत्तम काव्य भी त्रिविध है—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि। अतएव ध्वनिवादियो के अनुसार भी काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व रस है। डॉ० नगेन्द्र मनोवैज्ञानिक आधार पर यह स्पष्ट करते है कि सहृदय को काव्य का केवल अर्थबोध नही होता, अपितु उसके हृदय मे कवि के हृदय की सी रागात्मक अनुभूति होती है। सहृदय के दृष्टिकोण से रस रागात्मक अनुभूति है, जो न बोधव्य है और न वाच्य ही। अतएव कवि को अपने भाव-सप्रेषण के लिए भाषा का ऐसा असाधारण प्रयोग करना पड़ता है, जो सहृदय मे अतिरिक्त कल्पना को जाग्रत कर सके। डॉ० नगेन्द्र कहते है "ध्वनि स्थापना के द्वारा वास्तव मे ध्वनिकार ने काव्य मे कल्पनातत्त्व के महत्त्व की ही प्रतिष्ठा की है। रस और ध्वनि मूलत: रस के ही अन्तर्गत आ जाते हैं।"

ध्वनि की महत्ता

ध्वनि-सिद्धान्त बड़ा विशद है। उमाशकर शुक्ल के शब्दों में 'इसकी महत्ता इस बात से देखी जा सकती है कि इसके बाद प्रतिपादित होने वाले वक्रोक्तिवाद एवं

१. काव्य प्रकाश, ४,४४.

औचित्यवाद भी इसके काव्य-लक्षण की परिधि से बाहर न जा सके और न कोई परवर्त्ती आचार्य इसके मूल स्वरूप को विकृत ही कर सका।' इसका कारण यह है कि ध्वनिसिद्धान्त सार्वभौम है। इसमे रसध्वनि की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। इसके अतिरिक्त इसने प्रायः सभी पूर्ववर्त्ती आचार्यो की विशृंखलित मत-मणिकाओ को ध्वनि-सूत्र में गूँथकर काव्य-जिज्ञासुओ के लिए आकर्षक सिद्धान्त-माल्य उपस्थित किया है। इस माल्य मे समासोक्ति तथा रसवत् आदि अलंकारो को स्थान मिला है। जिस प्रकार भामह ने वक्रोक्ति के, दण्डी ने अतिशयोक्ति के और वामन ने उपमा के अन्तर्गत सभी अलकारो को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है, उसी प्रकार ध्वनिवादी आचार्यों ने भी उन्हे गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत रखना पसन्द किया और उन्होने शब्द-कौतुक-प्रधान एव व्यग्यार्थ-रहित अलकारों को अधम काव्य के अन्तर्गत रख कर अपनी व्यावहारिकता का परिचय दिया है, जिसके कारण उन्होने अपने सिद्धान्त को दृढ बनाया और लोकप्रिय भी। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार ध्वनि-सिद्धान्त की सर्वमान्यता का मुख्य कारण यही था कि उन्होने अन्य सभी प्रचलित सिद्धान्तो का समावेश ध्वनि मे कर दिया। 'ध्वनि' को उन्होने इतना व्यापक बना दिया कि उसमे न केवल उनके पूर्ववर्त्ती रस, गुण, रीति, अलंकार आदि का ही समाहार हो जाता था, वरन् उनके परवर्त्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नही जा सकते थे।' डॉ० नगेन्द्र के अनुसार ध्वनिकार की सिद्धि दो प्रकार से हुई। प्रथमत, रीति, अलकार, वक्रता आदि भी रस की भाँति व्यग्य ही रहते है, द्वितीयत, गुण, रीति, अलकार आदि तत्त्व वाच्यार्थ के द्वारा मन को सीधे आह्लाद नही देते, किन्तु रसका उपकार करते हुए अपने अस्तित्त्व को सार्थक करते है। ध्वनि-सिद्धान्त की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसने उस अभाव की भी पूर्त्ति की जो रस-सिद्धान्त मे भी बनी हुई थी। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार 'रस सिद्धान्त भी ऐन्द्रिय आनन्द के प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त उसमे दूसरा दोष यह था कि प्रबन्ध-काव्य के साथ तो उसका सम्बन्ध ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्फुट छन्दो के विषय मे विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि का सगठन सर्वत्र न हो सकने के कारण कठिनाई पडती थी, और प्रायः अत्यन्त सुन्दर पदों को भी उचित गौरव न मिल पाता था।' ध्वनि-सिद्धान्त ने इस अभाव की पूर्त्ति की।

———

रस

प्राक्कथन

रसवादी रस को काव्य की आत्मा बताते है। उनके अनुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'। अतएव यह जानना आवश्यक है कि रस क्या है?

अर्थ और व्युत्पत्ति

'रस' शब्द के अनेक अर्थ है, यथाः सार-आसव, धातु-भस्म, हर्ष, आनन्द। किन्तु इस शब्द के चार मुख्य अर्थ है : १—पदार्थ-रस, यथा. षड् रस अर्थात् कषाय, तिक्त, कटु, लवण, अम्ल और मधुर; २—आयुर्वेदीय रस, शरीर की एक धातु[1] ३—भक्ति-रस अर्थात् ब्रह्मानन्द, और ४—साहित्य-रस अथवा काव्यानन्द। 'रस' शब्द 'रस्' धातु और 'अच्' (वा 'घ') प्रत्यय से निष्पन्न है। अतएव इसकी व्याख्या इस प्रकार से की जा सकती है—'रस्यते इति रसः' अर्थात् वह जो आस्वादित किया जाय अथवा 'रसते इति रसः' अर्थात् वह जो बहे। इस प्रकार रस मे दो विशेषताएं निहित है—आस्वाद्यत्व और द्रवत्व। वेद, उपनिषद् और ब्राह्मणों में 'रस' शब्द का प्रयोग तो मिलता है, किन्तु काव्यानन्द के अर्थ मे नही। तैत्तिरीय उपनिषद् मे लिखा है कि वह (ब्रह्म) निश्चय ही रस है और वह रस को प्राप्त करके आनन्दित होता है. 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' २, ७। इस अवतरण से प्रतीत होता है कि 'रस' और 'आनन्द' भिन्न पदार्थ है और 'रस' के पश्चात् आनन्द की प्राप्ति होती है। राजशेखर के अनुसार रस के सर्व प्रथम आचार्य नन्दिकेश्वर है। भरतमुनि ने रस का जो विवेचन किया है, वह दृश्य काव्य के दृष्टि-कोण से है।

रस की परिभाषा

भरत लिखते हैं कि विभाव, अनुभाव, संचारी आदि भाव स्थायीभाव के समीप आकर अनुकूलता ग्रहण करते है। यह अनुकूलता काव्य रस की अभिव्यक्ति के

---

[1]. रसाच्छोणितं, शोणितान्मांसं, मांसान्मेदो, मेदसः स्नायवः, स्नायुभ्योऽस्थीनि, अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जातः शुक्रम्।' गर्भोपनिषत्, २.

हेतु होती है। नाना भावों के उपगम से रस की निष्पत्ति होती है "नाना भावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। नाना भावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति" (ना० शा० ६, ३१-३२)। 'दशरूपक' में धनञ्जय वही बात इस प्रकार कहते है :

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥ ३, १॥

मम्मट कहते है : 'व्यक्त स तै विभावाद्यै स्थायी भावो रसः स्मृतः' (का० प्र०, ४, २८) और साहित्यदर्पण मे विश्वनाथ वही बात कुछ संक्षेप से लिखते है : 'रसतामेति रत्यादि स्थायी भाव सचेतसाम्'। ४, १।

रस का स्वरूप

आचार्य विश्वनाथ ने रस को अखड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर, स्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद-सहोदर और लोकोत्तर चमत्कार-प्राण बताया है।[1] रस की चार विशेषताएँ है :—

प्रथमत', रस सहृदय-सवेद्य है, क्योकि सहृदय ही उसका आस्वादन कर सकता है। 'रस्यते इति रस'।

द्वितीयत, रस का आस्वादन आनन्दमय है। इसीलिए इसे चिन्मय, वेद्यान्तर और स्पर्शशून्य कहा है। भरत मुनि के अनुसार रसमे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव होते है, किन्तु ये पृथक्-पृथक् नही होते अर्थात् रस मे इनकी वेदना पृथक्-पृथक् नही होती। इसलिए रस को अखड कहा गया है।

तृतीयत, रसानन्द का प्राण चमत्कार है, जैसा कि विश्वनाथ समझते है। किन्तु इसे अन्य लोग नही मानते।

चतुर्थतः, रस ब्रह्मानन्द-सहोदर, अलौकिक और अनिर्वचनीय है। काव्य का आनन्द ऐन्द्रिय आनन्द से उच्चत्तर कोटि का होता है। अतएव वह अलौकिक समझा जाता है।

तीन प्रश्न

डॉ० नगेन्द्र ने रस के सम्बन्ध में तीन मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठाये है :

१—क्या सभी काव्य-रस आनन्दमय होते है ?

१. "सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द-चिन्मय'। वेद्यान्तरः स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः॥ लोकोत्तर चमत्कार-प्राण' कैश्चित्प्रमातृभिः। स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥"—साहित्य-दर्पण ३,२,३.

२—क्या सभी रस भाव से भिन्न होते है ?

३—क्या काव्य का आनन्द अलौकिक होता है ?

प्रथम प्रश्न के उत्तर मे कहा जा सकता है कि जहाँ तक आनन्द का सम्बन्ध है वहाँ इस क्षेत्र मे मनोवैज्ञानिको के दो मत है—एक आनन्दवादी (हिडोनिस्ट), दूसरा सार्थकतावादी (हौमिक)। पहले मत से जीवन के सभी कार्य आनन्द के लिए होने है, यह मत आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुकूल भारतीय है। दूसरा मत जो आनन्द को साध्य और जीवन को साधन मानता है, वैज्ञानिक वस्तुवाद और आधुनिक मनोविज्ञान के अनुकूल है। दूसरे मत के अनुसार दुःखान्त नाटक का आस्वादन आनन्दमय नही होना; पर इसे डॉ० नगेन्द्र विशेष महत्त्व प्रदान नही करते।

दूसरे प्रश्न के उत्तर मे कहा जा सकता है कि रस भाव से भिन्न होता है। डॉ० भगवान्दास समझते है कि 'भाव, क्षोभ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश (इमोशज) का अनुभव रस नही होता, किन्तु उस अनुभव का स्मरण प्रतिसम्बन्ध और आस्वादन रस कहलाता है।' अतएव रसानन्द भाव नही, यद्यपि रस का सम्बन्ध स्थायीभाव से अवश्य है। इसके प्रमाण मे यह कहा जा सकता है कि करुण भावों से भी रस की प्राप्ति होती है, जो आनन्दमय होता है।

तृतीय प्रश्न के उत्तर में विद्वानों मे एक मत नही। भारतीय आचार्यो ने तो रस को स्पष्ट शब्दों मे अलौकिक और अनिर्वचनीय बताया है। पाश्चात्य आचार्यों मे मतभेद है। प्लेटो ने दो प्रकार की अनुभूति मानी है—आध्यात्मिक और ऐन्द्रिय और उन्होने काव्यानन्द को इन्द्रियानुभूति माना है। अतएव उन्होने काव्यानुभूति को मिथ्या, निकृष्ट एवं अस्वस्थ समझा है। परन्तु अरस्तू ने काव्यानन्द को ऐन्द्रिय आनन्द तो माना, किन्तु उसे मिथ्या नही कहा। प्लॉटिनस ने काव्यानुभूति और काव्यानन्द को आध्यामिक अनुभूति और आध्यात्मिक आनन्द माना। हीगल का भी ऐसा ही मत है। अठारहवी शती के जॉसिफ एडिसन ने काव्य के आनन्द को ऐन्द्रिय और बौद्धिक आनन्द से भिन्न कल्पना का आनन्द समझा है। क्रोचे ने काव्यानन्द को सहजानुभूति का आनन्द बताया। ए० सी० ब्रेडले और क्लाइव बैल कहते है कि काव्यानन्द सभी प्रकार के लौकिक आनन्दो से भिन्न, अनुपम और विचित्र है।

यदि काव्यानुभूति को ऐन्द्रिय अनुभूति माना जाय, तो यह आपत्ति उत्पन्न हो सकती है कि शोक से शोक की उत्पत्ति माननी चाहिए। पर यह आपत्ति सत्य नही है। क्योंकि 'पङ्क' से पङ्कुल कीट और सुवासित पङ्कज दोनों सम्भव है। काव्य की अनुभूति को आध्यात्मिक भी नही कहा जा सकता, क्योकि आत्मा की सत्ता सर्वमान्य नही और उसकी अनुभूति भी नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त काव्यानन्द मे

चपलता आदि की स्थिति बहुत अधिक रहती है। इसलिए ऐसा मानना युक्ति-संगत नहीं कि काव्यानन्द आत्मा के शुद्ध एवं अचंचल आनन्द का रूप है। काव्यानन्द को कल्पना का आनन्द भी नही माना जा सकता, क्योकि किन्ही के अनुसार, कल्पना की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही; वह तो मन-बुद्धि की क्रियामात्र है। क्रोचे ने जिस सहजानुभूति की प्रतिष्ठा की है, मनोविज्ञान में उसका स्थान नही। काव्यानन्द को अनिर्वचनीय, अलौकिक अथवा स्वतःसापेक्ष्य कहने से काव्यानन्द के स्वरूप पर कोई प्रकाश नही पड़ता। इस विषय मे आई. ए. रिचार्डस का मत ठीक-सा प्रतीत होता है। वे कहते है कि सुन्दरता की अनुभूति के लिए हमारे पास कोई इन्द्रिय अलग नही, इसलिए उसे पृथक् मानना उचित नही। काव्य की अनुभूति में चित्त की द्रुति से मानसिक संवेदना होती है, जिससे रोमाञ्च और अश्रु आदि उत्पन्न होते है, इस कारण उसे ऐन्द्रिय अनुभूति का अंश मानना चाहिए। किन्तु यह अनुभूति उस प्रत्यक्ष अनुभूति से भिन्न है, जो वास्तविक प्रियजन के वास्तविक मिलन अथवा वास्तविक वियोग से होती है। अतएव रिचार्ड्स कह सकते है कि काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही, किन्तु यह साधारण अनुभूति नहीं; यह तो ऐसी भावित अनुभूति है, जिसमे ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूतियाँ दूध-पानी की भाँति एक हो जाती है।

मेरे विनम्र विचार से किसी वैज्ञानिक आविष्कर्त्ता को अपनी रचनात्मक कल्पना के द्वारा आनन्द की जो अनुभूति होती है, कवि या सहृदय की अनुभूति उससे भिन्न नही होती। यदि आविष्कर्त्ता की अनुभूति लौकिक है तो कवि की भी लौकिक है, और यदि उसकी अनुभूति स्वर्गीय है तो कवि की भी स्वर्गीय है। कवि का आनन्द नितान्त लौकिक है। इसमे कोई सन्देह नही कि वह स्थूल दृष्टिकोण से खान-पान आदि के आनन्द से अधिक स्थायी और उत्कृष्ट है। सूक्ष्म विवेचन पर तो सभी सुख (प्लैजर) एक से होने चाहिए, सुखो मे परिमाणात्मक (क्वाटिटेटिव) भेद तो सगत प्रतीत होता है, किन्तु गुणात्मक (क्वालिटेटिव) भेद ऐसा प्रतीत नही होता।[1] गुणात्मक भेद की प्रतीति का आधार वस्तुतः परिमाणात्मक भेद ही है, यदि किसी एक ही रंग को गहरा अथवा हलका किया जाए तो उसमे गुणात्मक भेद की प्रतीति होने लगती है।

---

१. Is not pleasure as such the abstraction of one element of a whole psychical state from that state, and when so abstracted, are there differences of kind in it, or only of degree ? Ethical Studies, by F. H. Bradley, p. 117.

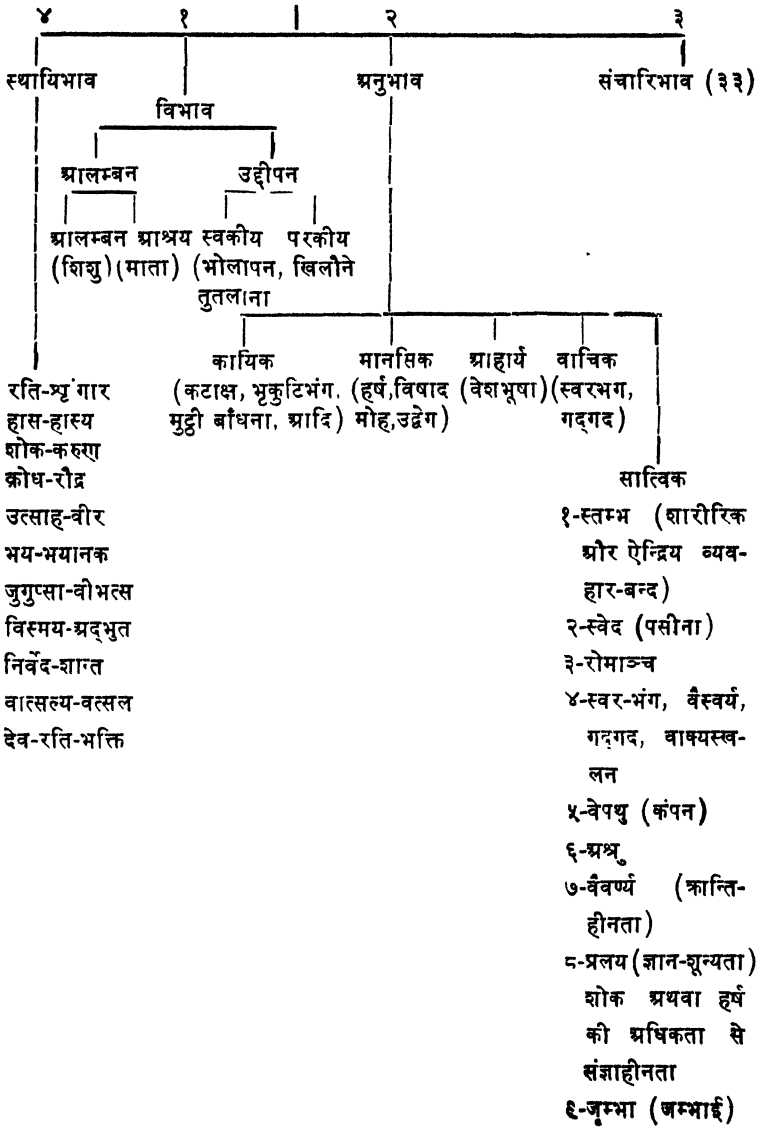
रस के अंग

रस की परिभाषा[1] के अनुसार रस के चार अंग होते है · विभाव, व्यभिचारिभाव, अनुभाव और स्थायिभाव। उस परिभाषा में स्थायिभाव का उल्लेख नहीं है, किन्तु आगे चलकर उन्होंने स्थायिभाव को ही रस बताया है। भरतमुनि के शब्द है, 'नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवत्ति·····विभावानुभाव व्यभिचारिपरिवृत. स्थायिभावो रस नाम लभते नरेन्द्रवत्' (६, २६-३२, ७,७-८). अर्थात् अनेक भावों से युक्त होकर भी स्थायिभाव रसावस्था को प्राप्त कर लेते है, और ये स्थायिभाव विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी से परिवृत होकर राजा के समान रस नाम को प्राप्त करते है। राजा मनुष्य ही तो होता है। इसी प्रकार रस स्थायिभाव ही तो होता है। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार कोई मनुष्य नौकर-चाकर और सैनिको से परिवृत होकर राजा बन जाता है, उसी प्रकार कोई भी स्थायिभाव अपने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी से परिवृत होकर रस बन जाता है। भरतमुनि ने रस-निष्पत्ति को बडे सरल ढंग से समझाया है। उन्होने इस निमित्त जो दृष्टान्त दिया है वह बडा सुन्दर है। वे कहते है कि जैसे कई प्रकार के व्यंजन औषध और द्रव्यो के सयोग से रस निकला करता है, वैसे ही नाना भावो के इकट्ठे होने पर रस निष्पन्न हो जाता है, अर्थात् जिस प्रकार गुड आदि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियो से छ. रस बनते है, उसी प्रकार स्थायिभाव अपने-अपने नाना भावों से युक्त होकर रस बन जाते है। भरतमुनि की इस कल्पना को एक रूपक के द्वारा और आगे बढाया जा सकता है . यदि सन्तरे का शरबत रस है, तो सन्तरा स्थायिभाव है और शर्करा, रंग, गन्ध, जल आदि व्यभिचारिभाव तथा अनुभाव है। इस रस-रूपी शरबत को प्रस्तुत करने के लिए स्वकीय और परकीय उद्दीपन-रूपी ईधन की ज्वाला से आलम्बन रूपी ढक्कन से पिहित आश्रय-रूपी देगचो मे रस-रूपी शरबत सहृदय-रूपी बोतल मे प्रस्तुत होकर गिरता है।

---

१. 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'। नाट्यशास्त्र.

रसाङ्ग


४
१
२
३
स्थायिभाव
विभाव
अनुभाव
संचारिभाव (३३)
आलम्बन
उद्दीपन
आलम्बन (शिशु)
आश्रय (माता)
स्वकीय (भोलापन, तुतलाना)
परकीय (खिलौने)
कायिक (कटाक्ष, भृकुटिभंग, मुट्ठी बाँधना, आदि)
मानसिक (हर्ष, विषाद मोह, उद्वेग)
आहार्य (वेशभूषा)
वाचिक (स्वरभग, गद्गद)
रति-शृंगार
हास-हास्य
शोक-करुण
क्रोध-रौद्र
उत्साह-वीर
भय-भयानक
जुगुप्सा-वीभत्स
विस्मय-अद्भुत
निर्वेद-शान्त
वात्सल्य-वत्सल
देव-रति-भक्ति
सात्विक
१-स्तम्भ (शारीरिक और ऐन्द्रिय व्यवहार-बन्द)
२-स्वेद (पसीना)
३-रोमाञ्च
४-स्वर-भंग, वैस्वर्य, गद्गद, वाक्यस्खलन
५-वेपथु (कंपन)
६-अश्रु
७-वैवर्ण्य (क्रान्तिहीनता)
८-प्रलय (ज्ञान-शून्यता) शोक अथवा हर्ष की अधिकता से संज्ञाहीनता
९-जृम्भा (जम्भाई)

'भाव' क्या है ?

भरत के अनुसार "मानसिक अवस्थाओ का व्यञ्जक प्रदर्शन ही 'भाव' है"—'कवेरन्तर्गत भावं भावयन् भाव उच्यते'। ७,२। अमरकोश मे लिखा है कि मन के विकार को भाव कहते है—'विकारो मनसो भावः।' भाव चार प्रकार के होते है—(अ) विभाव, (आ) व्यभिचारिभाव, (इ) अनुभाव और (ई) स्थायिभाव।

(अ) विभाव

'वाचिक आगिक तथा सात्त्विक अभिनय के सहारे चित्त-वृत्तियों का विशेष रूप से विभावन अर्थात् ज्ञापन कराने वाले हेतु, कारण अथवा निमित्त को 'विभाव' कहते है।'[1] विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायिभाव। विभाव रस के कारण होते है, जो दो प्रकार के होते है आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन भी दो प्रकार का होता है—आलम्बन और आश्रय। जिसमे भाव विद्यमान होता है वह आश्रय कहलाता है। माता मे वात्सल्य होता है, अतएव वह वात्सल्य का आश्रय है, और उसके वात्सल्य का अवलम्बन (आलम्बन) शिशु है। भाव को प्रदीप्त करने वाला तत्त्व उद्दीपन कहलाता है, जो दो प्रकार का होता है : स्वकीय और परकीय। जब-जब माता अपने बच्चे के भोलेपन और तुतलाने पर ध्यान देती है, तब-तब उसका वात्सल्य उद्दीप्त होता है। भोलापन और तुतलाना ये दोनो गुण बच्चे के स्वकीय है (अर्थात् निजी) है। पर माता का वात्सल्य तो बच्चे के वस्त्र, खिलौने आदि को देखकर भी उद्दीप्त होता है। ये वस्त्रादि उद्दीपन परकीय है, क्योकि इनका अपरिहार्य सम्बन्ध न माता से है, न शिशु से।

(आ) व्यभिचारी

व्यभिचारिभाव। इन्हे संचारी भी कहते है। व्यभिचारी = वि + अभि + चारी। 'वि' का अर्थ है विशेष रूप से; 'अभि' का अर्थ है 'और' अथवा 'प्रति' तथा 'चारी' का अर्थ है 'चलने वाले'। व्यभिचारी का अर्थ है वे भाव जो स्थायिभाव की ओर चलते है, जिससे कि स्थायिभाव रस का रूप धारण कर ले। माता का वात्सल्य स्थायिभाव है। प्रेम, भय, आशंका, झुंझलाहट आदि इसकी ओर प्रवृत्त होकर वात्सल्य को वत्सल रस में परिणत कर देते है। 'सचारी' शब्द का अर्थ है वह भाव जो भली प्रकार चलता है, किन्तु इस शब्द मे 'व्यभिचारी' की सी स्पष्टता नही। सचारी का अर्थ 'चलते-फिरते' भी है, अर्थात् वे भाव जो तब है और अब नही। भरत मुनि ने

१. 'विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभाव.। यथा विभावित विज्ञात-मित्यर्थान्तिरम्।' नाट्यशास्त्र, ७,४.

तेतीस संचारिभावों का उल्लेख किया है, यद्यपि आधुनिक विद्वानो के अनुसार इस संख्या मे घटा-बढी हो सकती है। तेतीस सचारिभाव ये है

(१) निर्वेद। वियोगावस्था में, दारिद्र्य, ईर्ष्या, अपमान, आपत्ति, व्याधि एवं इष्ट-वियोग के कारण अपने को धिक्कारना, वेदना-शून्यता, सुख-दुःख का समभाव।

(२) ग्लानि। मानसिक तथा शारीरिक ताप से उत्पन्न शिथिलता, श्रम, भूख से मन की मुरझाहट, मलिनता अथवा खिन्नता।

(३) शंका। अनिष्ट की शंका, जिसके अनुभाव है—मुख-वैवर्ण्य, स्वरभंग आदि।

(४) असूया। अन्य व्यक्ति की उन्नति के कारण उस व्यक्ति की निन्दा और उसकी हानि के लिए चेष्टा।

(५) मद। मादक द्रव्य के सेवन से उत्पन्न शारीरिक और मानसिक अवस्था; बेहोशी और आनन्द का मिश्रण।

(६) श्रम। थकावट, यथा मार्ग चलने या जागने से।

(७) आलस्य। व्याधि अथवा उत्साह-हीनता के कारण कार्य करने की अनिच्छा, जँभाई, अँगडाई इत्यादि।

(८) दैन्य। दीनता, दुःख, दारिद्र्य, मनस्ताप आदि के कारण ओजस्विता का अभाव।

(९) चिन्ता। मानसिक पीडा, अभीष्ट वस्तु के प्राप्त न होने से उत्पन्न ध्यान।

(१०) मोह। वियोग, भय आदि से मन का यथार्थ ज्ञान से शून्य होना।

(११) स्मृति। स्मरण, बीती बात की चेतना।

(१२) धृति। धैर्य।

(१३) व्रीडा। लज्जा।

(१४) चपलता—प्रेम, ईर्ष्या अथवा द्वेष से मन की अस्थिरता।

(१५) आवेग। अनर्थ मे घबराहट इसके अनुभाव है विस्मय, रोमाच, स्तम्भ, कंप।

(१६) हर्ष। मनोरथ पूर्ण होने पर सुख।

(१७) जड़ता। किकर्त्तव्य-विमूढता, अर्थात् 'क्या करूँ, क्या न करूँ' ऐसी मानसिक अवस्था।

(१८) गर्व। धन, बल अथवा विद्या से सम्बद्ध अभिमान।

(१९) विषाद। इष्ट-हानि, असफलता आदि के कारण अत्यन्त शोक।

(२०) औत्सुक्य। उत्सुकता, विलम्ब न सहना।

(२१) निद्रा । सोना ।
(२२) अपस्मार । मृगी रोग ।
(२३) स्वप्न । जाग्रत अवस्था की-सी घटना को सोते हुए देखना ।
(२४) विबोध । चैतन्य ।
(२५) अमर्ष । क्रोध ।
(२६) अवहित्था । भावों को छिपाना , भय, गौरव, लज्जा आदि के कारण हर्ष को छिपाना ।
(२७) उग्रता । तिरस्कार-जन्य निर्दयता ।
(२८) मति । ज्ञान, बुद्धि ।
(२९) व्याधि । मानसिक दु ख अथवा रोग ।
(३०) उन्माद । किसी विशेष कारण से चित्त की भ्रान्त दशा ।
(३१) मरण । मृत्युवत् अवस्था ।
(३२) त्रास । भय ।
(३३) वितर्क । सदेहपूर्ण विचारों की उत्पत्ति ।

क्या संचारी ही व्यभिचारी हैं ?

संस्कृत-साहित्य मे नामकरण अथवा शब्द-निर्माण प्राय सार्थक होता रहा है । अतएव जिज्ञासा है कि काव्य-शास्त्र मे 'सचारी' और व्यभिचारी' ये दो शब्द क्यो है ? क्या दोनों पर्यायवाची है ?

'सचारी' शब्द से ही प्रतीत होता है कि तन्नामधारी भाव चलते-फिरते रहने है, अर्थात् स्थिर नही रहने । जो भाव अब है, अब नही, ऐसे अस्थायी भाव संचारी कहलाते है । ग्लानि, शका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, व्रीडा, चपलता, हर्ष, गर्व, उग्रता. वितर्क आदि संचारियो की सख्या ३३ मानी जाती है, यद्यपि जैसा कि कहा जा चुका है, कुछ विद्वानो के अनुसार यह सख्या घट-बढ सकती है। जो भाव अपेक्षाकृत देर तक टिकते है, वे स्थायी कहलाते है, यथा—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय आदि । भरतमुनि ने इनकी संख्या आठ दी है, जिसे उत्तरकालीन काव्याचार्यों ने खीच कर दस-ग्यारह तक कर दिया है ।

"सचारी" शब्द सम् उपसर्ग और 'चर्' धातु से व्युत्पन्न है; और 'व्यभिचारी" शब्द 'वि' तथा 'अभि' उपसर्गो एव 'चर्' धातु से । 'सचारी' तो 'स्थायी' का विलोम लगता है; 'व्यभिचारी' नही । यदि स्थायी भाव अधिक काल तक रहते है, तो सचारी अपेक्षाकृत थोड़ी देर तक । 'व्यभिचारी' शब्द का अर्थ है, वह जो विशेष रूप से किसी की ओर प्रवृत्त हो । अतएव 'व्यभिचारी' वह भाव है जो स्थायी भाव

की ओर प्रवृत्त होकर स्थायी भाव को रस के निमित्त प्रभावित करता है। प्रभावित किया हुआ 'स्थायी भाव' ही तो 'रस' है।[1]

उदाहरण रूप से कहा जा सकता है कि शृंगार रस मे रति स्थायी भाव है और व्रीडा, हर्ष, उत्सुकता आदि व्यभिचारी भाव है। करुण का स्थायी भाव शोक है, जिसे चिन्ता, उन्माद, जडता, विषाद, ग्लानि, अपस्मार, मोह आदि व्यभिचारी भाव भावना देते है। इसी प्रकार वात्सल्य रस का स्थायी भाव प्रेम है, जिसकी निष्पत्ति आशंका, हर्ष, झुझलाहट, शोक आदि की सहायता से होती है। जब किसी माता के पुत्र को ज्वर आ जाता है, तो उस माता मे आशंका अथवा चिन्ता का उदय होता है; जब वह तुतलाकर बाते करता है, तो माता मे हर्ष होता है और जब वह जनाकीर्ण घण्टापथ की ओर बार-बार जाना है और रोकने से नही रुकता, तो उसकी माता मे झुझलाहट होती है; और ये सभी भाव उस प्रेम के कारण है, जो माता का अपने शिशु के प्रति होता है। करुण के प्रकरण मे हर्ष की सज्ञा 'सचारी' रहेगी, उसे 'व्यभिचारी' न कहना चाहिए, ऐसी मेरी कल्पना है। हर्ष सचारी भाव है, उसकी सज्ञा हास्य और शृंगार के प्रकरणो मे व्यभिचारी हो सकती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सभी व्यभिचारी भाव, जो स्थायी को रसत्व प्रदान करने के निमित्त, विभाव, अनुभाव आदि की सहायता से प्रवृत्त होते है, संचारी होते है। यद्यपि भरत मुनि संचारी-व्यभिचारी के भेद को स्पष्ट नही करते, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे कभी यह भेद साहित्य-जगत् को ज्ञात रहा होगा और पीछे भूल मे पड गया।

भरत मुनि का ऊहापोह इस प्रकार है—'व्यभिचारी' यह नाम क्यो है? 'वि' और 'अभि' ये दो उपसर्ग है 'चर्' गत्यर्थ-वाचक धातु है। वे वाणी, अंग, सत्व से मिले हुओ को विविधता से आभिमुख्य से रसो मे ले जाते है, अतः 'व्यभिचारी' कहे जाते है। 'चरन्ति' का अर्थ है 'ले जाना'। भरत मुनि स्वय प्रश्न उठाते है कि व्यभिचारी भाव उन्हे कैसे ले जाते है, और उत्तर में वे स्वयं समाधान उपस्थित करते है कि "जैसे सूर्य इस नक्षत्र को अथवा उस दिन को ले जाता है। वह उन्हे बाहु या कन्धे से नही ले जाता, किन्तु ऐसी ही लोक-प्रसिद्धि है। व्यभिचारी भावो के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। संग्रह मे अभिहित ये व्यभिचारी भाव ३३ है।" भरत मुनि

१—'नाना भावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति'—नाट्यशास्त्रम्, ६, ३१-३२.

'विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृत स्थायी भावो रसनाम लभते नरेन्द्रवत्।'

—वही ७, ७-८.

के संस्कृत शब्द इस प्रकार हैं—"व्यभिचारिण इदानीं वक्ष्याम. । अत्राह । व्यभिचारिण इति कस्मादुच्यते । वि अभि इत्येतावुपसर्गौ । चर् गतौ धातु । धात्वर्थवागङ्ग-सत्त्वोपेतान् विविधमभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिण. । चरन्ति नयन्तीत्यर्थ । कथं नयन्ति ? उच्यते । यथा सूर्य इद नक्षत्रमम् वामर नयतीति । न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते । किन्तु लोकप्रसिद्धमेतत् । यथाय सूर्यो नक्षत्रमिद वा नयतीति एवमेते व्यभिचारिण इत्यवगन्तव्या । प्रति व्यभिचारिणस्त इमे एवं गृहीतास्त्रयस्त्रि-शद्भावाः ।" (नाट्यशास्त्रम्)

उपरिलिखित पंक्तियों से प्रतीत होता है कि 'व्यभिचारी' शब्द की सार्थकता, रस की निष्पत्ति के निमित्त भरत मुनि को स्पष्ट थी । उन्होंने 'चर्' का अर्थ 'नी' धातु से किया है, 'चरति' अर्थात् 'नयति'। परन्तु यदि 'चर' को चलने के अर्थ मे ग्रहण किया जाय, अर्थात् चरति का पर्याय चलति अथवा गच्छति बताया जाय[1] (चर् गतौ), तो अभीष्ट तात्पर्य को स्पष्ट करने मे सूर्य और नक्षत्र की उक्त कल्पना न करनी पडे ।

क्या संचारी और व्यभिचारी केवल पर्याय है ? उपर्युक्त विवेचन का आशय है कि संचारी और व्यभिचारी दोनों ही भाव है और इस दृष्टि से वे पदार्थत एक ही है । व्यक्ति-विशेष किसी का पुत्र, किसी का भाई और किसी का पिता होता है । इसी प्रकार वही भाव जो किसी निर्दिष्ट रस की निष्पत्ति के लिए तत्सम्बन्धी स्थायी भाव की ओर तत्सम्बन्धी विभावानुभाव के साथ प्रवृत्त होता है, उसे व्यभिचारी भाव कहते है । जो भाव रस-निष्पत्ति मे सहयोग नही देते, वे संचारी मात्र है । अतएव सभी व्यभिचारी संचारी है, किन्तु सभी संचारी व्यभिचारी नही होते ।

(इ) अनुभाव

अनुभाव=अनु+भाव । 'अनु' उपसर्ग है जिसका अर्थ है 'पीछे' । अतएव पूरे शब्द का अर्थ है वह भाव जो पीछे उत्पन्न हो ।[2] किसके पीछे ? संचारिभाव के पीछे । मन में जब किसी संचारी (इमोशन) का उदय होता है तो उसकी प्रतीति शरीर पर भी होती है, यथा जब मन मे क्रोध की उत्पत्ति होती है तो क्रोध-कर्त्ता के शरीर पर उसकी अभिव्यक्ति कुछ इस प्रकार से होती है . आँखो की लालिमा, भृकुटि-संकोच, मुट्ठी बाँधना, दाँत किटकिटाना ये सब लक्षण क्रोध के अनुभाव है, क्योंकि ये सब क्रोध के पश्चात् उत्पन्न होते है । यदि शत्रु और उसके वचन क्रोध के विभाव है, तो नेत्र-

१. 'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते, · यजुर्वेद ३१, १९.

२. 'अनु पश्चाद् भावः उत्पत्ति येषामनुभावयन्ति इति वा व्युत्पत्तेः' : रसगङ्गाधर
'अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मक.' . दशरूपक, ४,३.

ालिमा, भृकुटि-संकोच उसके अनुभाव हैं। यदि विभाव संचारिभाव का कारण है ो अनुभाव सचारिभाव का कार्य है।

अनुभाव-प्रकार

भरत मुनि ने वाचिक, आंगिक और सात्त्विक नामक तीन प्रकार के अनुभाव ताये है (ना० शा० ७,३-४)। भानुदत्त ने अनुभावो के चार प्रकार बताये है— ायिक, मानसिक, आहार्य और सात्त्विक। शारदातनय, शिगभूपाल, रूपगोस्वामी ने नुभाव-विभाजन किंचित् भिन्न रूप से किया है। काव्यदर्पण के अनुसार हाव भी नुभाव है। अनुभाव पॉच प्रकार के होते है —(क) कायिक : तन की कृत्रिम (बनावटी) चेष्टाएँ, यथा कटाक्ष, भ्रू-भग, मुट्ठी बाँधना। (ख) मानसिक : अन्तः- रण की भावना के अनुकूल मन मे हर्ष, विपाद आदि के उद्वेलन को मानसिक अनुभाव हते है, यथा हर्ष-विषाद का उद्वेग, (ग) आहार्य अर्थात् भावानुकूल कृत्रिम वेश- रचना (घ) वाचिक अर्थात् वाणी का लोच अथवा उसकी उग्रता, (ङ) सात्विक : र्थात् सात्विकभावोत्पन्न अनुभाव। ये भरत के अनुसार आठ प्रकार के होते है— १ स्तम्भ, अर्थात् शारीरिक और इन्द्रियो के व्यापार का अवरोध, २ स्वेद, सीना, ३ रोमाञ्च, ४ स्वर भंग, अर्थात् वैस्वर्य, गद्-गद्-वाक्य-स्खलन, ५ ेपथु अर्थात् कंपन; ६ अश्रु; ७ वैवर्ण्य अर्थात् कान्तिहीनता, ८ प्रलय अर्थात् ानशून्यता, अथवा शोक-हर्ष की अधिकता से संज्ञाहीनता, ९ जृ भा अर्थात् जभाई। उक्त अनुभावो मे से 'कायिक' नितान्त शारीरिक और ऐसे बनावटी है, जिनका कोई स्पष्ट सम्बन्ध मन से नही। 'मानसिक' का स्पष्ट-सम्बन्ध शरीर से नही, यथा उल्लास की अथवा वैर की कोई स्पष्ट शारीरिक अभिव्यक्ति नही। मनोजन्य आवेग की भिव्यक्ति 'सात्त्विक' के द्वारा होती है। ग्रीष्म के कारण स्वेद और शीत के कारण रोमाञ्च 'कायिक' है; परन्तु भय और हर्ष के कारण उत्पन्न स्वेद और रोमाञ्च 'सात्त्विक' अनुभाव है। समाहित मन से सत्त्व की निष्पत्ति होती है। भरत कहते हैं : सत्त्व नाम मन. प्रभवम्। तच्च समाहित मनस्त्वात् उत्पद्यते (ना० शा० ८, ९२-९३) भरत ने प्रथम आठ सत्त्वो को अनुभावो से अलग गिनाया है। भानुदत्त ने 'जृम्भा' को जोड़ कर सात्त्विक-सख्या नौ कर दी है।

(इ) **स्थायिभाव**—जिस प्रकार नमक की खान बाहर से आई हुई सभी वस्तुओ को आत्मसात् कर लेती है, उसी प्रकार जो भाव अन्य विरुद्ध एवं अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न नहीं होता, प्रत्युत विपरीत भावों को भी अपने में शीघ्र मिला लेता है, उसे स्थायिभाव कहते हैं। 'दशरूपक' मे धनञ्जय के वचन हैं :

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा, भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान्, स स्थायी लवणाकरः ॥ ४, ३५.

भरतमुनि के अनुसार स्थायिभाव रस का उपादान कारण है, जैसा उनके इस कथन से स्पष्ट है कि जैसे सामान्य मनुष्यो से नरेन्द्र तथा शिष्यो से गुरु श्रेष्ठ होता है, वैसे ही स्थायिभाव अन्य भावो की अपेक्षा अधिक शक्ति अथवा गुरुत्व रखता है। भरत के अनुसार आठ स्थायिभाव होते है : रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय।

स्थायिभावों मे तीन प्रमुख विशेषताएँ होती है—(१) आस्वाद्यत्व, अथवा आस्वादनीयता; (२) उत्कटत्व, प्रबलता अथवा प्रभाव डालने की शक्ति जिसके कारण वह सजातीय-विजातीय (विरुद्धाविरुद्ध) भावो से तिरोहित नही होता; और (३) सर्वजन सुलभत्व, अर्थात् ये भाव सब मनुष्यो मे समान होते है। कदाचित् इसी कारण अभिनवगुप्त कहते है कि कोई भी मनुष्य वासना-शून्य नही होता—'न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्य कश्चित् प्राणी भवति। इनके अतिरिक्त दो और प्रमुख विशेषताएँ बतायी गयी है—पुरुषार्थोपयोगिता और उचित-विषयनिष्ठत्व (अथवा औचित्य); किन्तु इन दोनों को 'काव्य' के लिए उपयोगी, उचित अथवा 'स्थिर जीवन' समझा जा सकता है, 'स्थायिभाव' के लिए नही।

क्या स्थायिभाव और 'सैंटिमेण्ट' पर्याय है? मेरे विनीत विचार से मूल प्रवृत्तियो के साथ रहने वाले भावो को हम स्थायिभाव कह सकते है। इस दृष्टिकोण से, अभिनव गुप्त के दृष्टिकोण से भी, उन्हे जन्म-जात कह देना समीचीन होगा, यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान तो सैण्टिमेण्ट को अर्जित (एक्वायर्ड) मानता है। 'ए मॉडर्न इंट्रोडक्शन टु साइकोलोजी' मे रेक्स नाइट और मार्गेट नाइट की परिभाषा इस प्रकार है :

"A sentiment is an acquired emotive disposition or organized set of such disposition directed towards an object."

अर्थात् किसी वस्तु (विषय) की ओर प्रेरित किसी अर्जित संवेगात्मक प्रवृत्ति अथवा ऐसी प्रवृत्ति के व्यवस्थित समुदाय को 'सैंटिमैंट' या भावना कहते है। सैंटिमैंट एक तरह का अभ्यास है। अभ्यास का सम्बन्ध किसी विषय-विशेष से होता है, किन्तु भावना का सम्बन्ध समान विषयो से होता है। जो व्यक्ति स्वच्छ वस्त्र पहनते रहते है, उन्हें स्वच्छ वस्त्र पहनने का अभ्यास पड़ जाता है। परन्तु यह आवश्यक नही कि स्वच्छ वस्त्र पहनने वाले सभी व्यक्ति अन्य कार्यों में भी स्वच्छ हो, यथा यह आवश्यक नही कि सभी स्वच्छवेशी छात्रों की पुस्तकें, मेजे और बिस्तर भी स्वच्छ हों; किन्तु जिनमें स्वच्छता की भावना का उदय हो जाता है वे प्रत्येक बात

मे स्वच्छ होते हैं। मूल प्रवृत्तियाँ जन्मजात होती है, किन्तु सैंटिमैंट जन्मजात नही होते।

प्रधान रस और उनके अंग

प्रधान रमो के स्थायी भाव, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, सचारिभाव आदि इस प्रकार है :—

१—शृंगार—यह दो प्रकार का होता है—विप्रलंभ (वियोग)और सभोग(संयोग)।

(क) संभोग शृंगार

स्थायिभाव—रति।

आश्रय एव आलम्बन—नायक-नायिका।

उद्दीपन—(परकीय) वसन्त, चन्द्र, एकान्त, केलि, कुज, उद्यान, कोकिल, भ्रमर, पुष्प, सखी, सखा, चित्रपट-अवलोकन, (स्वकीय) सौदर्य, उत्कृष्ट गुण, समान वय।

अनुभाव—नायक-नायिका का परस्पर दर्शन, भ्रू-भंग, कटाक्ष, अश्रु-विमोचन, विवर्ण, भिन्नस्वरता।

संचारिभाव—उन्माद, व्रीडा, हर्ष उत्सुकता आदि सभी संचारी भाव।

उदाहरण—दूलह श्री रघुनाथ बने इत्यादि (कवितावली)।

(ख) विप्रलंभ शृङ्गार

भेद—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण।

स्थायिभाव—रति

आश्रय और आलम्बन—नायक-नायिका।

उद्दीपन (परकीय)—वसन्त, उद्यान, कोकिल, सखी, सूनी शय्या;

(स्वकीय)—सौन्दर्य, उत्कृष्ट गुण, समान वय।

अनुभाव—अश्रु-विमोचन, वैवर्ण्य।

सचारिभाव—उग्रता, मरण।

दस काम दशाएँ—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता और मृति।

उदाहरण—श्री अयोध्यासिह उपाध्याय का 'प्रियप्रवास' विप्रलंभ शृगार से परिपूर्ण है, विशेषकर पवनदूती और यशोदा-विलाप के प्रकरण।

प्रवर्तक—भरतमुनि।

शृंगार रस में सभी संचारियो का समावेश हो सकता है, अन्य रसो में नही। इस कारण भी शृंगार को रसराज कहा कहा गया है।

२–हास्य रस

स्थायिभाव—हास ।

आलम्बन—भद्दा वेश, भद्दी आकृति ।

उद्दीपन—विकृत चेष्टा आदि ।

अनुभाव—हँसना, मुंह खोलना आदि ।

संचारी—निद्रा, अवहित्था, हर्ष आदि ।

भेद—स्मित, हसित (दाँत दिखायी पड़ना), विहसित (स्वर सहित), अवहसित (सिर. हाथ-पैर हिलने के साथ), अपहसित (आँसू सहित); अतिहसित (अट्टहास)

उदाहरण—'विध्य के बासी उदासी महा०' इत्यादि (कवितावली) शिष्ट हास्य का उत्तम उदाहरण है ।

प्रवर्तक—भरतमुनि

३—वीर रस

स्थायिभाव —उत्साह ।

आलम्बन—शत्रु, प्रतिद्वन्द्वी, दीन, याचक, तीर्थ, पर्व आदि ।

उद्दीपन—विपक्षी का उत्साह-प्रदर्शन, ओजपूर्ण वचन, दु.खावस्था, याचक की दीनावस्था ।

अनुभाव—रोमाच, गर्व-युक्त वाणी, आदर-सत्कार, दयापूर्ण शब्द ।

सचारी—उत्कठा, हर्ष, गर्व, धृति, स्मृति, मति, असूया, आवेग, दया ।

भेद—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, धर्मवीर ।

प्रवर्तक—भरतमुनि ।

४—भयानक रस

स्थायिभाव—भय ।

आलम्बन—अँधेरा, सिंह, सर्प, व्याघ्र, हिंसक प्राणी, श्मशान, भूतप्रेत की आशंका, बलवान् शत्रु, निर्जन स्थान ।

उद्दीपन—असहाय अवस्था, हिंसक जीव की चेष्टा, निर्जनता, विस्मयोत्पादक ध्वनि ।

अनुभाव—कंप, स्वर-भग, भागना, ही-ही करना, वैवर्ण्य, रोमांच, स्वेद, करुणापूर्ण वाक्य ।

सचारी—आवेग, चिन्ता, त्रास, अपस्मार, जुगुप्सा, ग्लानि, शंका, दीनता ।

उदाहरण —'रानी अकुलानी'
'पानी-पानी पानी'.

प्रवर्तक—भरतमुनि ।

५—करुण रस

स्थायिभाव—शोक ।

आलम्बन—इष्टनाश एव अनिष्ट प्राप्ति, मृत व्यक्ति अथवा नष्ट वस्तु, पराभव, बन्धु-विनाश, प्रिय-वियोग, वध, बन्धन, अपघात, पलायन, आपत्ति ।

उद्दीपन—दाहकर्म अथवा मृतव्यक्ति से सम्बन्धित घटनाएँ, प्रियवस्तु-स्मरण, तत्सम्बन्धी वस्त्र, आभूषण, चित्र और घटनाएँ ।

अनुभाव—भाग्य-निन्दा, दैव-निन्दा, पछाड़ खाना, उच्छ्वास, अश्रुपात, रोना, मुखशोषण, वैवर्ण्य, विलाप, त्रस्तगात्रता, छाती पीटना, गहरे साँस, स्मृति विलोप, मूर्च्छा ।

सचारिभाव—निर्वेद, मोह, श्रम, अपस्मार, व्याधि, चिन्ता, ग्लानि, औत्सुक्य, आवेगमय स्मृति, विषाद, उन्माद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, अश्रु, स्वरभेद ।

उदाहरण—लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम का विलाप ।

प्रवर्तक—भरतमुनि । प्रस्तोता . भवभूति ।

६ वीभत्स रस

स्थायिभाव—घृणा (जुगुप्सा) ।

आलम्बन—घृणा को उत्पन्न करने वाली वस्तुएँ और विचार; मल-मूत्र; सडा मांस, रेट-फैपने, ढीड़, चर्बी, रुधिर ।

उद्दीपन—दुर्गन्ध, जलना, गलना, सडना, कीडो का बिलबिलाना, गिद्धो का मास नोंचना, छटपटाना, विकृत रंग-रूप ।

अनुभाव—मुख मोड़ना, साँस रोकना, आँख-नाक बन्द करना, थू-थू करना ।

सचारी—मरण, आवेग, अपस्मार, मोह, व्याधि, निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, वैवर्ण्य, उन्माद, दैन्य ।

उदाहरण—ओझरी की झोरी काँधे० इत्यादि (कवितावली)

प्रवर्तक—भरतमुनि ।

७ अद्‌भुत रस

स्थायिभाव—आश्चर्य, विस्मय ।

आलम्बन—विस्मय पूर्ण वस्तु, अलौकिक घटना ।

उद्दीपन—उस वस्तु की विचित्रता और विशेषता ।

अनुभाव . आँखे फाड कर देखना, रोमाच, स्तम्भ, स्वेद, मुँह फटा रहना दाँतो तले उँगली ।

सचारी : हर्ष, घबडाहट, वितर्क, उत्फुल्लता, जड़ता, दैन्य, आवेग, शका, चिन्ता, चपलता, उत्सुकता ।

उदाहरण लीन्हों उखारि पहार विसाल० इत्यादि (कवितावली)

प्रवर्तक : भरतमुनि ।

८ रौद्र रस

स्थायिभाव . क्रोध ।

आलम्बन विरोधी, शत्रु ।

उद्दीपन · अपकार, अपमान, कठोर वचन (विरोधियो के)

अनुभाव मुखमण्डल की लालिमा, आँखे तरेरना, दाँत पीसना, होठ चबाना, हथियार उठाना, ललकारना, गर्जन-तर्जन, हीनतावाचक शब्दो का उच्चारण ।

सचारी · उग्रता, अमर्ष, चचलता, आवेग, स्मृति, श्रम, असूया, मद, उद्वेग आदि ।

उदाहरण : परशुराम-लक्ष्मण-सवाद ।

प्रवर्तक : भरतमुनि ।

९ शान्तरस

स्थायिभाव : निर्वेद (शम) ।

आलम्बन संसार की असारता, परम तत्त्व का ज्ञान ।

उद्दीपन सत्सग, तीर्थाटन, आध्यात्मिक चिन्तन, पुराण श्रवण, शास्त्राध्ययन, देव-दर्शन, धर्मोपदेश ।

अनुभाव : रोमाञ्च, दुःखित ससार के दर्शन से कातरता, संसार-त्याग, वैराग्य ।

संचारी . हर्ष, स्मृति, धृति, यति, निर्वेद ।

उदाहरण : जय राम रमा रमन समन० इत्यादि (रामचरितमानस)

प्रवर्तक : उद्भट । प्रस्तोता : अभिनव गुप्त ।

१० भक्तिरस

स्थायिभाव : इष्टदेव के प्रति अनुराग अथवा प्रेम ।

आलम्बन : राम, कृष्ण आदि अवतार ।

उद्दीपन : अवतार के अद्भुत कार्य, गुणावली और भक्तों का संग ।

संचारी : उत्सुकता, हर्ष, गर्व, निर्वेद, मति।

अनुभाव : नेत्र-विकास, रोमाञ्च, गद्गद् वचन।

उदाहरण तुलसी और सूर के विनय पद। राम-कृष्ण लीला-परक पद। मीरा का 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई' इत्यादि पद।

११ वत्सल

स्थायिभाव वात्सल्य अथवा वत्सलता अर्थात् माता-पिता अथवा गुरुजनो का प्रेम छोटे के प्रति। 'मंदारमरन्दचम्पू' के अनुसार कार्पण्य। कर्णपूर के अनुसार 'ममकार'।

आलम्बन · पुत्र, पुत्री, शिष्य आदि।

उद्दीपन बाल-चेष्टाएँ खेल-कूद, कौतुक, पढना-लिखना।

संचारी अनिष्ट की आशका, हर्ष, गर्व, आवेग।

भेद सयोग वात्सल्य और वियोग वात्सल्य। वियोग वात्सल्य भी चार प्रकार का है—गच्छत्प्रवास, प्रवासस्थित, प्रवासागत और करुण वात्सल्य।

उदाहरण कबहुँ ससि माँगत आरि करै० इत्यादि (कवितावली)

प्रथमोल्लेखक भोजराज। प्रस्तोता विश्वनाथ।

रसों के देवता

भरत मुनि (६, ४४-४५) के अनुसार रस-देवता इस प्रकार है—विष्णु (शृंगार), प्रमथ (हास्य), रुद्र (रौद्र), यम अथवा वरुण (करुण), महाकाल (वीभत्स), कालदेव (भयानक), महेन्द्र (वीर) और ब्रह्मा (अद्भुत)। अभिनव गुप्त ने शान्त रस के अधिष्ठाता बुद्ध देव को, विश्वनाथ ने नारायण को और हर्षोपाध्याय ने परमेश्वर को माना है। विश्वनाथ ने जगदम्बा को वात्सल्य का देवता बताया है।

रस-वर्ण

भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र (६, ४२-४३) मे रस-वर्ण इस प्रकार माने है—शृंगार (श्याम), हास्य (सित), करुण (कपोत), रौद्र (रक्त), वीर (गौर) भयानक (कृष्ण), वीभत्स (नील), अद्भुत (पीत)। शृंगार को श्याम रग का क्यो माना गया है, उसे गुलाबी क्यों नही माना गया ? सित और गौर मे क्या अन्तर है ? यह स्पष्ट नहीं। अतएव हमारी कल्पना इस प्रकार है.—शान्त (श्वेत), शृंगार (गुलाबी), हास्य (नारंगी), रौद्र (रक्त), वीर (हरित), करुण (पीत), भयानक (नील), वीभत्स (बैंगनी), अद्भुत (स्वर्णिम)।

रस-मैत्री-विरोध

रस परस्पर शत्रु और मित्र भी होते है। शृंगार और वीर, शृंगार और हास्य, शृंगार और अद्भुत, वीर और अद्भुत, वीर और रौद्र, भयानक और वीभत्स मित्र है। रस-विरोध इस प्रकार है:—शृंगार के विरोधी है रौद्र, करुण (?) भयानक और वीभत्स। हास्य के विरोधी है—करुण और भयानक। करुण के विरोधी है—शृंगार और हास्य। रौद्र के विरोधी है—शृंगार, भयानक और हास्य। वीर के विरोधी है—शान्त और भयानक। भयानक के विरोधी है—शृगार, शान्त, हास्य, वीर और रौद्र। वीभत्स के विरोधी है—शान्त और शृंगार। शान्त के विरोधी है—रौद्र, शृंगार, हास्य, भयानक और वीर, परन्तु अद्भुत रस का कोई विरोधी नही।

रस के निकृष्ट रूप

१—**रसाभास**। इसके द्वारा लोक-मर्यादा का अतिक्रमण होता है, यथा—गुरुजनों के प्रति क्रोध, नीच श्रेणी के जीवो मे और जड़ पदार्थों में शृङ्गार।

नदी उमगि अंबुधि कहँ आई। संगम करहि तलाब तलाई॥
पशु पक्षी नभ जल थल चारी। भए काम वस समय निहारी॥ (रा.मा.)

२—**भावाभास**। भाव के वर्णन मे अनौचित्य, यथा—युद्धवीर राम में कायरता, दानवीर कर्ण मे कृपणता अथवा विदूषक में उदासीनता का प्रदर्शन।

३—**भावशान्ति**। किसी घटना के कारण हृदय के भाव का शान्त हो जाना, यथा—मरीचि के आश्रम में आने पर दुष्यन्त के क्रोध की शान्ति।

४—**भावोदय**। एक भाव के नष्ट होने से दूसरे भाव का उदय, यथा—रामचन्द्र जी के धनुष चढा देने पर परशुराम जी का 'क्रोध' अथवा 'उत्साह' 'विस्मय' में परिणत हो जाता है।

५—**भावसन्धि**। दो भावो का एक ही स्थल में वर्णन, यथा—वीर अभिमन्यु के वध से अर्जुन के शोक का और प्रतिशोध लेने के लिए अर्जुन के क्रोध का वर्णन।

६—**भाव-शबलता**। दो से अधिक भावों की सहसा अभिव्यक्ति, यथा—

कहीं पै कोई स्वर्गीय बाला, सुमंजु वीणा बजा रही है।
कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन, कभी विनय है,
दया दाक्षिण्य का उदय है, अनेकों बानक बना रही है।
भरे गगन में हैं जितने तारे, हुए हैं मद मस्त गत पै सारे,
समस्त ब्रह्माण्ड भर को मानों दो अंगुलियों पर नचा रही है।

रस की उत्पत्ति

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विभाव, संचारी, अनुभाव और स्थायी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, किन्तु संचारी और स्थायिभाव की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस विषय पर भरत मुनि ने कोई प्रकाश डालना उचित न समझा। स्यात् इस कारण कि मनोभाव तो सभी मनुष्यो मे जन्म-जात होते है, किन्तु भरत मुनि ने रस-निष्पत्ति का रूपक बाँधने समय षड्रस की चर्चा अवश्य कर दी है। मेरी ऐसी कल्पना है कि मानव-विकास-क्रम में षड् रसो के आधार पर ही काव्यरस की कल्पना की गयी है : शान्त (फीका), शृगार (मधुर), हास्य (अम्ल), रौद्र (चरपरा) वीर (लवण), करुण (कडवा) भयानक (मीठा), वीभत्स (कषाय अर्थात् कसैला), अद्भुत (आमलकीय)।

भरत मुनि ने शृगार से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्भुत की और वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति बतायी है। (नाट्यशास्त्र ६, ३९)।

रस-विकास के सम्बन्ध में हमारी कल्पना इस प्रकार है। शान्त मानसरोवर के तुल्य है जिसका जल फीका है। उसमे से रस-नदी की धारा निकलती है जो पुन. उसी मे समा जाती है। भूमि-भेद से इस रस नदी का जल मधुर, अम्ल, तिक्त होता जाता है। अतएव शान्त (फीका) से शृगार (मधुर) की, शृंगार से हास्य (अम्ल) की, हास्य से रौद्र (तिक्त) की और रौद्र से वीर (लवण) की, वीर से करुण (कटु) की, करुण से भयानक (मीठा) की भयानक से वीभत्स (कषाय) की और वीभत्स से अद्भुत (आमलक) की, अद्भुत से भक्ति (मधुर) की उत्पत्ति होती है और भक्ति का समावेश शान्त मे हो जाता है।

रस-संख्या

वाल्मीकि ने 'रामायणम्' के चतुर्थ सर्ग के नवम श्लोक मे शृंगार, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक, वीर का उल्लेख किया है। भरत मुनि ने शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स ये चार प्रमुख रस माने है और चार गौण रस जो उनसे उद्भूत है, वे क्रमश: है : हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक। इस प्रकार भरत मुनि ने केवल आठ रसो को माना है।

किन्ही विद्वानो के अनुसार उद्भट ने शान्त रस की उद्भावना की; किन्तु अभिनव गुप्त शान्त रस की उत्पत्ति भरत मुनि के 'निर्वेद' से मानते है। आनन्दवर्द्धन ने शान्त रस को सर्वश्रेष्ठ रस माना और अभिनव गुप्त ने प्रबल तर्कों के द्वारा उसकी प्रतिष्ठा की।

परन्तु शान्त रस के विरोधी इस प्रकार तर्क करते है। प्रथमतः, शांत रस भरत-सम्मत नही। परन्तु यह तर्क बडा लचर है। यदि भरत मुनि के कहने से कोई बात छूट गयी हो, तो उसके सुझाव को अनुचित नही कहा जा सकता। द्वितीयतः, शान्त रस विकार-जनक न होने के कारण सार्वजनीन नही। नाटक में इसका अभिनय नही हो सकता, अतएव इसका कोई प्रयोजन भी नही, किन्तु इस आक्षेप के समाधान मे यह कहा जा सकता है कि नाटक तो काव्य का एक रूप है, काव्य के अन्य रूपों मे शान्त रस का उपयोग किया जा सकता है। तृतीयतः, शान्त रस मे राग-द्वेष की समाप्ति होती है, किन्तु संसार तो रागद्वेष से विहीन नही, अतएव इसका मर्मस्पर्शी सवाद संभव नही। वास्तव मे शान्तरस मे सभी रसो का समावेश इस प्रकार रहता है, जिस प्रकार श्वेतरग मे अन्य सभी रंगो का। यह रस सभी रसो की साम्यावस्था है। काव्य मे तो किसी-न-किसी प्रकार के उद्वेग अथवा सवेग की अभिव्यक्ति होती है। अतएव यह विचार का विषय है कि क्या वस्तुतः काव्य मे शान्त रस की अभिव्यक्ति हो सकती है, क्योकि वह तो रस-साम्यावस्था के कारण अनिर्वचनीय है, अतएव केवल आस्वाद्य है, अभिव्यग्य नही। चतुर्थतः, यह कहा जाता है कि शान्त रस का अन्तर्भाव वीर अथवा वीभत्स रस मे हो सकता है, किन्तु ऐसा कहने की अपेक्षा यह कहना ठीक होगा कि वीर और वीभत्स रस का समावेश अन्य रसो की भाँति शान्त रस में होता है। हमारे विनम्र विचार से शान्तरस सब रसो का जनक है, किन्तु वह स्वयं अनिर्वचनीय है। वीभत्स की परिसमाप्ति अन्ततः शान्तरस में हो सकती है। भक्ति रस शान्तरस के निकटतम है।

भक्ति रस

भक्ति रस का सकेत दण्डी ने किया है। यह प्रेयोऽलंकार पर आधृत है। दण्डी का वचन है : 'भक्तिमात्र समाराध्य सुप्रीतश्च ततो हरि'। दण्डी के अनुसार भक्ति और प्रीति परस्पर पर्याय है। अतएव वे देवता-विषयक रति को शृंगार से भिन्न समझते है। रुद्रट ने सर्व प्रथम प्रेयान् नामका नवीन रस माना। मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति को ब्रह्मानन्द सहोदर समझा, किन्तु रूप-गोस्वामी ने समाधिजन्य ब्रह्मानन्द को परमाणु के समान भी नही माना ; वे तो भक्ति को ज्ञान और कर्म से अधिक अच्छा मानते है। भक्ति सर्वश्रेष्ठ रस है, क्योकि उनके अनुसार भक्तिरस मे नितान्त सुख है, किन्तु अन्य रसों में पूर्ण सुख नहीं मिलता। रूपगोस्वामी के विचार से कोई भी सासारिक व्यक्ति भक्ति-पूर्ण रचना नही कर सकता, क्योकि ऐसी रचना के निमित्त सर्वप्रथम श्रद्धा, तदनन्तर रति और तत्पश्चात् भक्ति अनुक्रमित होती है। अतएव भक्ति रस को शृंगार रस के अन्तर्गत नही माना जा सकता। भक्त-स्वभाव

के अनुसार भक्ति (रस) के पाँच भेद हैं—शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता। इनमे शान्ता सबसे श्रेष्ठ है, और कान्ता-विषयक भक्ति शृंगार का नाम ग्रहण कर सकती है। भक्ति रस का स्थायिभाव देवादि-विषयक रति है, यद्यपि रूप-गोस्वामी के अनुसार केवल कृष्ण-विषयक रति भक्तिरस का स्थायिभाव है। इस रस के आलम्बन श्रीकृष्ण है ; उद्दीपन तुलसी-चन्दन आदि पूजा सामग्री है, हर्षाश्रु, नेत्र-विकार आदि इसके अनुभाव है तथा हर्ष, गर्व, चिन्ता, स्मृति, दैन्य, निर्वेद आदि संचारिभाव है।

भक्तिरस सबको स्वीकार नही। अभिनव गुप्त ने धृति, मति, स्मृति और उत्साह में भक्ति का अन्तर्भाव करके भक्ति रस को शान्त रस के अन्तर्गत मान लिया है। धनञ्जय ने भी भक्ति को केवल भाव माना है और उसका समावेश हर्ष, उत्साह आदि में ही कर लिया है। भोज ने रसो की सख्या तो बढा दी, किन्तु उन्होने भक्ति को रस नही माना। मम्मट उसे देवता-विषयक रति ही मानते है। विश्वनाथ ने भक्ति को स्थान नही दिया। यद्यपि जगन्नाथ पण्डित ने भक्ति का समर्थन किया, तथापि उसे रस नही माना, क्योंकि उन्हे यह आशका थी कि यदि रति के भेदोपभेद के अनुसार रस मान लिये जायँगे तो देशभक्ति, गुरुभक्ति, पितृभक्ति, मातृभक्ति आदि नाम के अनेक रस-भेद उठ खड़े होंगे।

भक्तिरस पर अनेक आक्षेप किये जाते है, यथा—प्रथमत, भक्ति रस परम्परानुमोदित नही। द्वितीयत., इसका अन्तर्भाव अन्य रसो मे हो सकता है, अतएव भक्ति को केवल भाव मान लेना उचित है। तृतीयत, भक्ति उत्कृष्ट नही, क्योंकि यह निर्जीव मूर्ति के प्रति निवेदित होती है। चतुर्थत', यह मूल भाव नही है, और पचमत', यह व्यापक भी नही है। इनमे से सर्वप्रथम आक्षेप नितान्त निराधार है, क्योकि साहित्य और समाज निरन्तर परिवर्त्तनशील है और परिवर्तन के साथ ही नवीन मतो की प्रतिष्ठा भी हो सकती है।

वत्सल रस

आचार्य विश्वनाथ ने वत्सल को दशम रस माना है, यों तो इसका उल्लेख रुद्रट कर चुके थे और उद्भट ने इसे अलंकार माना और भाव की श्रेणी मे स्थान दिया। भामह और दण्डी ने इसे प्रेम का उत्कृष्ट अर्थात् प्रियतर रूप समझा है। इस कारण दण्डी ने इसे शृंगार के तुल्य बताया है, यदि शृंगार का स्थायी भाव रति है तो वात्सल्य का स्थायी भाव प्रीति है। अभिनव ने वत्सलता को केवल भाव माना है और भाव मे उसका अन्तर्भाव कर लिया है। मम्मट ने भी अभिनव गुप्त का अनुसरण किया है, परन्तु भोज ने वत्सल को रस माना और विश्वनाथ ने उसकी विशेष

प्रतिष्ठा की। कुछ विद्वान् वात्सल्य का स्थायिभाव कार्पण्य और कुछ ममकार मानते हैं, किन्तु विश्वनाथ वत्सल को स्थायिभाव मानते है। उनके अनुसार वात्सल्य का देवता जगदम्बा है और इसका वर्ण पद्मगर्भ छवि के समान है।

विश्वनाथ वात्सल्य के दो भेद मानते है—संयोग वात्सल्य और वियोग वात्सल्य; और उन्होने वियोग के भी चार भेद इस प्रकार किये है—१ गच्छत्प्रवास, यथा—राम वन-गमन के समय दशरथ-कौशल्या का विलाप, अथवा कृष्ण के मथुरा-गमन के समय यशोदा का विरह। २ प्रवास-स्थित, यथा—राम-वन-गमन के पश्चात् कौशल्या का विलाप, जिसकी अभिव्यक्ति गोस्वामी तुलसीदास ने इस प्रकार की है, 'राघौ एक बार फिरि आवो।' ३ प्रवासागत, यथा. राम के वन से लौट आने पर कौशल्या का मिलन, जिसकी अभिव्यक्ति तुलसी ने इस प्रकार की है, 'कौशल्यादि मातु सब धाई, निरखि बच्छ अनु धेनु लवाई। अति सुकुमार युगल मेरे वारे, निसिचर सुभट महाबल मारे' इत्यादि। ४ करुण वात्सल्य, यथा कृष्ण के मथुरा चले जाने पर यशोदा का विरह।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने वात्सल्य को पृथक् रस घोषित किया है, क्योंकि वात्सल्य का रसास्वाद पानक रस के समान स्पष्ट झलक आता, हृदय मे प्रवेश करता, सर्वांग को सुधारस से सिंचित करता, अन्य वेद्य-विषयो को ढक लेता, ब्रह्मानन्द के समान अनुभूत होता तथा अलौकिक चमत्कृति से युक्त रहता है। कुछ उच्चकोटि के विद्वान् इसे पृथक् रस इस कारण मानने है कि त्रिविध एषणाओ मे पुत्रैषणा का भी स्थान है। काम के पश्चात् इसी का स्थान है जो रति से कुछ ही कम है।

मेरे विचार से प्रेम के दो रूप हो सकते है, अर्थात् (क) समान का प्रेम समान के प्रति, अथवा (ख) समान का प्रेम असमान के प्रति। पहले के दो भेद हो सकते हैं—(१) समान लिंगो का परस्पर प्रेम, यथा—मित्रो का स्नेह अथवा सहेलियो का सौहार्द्र, तथा (२) भिन्न लिंगों का परस्पर प्रेम, यथा—नारी की रति पुरुष के लिए अथवा पुरुष की रति नारी के लिए। असमानो के प्रेम के भी दो रूप हो सकते है—(१) बड़े का प्रेम छोटे के प्रति, यथा—माता, पिता अथवा गुरु का प्रेम अपनी सन्तान अथवा शिष्य के लिए; ऐसे प्रेम को वात्सल्य कहते है, और (२) छोटे का बड़े के लिए; यथा—अपने माता, पिता अथवा गुरु के लिए सन्तान अथवा शिष्य का प्रेम। ऐसे प्रेम को श्रद्धा कहते है। भक्ति श्रद्धा का ही एक भेद है। श्रद्धा महापुरुषों के लिए होती है, भक्ति देव अथवा ईश्वर के लिए। प्रेम की क्रिया है आकृष्ट होना या आकृष्ट करना और इस क्रिया का उद्देश्य है—समीकरण अथवा तद्रूपता (एसिमिलेशन)।

इस प्रकार के समीकरण की प्राप्ति भिन्न लिंगो के प्रेम के द्वारा सम्भव है, क्योकि ऐसी दशा में ही शारीरिक और मानसिक समीकरण की पूर्णता हो सकती है। अन्य प्रकार के प्रेमों मे केवल शारीरिक या केवल मानसिक समीकरण सम्भव है।[1]

ऐसी धारणाओ के कारण मै वात्सल्य और भक्ति को प्रेम का एक रूप मानता हूँ।

करुण रस का आस्वाद

यदि रस का अर्थ आनन्द किया जाय, जैसा कि साधारणत. किया जाता है, तो क्या करुण रस को रस कहा जा सकता है? क्या 'करुण' और 'रस' इन दोनो मे पारस्परिक विरोध (Contradiction in terms) नही? करुण रस का अंग्रेजी पर्याय है 'ट्रेजिक प्लैजर'। 'ट्रेजिक' का अर्थ है शोक और 'प्लैजर' का अर्थ है प्रसन्नता। कुछ विद्वान् 'करुण' का आस्वाद दु खात्मक मानते है, क्योंकि इसका स्थायिभाव 'शोक' है, किन्तु कुछ आचार्य इसको उसी भाँति सुखात्मक मानते है, जिस प्रकार शृगार, हास्य आदि को।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार करुण, भयानक, रौद्र और वीभत्स दु:खात्मक रस है। उनकी तर्क-धारा इस प्रकार है। प्रथमत, करुण, भयानक आदि रसों के द्वारा सहृदयों में दु खद दशा उत्पन्न होती है। सीता के हरण से अथवा रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या-विलाप से किसी सहृदय को सुख नही पहुँचता। द्वितीयत, काव्य मे लौकिक व्यवहार का यथार्थ चित्रण होना है, अर्थात् सुखो का वर्णन सुख रूप मे और दु:खो का दु ख-रूप मे होता है। यदि दु खात्मक चित्रण से प्रेक्षक को आनन्द प्राप्त होता है तो क्या वह चित्रण वास्तविक समझा जाना चाहिए? दु खात्मक चित्रण मे तो दु ख ही उत्पन्न होना है। तृतीयत, रस को सुखात्मक मानने वाले ऐसा समझते है कि जिस प्रकार किसी दु खी व्यक्ति को अन्य दु खी व्यक्ति से मिल कर सान्त्वना मिलती है, उसी प्रकार नाटक के करुण, वीभत्स आदि रसो से सुख की प्राप्ति होती है, दु.ख की नही। इस तर्क का खण्डन करते हुए रामचन्द्र-गुणचन्द्र कहते है कि करुण दृश्य को देखकर प्रेक्षक की सहानुभूति दु खपूर्ण ही होती है। चतुर्थत, यद्यपि करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक रस से दु.ख ही होता है, तथापि सहृदय को जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह केवल कवि या नट के चमत्कार से।

रामचन्द-गुणचन्द्र से पहले भी ऐसे वचन मिलते है, जिनसे यह प्रतीत होना है कि रस सुख-दु ख-रूप होते है, तथापि रामचन्द्र—गुणचन्द्र ने ऐसे वचनो को और

१ द फिलॉस्फी ऑव लव. इंडियन फिलोसोफिल कांग्रेस १९३८ ई०

अधिक स्पष्टता प्रदान की है, परन्तु उनके सभी तर्कों मे यही धारणा विद्यमान है कि लौकिक व्यवहार और कवि-कृति मे कोई अन्तर नही, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है, क्योकि रस की सुखात्मकता का समर्थन अनेक रूपो मे उपलब्ध होता है, यथा :—

१—**अलौकिकतावाद** : काव्य का रस अलौकिक है। दुःख से दुःख की उत्पत्ति होती है, यह नियम लौकिक है, किन्तु कवि की अलौकिक प्रतिभा के द्वारा दुःख से सुख की उत्पत्ति सभव है, यथा पक से पकज। काव्य की यही अलौकिकता है—दु ख से सुख।

२—**साधारणीकरणवाद** : भट्टनायक के अनुसार विभावादि का साधारणीकरण होता है, जिसके कारण वे भोग्य बन जाते है। उनकी विशिष्टता अथवा व्यक्ति-सम्बन्ध नाश को प्राप्त होते है अतएव वे अपने सामान्य रूप मे उदात्त और अवदात हो जाते है। सतोगुण के उद्रेक से विभावादि भाव साधारणीकृत रूप मे आनन्दप्रद होते है।

३—**अभिव्यक्तिवाद** . अभिनवगुप्त आदि अभिव्यक्तिवादियो का कथन है कि रस की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नही। उनकी धारणा के अनुसार यदि उत्पत्ति का सिद्धान्त माना जाय तो शोक मे शोक की उत्पत्ति होगी। नाट्य के प्रभाव से प्रेक्षक मे रजोगुण और तमोगुण का तिरोभाव और सतोगुण का उद्रेक होता है, जिसके कारण दु.खद भावो की कटुता स्वय नष्ट हो जाती और आनन्दमयी भावना अवशिष्ट रहती है।

४—**कलावाद** शारदातनय ने शैव दर्शन के आधार पर यह बताया है कि ससार दु ख, मोह आदि से कलुषित है, फिर भी राग, विद्या और कला इन तीनो के द्वारा जीवात्मा संसार का उपभोग करता है। राग सुखात्म का अभिमान है; विद्या राग का उपादान है, ऐसा उपादान जिसके द्वारा अविद्या से आच्छन्न चैतन्य का ज्ञान अव्यक्त से व्यक्त हो जाता है और कला आत्मा को उज्ज्वल करती है। इसी प्रकार प्रेक्षक भी शोक, भय, ग्लानि आदि मे निष्पन्न करुण, भयानक आदि रसों का चर्वण राग, विद्या और कला अपने इन तीन तत्वों के द्वारा करता है। शारदातनय का यह मत भाववादियो के अनुकूल ही है।

५—**चमत्कारवाद** रुद्रभट्ट और नाट्यदर्पण के दोनों लेखक रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने इस पर नवीन दृष्टि से प्रकाश डाला है। उनके अनुसार रस दोनों प्रकार का है—सुखात्मक और दुःखात्मक। शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्‌भुत और शान्त सुखात्मक रस है; तथा करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक दु खात्मक रस है।

यदि रस दुःखात्मक है तो दर्शक या पाठक इनकी अनुभूति क्यो चाहता है ? यह तो दुःखद ही होगी। रामचन्द्र-गुणचन्द्र इस शका के समाधान मे कहते है कि वस्तु के यथार्थ प्रदर्शन मे कुशल कवि और नाटक के द्वारा करुण, रौद्र आदि रसों में चमत्कार उत्पन्न होता है और प्रेक्षक उसी चमत्कार के लोभ से करुण दृश्यो को देखता है। मिर्च की चरपराहट से पानक मे स्वाद आता है और दुःख के तीक्ष्ण आस्वाद से अनुभूति सुखद हो जाती है।

६—**अभिनय-नैपुण्य**. प्रेक्षक करुण रस मे वस्तुत आनन्द का अनुभव नही करता, वह तो अभिनेता की कला से चमत्कृत होता है और ऐसे चमत्कार से उसे आनन्द की केवल भ्रान्ति अथवा प्रतीति होती है।

७—**वैविध्यवाद** जीवन मे विविधता है, एकतानता नही। षड् रसो मे मधुर रस है तो कटु और कषाय भी है। इसी प्रकार काव्य के रसो मे जहाँ शृंगार का सुख है, वहाँ करुण अथवा भयानक आदि की कटुता भी है।

८—**नैराश्यवाद** भारत के सभी दर्शन त्रिविध दुःख[1] की स्थिति को मानते है और उस दुःख का निवारण करने के लिये यहा दार्शनिक चर्चा का सूत्रपात हुआ था। बौद्ध दर्शन के अनुसार भी दुःख ही प्रथम आर्य सत्य है। इसका सम्यक् ज्ञान होना चाहिए, क्योकि सम्यक्ज्ञान प्रथम सिद्धि है, जिस पर अन्य सिद्धिया आश्रित है। करुण जीवन की प्रथम अनुभूति है। सत्य की प्राप्ति मे जो आनन्द छिपा हुआ है, उसका आधार करुण है। योरुप के दर्शन-जगत् मे दुःखवाद का विवेचन हुआ है। जर्मनी के महान दार्शनिक शोपनहौर कहते है कि त्रासदी जीवन के गभीर और दुःखमय रूप को महत्ता प्रदान करती और ससार की असारता को उपस्थित करके अन्तिम सत्य को प्रकट करती है। इसी सत्य की उपलब्धि से प्रेक्षक को आनन्द की प्राप्ति होती है। परन्तु श्लेगल के अनुसार इस मानव-जीवन का सचालन अदृष्ट के द्वारा होता है। इस अदृष्ट की तुलना मे मनुष्य की शक्ति और ऐश्वर्य बडे तुच्छ है; किन्तु यह विश्वास कि हमारा सचालन अदृष्ट करता है लाभकारी भी है; क्योकि उसी के कारण दुःख मे धैर्य की प्राप्ति है और यह सुखद आशा रहती है कि दुःख के पश्चात् सुख की प्राप्ति होगी। श्लेगल की यह धारणा भारतीय भाग्यवाद से मेल खाती है।

९—**सहानुभूतिवाद** : त्रासदी मे हमे यह पता चलता है कि दुःख के भोगने वाले हम अकेले नही है, बल्कि और भी है, अर्थात् हम जैसे साधारण व्यक्तियो पर ही सकट नही आते, किन्तु महापुरुषों पर भी आपत्तियाँ आती है। त्रासदी मे करुण दृश्यो को देखकर हमे उक्त बात को जानकर एक प्रकार का आनन्द होता है।

---

१. आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक।

१०—**आशावाद** · सुख और दुःख सहोदर है। सुख मे दुःख का और दुःख में सुख का अनिवार्य साहचर्य और आभास रहता है। जिस प्रकार विरह में मिलन निहित रहता है, उसी प्रकार दु ख मे सुख छिपा रहता है।

११—**विरेचन सिद्धान्त :** यूनान के आचार्य अरस्तू कहते है कि करुण दृश्य देखने से बाह्य उत्तेजना, बाह्य उद्वेग की शान्ति होती है, इस शान्ति के द्वारा मन की शान्ति और चित्त की शुद्धि होती है। त्रासदी के द्वारा हमारे कटु भाव उत्तेजित होते और तदनन्तर शान्त हो जाते है, जिसमे चित्त को शान्ति प्राप्त होती है।[1] डॉ० नगेन्द्र कहते है कि अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त अभावात्मक है, जब कि भारतीय दर्शन के अनुसार आनन्द भावात्मक है।

निष्कर्ष

जिस प्रकार सुखद रसों का आस्वाद आनन्दप्रद है, उसी प्रकार करुण रस का आस्वाद भी आनन्द-प्रद है। करेला खाने मे कड़वा होता है, किन्तु जब उसको नमक तथा अन्य मसालो के साथ कडाही में तल लेते है, तो लोग उसको बडे स्वाद से खाते है। उसी प्रकार शोक नामक स्थायिभाव का आस्वादन कटु होता है, किन्तु वह विभाव, अनुभाव और संचारिभाव के द्वारा स्वादिष्ट लगने लगता है। जिस प्रकार करेला तल कर आस्वाद्य बन जाता है, उसी प्रकार कटु स्थायिभाव भी रसरूप को धारण करके आस्वाद्य बन जाता है। अतएव कोई आश्चर्य नही कि वाल्मीकि का शोकत्व श्लोकत्व को प्राप्त हुआ।

रसराज कौन ?

प्राक्कथन

सर्वश्रेष्ठ रस कौन सा है, इस विषय मे भिन्न मत है, क्योकि कोई शृंगार को, कोई करुण को, कोई वीर को और कोई हास्य को सर्वोपरि मानता है। अभिनव गुप्त शान्त रस में ही सब रसो का अन्तर्भाव कर लेते है, अतएव उनके अनुसार शान्तरस ही सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु जैसा कि हम विचार कर चुके है, शान्तरस रसों की साम्यावस्था है और यह साम्यावस्था अव्यक्त ही कही जा सकती है, यदि इसका कुछ आभास मिलता है तो वह भक्तिरस मे अथवा प्रार्थना अथवा स्तुति-पूर्ण रचना में। किन्तु काव्य-रस मे कुछ न कुछ 'वेग' रहता ही है। स्थायी और संचारिभाव संवेग ही तो है। शान्तरस में वेग परम अलक्षित रहता है, अतएव काव्य मे उसका इतना ऊँचा

१. विरेचन सिद्धान्त का विवेचन अन्यत्र किया गया है।

स्थान नही, जितना कि दर्शन मे। कुछ विद्वान् वीर रस को इस कारण श्रेष्ठ बताते है कि इससे ससार का हित होता है और 'सहानुभूति, सेवा तथा आत्मत्याग का मार्ग मिलता है'। भवभूति करुण रस को सर्वश्रेष्ठ समझते है। वे कहते है :

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान्विकारान् अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम् ॥उ रा.।

कुछ लोग करुण का सम्बन्ध करुणापति भगवान् से जोडकर करुण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते है। अरस्तू ने करुण और त्रास (pity एव fear) को त्रासदी मे महत्त्व प्रदान किया है, क्योकि उन्होने त्रासदी की आवश्यकता इसलिये समझी कि उसके द्वारा मानव-जीवन के करुण और त्रास का विरेचन होता रहता है। इस कथन से यह तात्पर्य है कि विरेचन का भी कोई उद्देश्य है और वह उद्देश्य है—दु.ख का निष्कासन। भारतीय दर्शन मे भगवान् जहाँ सत और चित् है, वहाँ आनन्दस्वरूप भी। तैत्तिरीय उपनिषद् मे लिखा है . आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, ३,६। आनन्द से सृष्टि उत्पन्न होती है, 'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' (तै० उ० ३,६) मनुष्य की यौन सृष्टि मे भी आनन्द का निवास है। भोजन आदि के ग्रहण मे एवं मल-मूत्रादि के उत्सर्ग मे भी आनन्द की प्रतीति होती है। यहाँ तक कि अन्त मे सभी प्राणी आनन्द में समा जाते है, 'आनन्दं प्रयन्त्यभिसविशन्ति (तैत्ति० ३,६)। जब मानव के सभी कार्य आनन्दमय और आनन्दोन्मुख है तो कवि की सृष्टि भी निरानन्द क्यो हो ? कुछ विद्वान् हास्य को स्वास्थ्य-वर्द्धक और सुखकर मानते है, अतएव इसे रसराजत्व का आसन प्रदान करते है; किन्तु भरतमुनि ने, जैसा कि हम देख चुके है, हास्य को शृंगार की संतान समझा है। दूसरे की वास्तविक अथवा काल्पनिक विकृति ही हास्य का आधार है, अतएव 'हँसी मे खसी' की आशंका रहती है। यदि शृंगार में मिठास है, तो हास्य मे खटास। अतएव उक्त सभी रस रसराज-सिंहासन के अधिकारी नही।

शृंगार का रसराजत्व

शृङ्गार को रसराज मानने के लिये कई कारण उपस्थित किये जाते है। प्रथमतः, शृङ्गार का आधार 'काम' है, जो पशु-पक्षी तथा मानव मे समान रूप से विद्यमान है। चार पदार्थो में भी 'काम' की गणना है। वृहदारण्यक के अनुसार पुरुष काममय है . 'काममय एवायं पुरुष.'। शिवपुराण की धर्मसहिता का वचन है . 'कामः सर्वमय. पुंसां स्वसंकल्पसमुद्भव.'। द्वितीयत· काम सर्वत्र, अर्थात् सभी देशों मे और सभी अवस्था वाले स्त्री पुरुषों, बालको और वृद्धों मे विद्यमान है। काव्यालंकार (१४, ३८) मे रुद्रट के शब्द है : 'अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः। सकल

मिदमनेन व्याप्तमाबाल वृद्धम्'। भोज समझते थे कि अन्य रसों का आस्वाद सभी लोग नही कर पाते। जिसके कारण रामचन्द्र-गुणचन्द्र रसो को सुख-दु.खात्मक मानते है और डॉ० बाटवे आदि तो रौद्र और वीभत्स को रस-कोटि से ही निकाल देना चाहते है। इसी से भोज स्पष्ट कहते है कि शृङ्गार के समान प्रमुखता अन्य रसो में नही मिलती है। ध्वन्यालोक (३,२८) मे आनन्दवर्द्धन स्पष्ट रूप से कहते है कि शृङ्गार रस संसार के सभी पुरुषो के अनुभव का विषय और सब लोगों के मन को हरण करने वाला है। इसी से काव्य मे शृ गार के अगो के समावेश से सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है। तृतीयतः, शृ गार के अनेक भेद होते है। इसके अन्तर्गत अनेक चेष्टाएँ है जिनकी गणना सभव नही। चतुर्थतः, इसके दो पक्ष होते है—सयोग और वियोग। वात्सल्य मे भी दो पक्ष होने है, यद्यपि कुछ विद्वान् इसे शृ गार के अन्तर्गत समझते है। परन्तु अन्य किसी रस मे दोनो पक्ष नही होने। पचमत, शृ गार में कोमलतम भावनाओ की अभिव्यक्ति होती है तथा षष्ठत, इसके अन्तर्गत समस्त सचारिभाव आते है। भरत कहते है 'एवमेष सर्वभावमयुक्त शृ गारो भवति' (६,४५) किन्तु अन्य रसो मे सचारिभावो की सख्या कम होती है। सप्तमत, निर्गुण पथी सन्त तक शृ गार के छीटे से अछूते नही बचे है। कबीर भी अपने को 'राम की बहुरिया' समझते रहे। मर्यादावादी गोस्वामी तुलसीदास अपनी भक्ति के प्रवाह मे शृ गार का पुट देते रहे। धनुष-यज्ञ एव ग्राम-वधू के प्रसगो मे वे कितने सरस हो गये है।

शृङ्गार पर यह आक्षेप है कि वह हमे वासना और विकार के प्रदेश मे ले जाता है। प्लेटो ने भी काव्य पर मिथ्यात्व और कदाचार के आरोप लगाये थे, किन्तु वास्तव मे शृङ्गार इस दोषारोपण का भाजन नही है, ऐसे आरोपण के पात्र शृङ्गारी-काव्य भले ही हो। क्या सूर और तुलसी की शृङ्गार-परक रचनाएँ वासना और विकार को उत्तेजित करती है ?

रसराजत्व की कल्पना का औचित्य

क्या रसराजत्व की कल्पना तर्क सगत है ? डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित का दृढ विचार है कि "रसो मे आस्वाद्यता के विचार से किसी को रसराज और किसी को उससे हीन कह देना उचित नही। आस्वाद के समय सभी एक है और विस्तृत अर्थ मे आस्वाद्यता ही रस है, अथवा रस या आस्वाद्यता पर्यायमात्र है। अत. रस को एक ही मान लिया जाय तो वही तर्कसंगत है।" इस सम्बन्ध मे मै यही कहूँगा कि यद्यपि मैं आनन्द के प्रकार-भेद नहीं मानता, तथापि मै रस और आनन्द को एक नहीं समझता। यदि सन्तरे के शर्बत और अनन्नास के शरबत मे अन्तर है तो करुण और शृङ्गार में भी अन्तर है। षड्रसो के आस्वादन मे प्रकार-भेद है, यद्यपि उनके

आस्वादन से आनन्द की प्राप्ति होती है उसी प्रकार काव्य-रसों का आस्वादन भी विभिन्न होता है, यद्यपि उससे आनन्द की प्राप्ति होती है। अतएव व्यावहारिक दृष्टि-कोण से भी रसराजत्व की कल्पना को असंगत नहीं समझना चाहिए।

रस-निष्पत्ति

प्राक्कथन

भरत ने रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध मे लिखा है . विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति । इस वाक्य मे दो शब्द ध्यान देने योग्य है, वे है 'संयोगाद्' और 'निष्पत्ति' । कुछ आचार्यो ने इन दोनों शब्दों का विभिन्न अर्थ किया है, जिसके कारण इस विषय मे चार वाद उत्पन्न हो गये; वे हैं उत्पत्तिवाद (अथवा आरोपवाद), अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद (अथवा अभिव्यंजनावाद) । इन वादो की चर्चा कुछ विस्तार की अपेक्षा रखती है।

१—**उत्पत्तिवाद** : इस वाद का प्रवर्त्तन भट्ट लोल्लट ने किया। वे निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' और 'संयोग' का अर्थ 'कार्य-कारण' करते है, अतएव यह वाद उत्पत्तिवाद कहलाता है। लोल्लट के अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारीभाव तो कारण है और रस कार्य है। उक्त कार्य-कारण का सम्बन्ध उत्पाद्य और उत्पादक के रूप मे, पोष्य और पोषक के रूप मे अथवा गम्य और गमक के रूप मे होता है। रस और विभाव का सम्बन्ध उत्पाद्य-उत्पादक का है, रस और व्यभिचारी का सम्बन्ध पोष्य-पोषक का है, तथा रस और अनुभाव का सम्बन्ध गम्य-गमक का है। लोल्लट के अनुसार रस वस्तुत ऐतिहासिक नायक और नायिका मे और नायक-नायिका के रूपानुसंधित्सु अभिनेता मे भी विद्यमान रहता है[1]। वह अनुकरण प्रेक्षको के हृदय में चमत्कृति उत्पन्न करके आनन्द को उत्पन्न करता है; वस्तुत प्रेक्षक के हृदय मे रस नहीं होता।

उत्पत्तिवाद पर दो आपत्तियाँ उठायी गयी है। प्रथमत, मूल पात्र (यथा सीता, राम आदि) अभिनेताओं के सम्मुख उपस्थित नही रहते। अतएव उनका अनुकरण संभव नही। इस आपत्ति के समाधान मे यह कहा जा सकता है कि मूल पात्रो का साक्षात्कार कवि के माध्यम से, कल्पना और अनुकरण के द्वारा सभव है। द्वितीयतः, आक्षेप-रूप से, यह कहा जाता है कि (मिथ्या) आरोप से भावनाओ की अनुभूति

१. मम्मट की व्याख्या के अनुसार नट मे रस प्रतीयमान होता है। अतएव गोविन्द ठाकुर ने, इस व्याख्या के आधार पर, भट्ट लोल्लट के मत को आरोपवाद कहा है।

नही होती। पर समाधान-रूप मे यह कहा जा सकता है कि अनेक अभिनेत्रियों के नाम न जानते हुए भी दर्शक उनके अभिनय से प्रभावित होते है। बच्चे भी अवास्तव को वास्तव समझ कर भयानक दृश्य से भयभीत होकर भागने लगते है। अतएव मिथ्या का प्रभाव स्पष्ट है। इत्र कही लगता है, पर उसकी सुगन्धि अन्यत्र व्याप्त रहती है। भट्ट लोल्लट की प्रशस्ति मे यह कहा जा सकता है कि उन्होने रस-निष्पत्ति-विवाद का श्रीगणेश किया, रस-सामग्री का विश्लेपण करके उसके तत्त्वों के क्रमिक महत्त्व को निश्चित किया और मूल पात्रो, नटो एव सामाजिको की अनुभूति और कल्पना का मूल्याकन भी किया, पर उन्होने ऐतिहासिक अथवा मूल पात्रों मे रस की स्थिति को बता कर रस की विषयगतता पर बल दिया और अभिनेता मे आरोपण के द्वारा रस की स्थिति मान कर सामाजिक के रस की उपेक्षा सी की है।

२—**अनुमितिवाद** : यह वाद शकुक का है। ये आचार्य 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' अथवा 'अनुमान' करते है और 'सयोग' का अर्थ 'अनुमाप्य-अनुमापक' सम्बन्ध बताते है। अनुमिति तीन प्रकार की होती है—पूर्ववत्, शेपवत्, सामान्यतोदृष्ट। शकुक के अनुसार रस अनुमाप्य है और विभावादि अनुमापक है, इनमे गम्य-गमक सम्बन्ध है। चित्र-तुरंग-न्याय से[1] निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति है। शंकुक के अनुसार नायक मे स्थायी भाव होता है और दर्शक अभिनेता के अनुकरण से अभिनेता मे उस स्थायिभाव का अनुमान कर लेता है और स्वयं अभिनय को देखकर चमत्कृत हो जाता है।

शंकुक ने नैयायिक शब्दावली मे लोल्लट की बातो को रूपान्तर से उपस्थित कर दिया है। वे अभिनेता मे नायक का आरोपण नही मानते और लोल्लट की भाँति ही इस समस्या को नही सुलझा पाये कि मूल पात्रो के स्थायिभाव की अभिव्यक्ति या अनुमिति से सामाजिक को आनन्द की अनुभूति क्यो होती है। भट्टतौत और अभिनवगुप्त के अनुसार 'चित्र-तुरंग-न्याय' सादृश्य-ज्ञान मात्र है।

३—**भोगवाद** : भोगवाद को भुक्तिवाद भी कहते है। इसके प्रवर्तक भट्टनायक है। इनके अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भोजकत्व' है। 'भोजकत्व' के पर्याय 'भोग' और 'भुक्ति' भी है और 'संयोग' का अर्थ है भोज्य-भोजक सम्बन्ध अथवा भाव्य-भावक सम्बन्ध। भट्टनायक नट के हृदय मे स्थायिभाव की और प्रेक्षक के हृदय में रस की स्थिति मानते है। उनके अनुसार स्थायिभाव से रसोत्पत्ति तक तीन क्रियाएँ

---

१. तस्वीर का घोड़ा न सच होता है, न झूठ और न सशयात्मक, न सदृश; उसकी प्रतीति विलक्षण, अलौकिक और कलात्मक होती है। इसी प्रकार अभिनेतृ-नायक की प्रतीति होती है।

होती है—अभिधा, भावकत्व, भोजकत्व। 'अभिधा' के द्वारा सामान्य और आलंकारिक अर्थों का ज्ञान होता है ; 'भावकत्व के द्वारा विभाव, अनुभाव और सचारिभाव आदि व्यक्तिगत सम्बन्ध से मुक्त होकर साधारणीकृत होते है। देश, काल और व्यक्तित्व की हानि से शकुन्तला, उर्वशी, मालविका, चन्द्रलेखा आदि स्त्रियाँ स्त्री-मात्र रह जाती है। 'भोजकत्व' के द्वारा रस की निष्पत्ति होती है। ब्रह्मानन्द और विषयानन्द मे यह अन्तर है कि पहला तो विरक्ति के द्वारा और दूसरा भोग के द्वारा निष्पन्न होता है। इनमे पहला स्थायी है दूसरा परिवर्तनशील।

भट्टनायक के सिद्धान्त पर कुछ आक्षेप किये जाते है। उन्होने रसोत्पत्ति तक तीन क्रियाएँ मानी है : 'अभिधा', 'भावकत्व' और 'भोजकत्व'। इस पर आक्षेप है कि इनमे 'अभिधा' का उल्लेख तो शब्द-शक्ति के रूप मे होता रहा है, पर 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' भट्टनायक की कल्पनाएँ है, इनके मानने की आवश्यकता भी क्या थी जब कि लक्षणा और व्यंजना शब्द-शक्ति के रूप मे पहले से ही विद्यमान थी। किन्तु हमे स्मरण रखना चाहिए कि 'भावकत्व' सत्त्वोद्रेक के द्वारा अभिधा और भोजकत्व को प्रेक्षको के पास पहुँचा देता है। 'भावकत्व' 'साधारणीकरण' का जनक है। भट्टनायक के विचार बडे मौलिक और व्यापक है, जिनकी महत्ता का उल्लेख 'साधारणीकरण' नामक परिच्छेद मे किया जायेगा।

४ **अभिव्यक्तिवाद** : अभिनवगुप्त के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ है अभिव्यक्ति अथवा व्यंजना, और 'सयोग' का अर्थ है व्यग्य-व्यंजक सम्बन्ध। इस सिद्धान्त के अनुसार सचारी-भावो से पुष्ट स्थायिभाव प्रेक्षक के मन मे रहते है। स्थायिभाव वासना के रूप मे प्रेक्षक मे जन्म से ही उपस्थित रहते है; अभिनेताओ के विभाव और अनुभाव प्रेक्षको मे वासना को प्रेरित करते और अव्यक्त आनन्द को व्यक्त कर देते है। व्यक्त करने का यह कार्य ध्वनि और व्यजना के द्वारा होता है। आधुनिक विद्वानों का समर्थन अभिनव गुप्त को प्राप्त है। इस सम्बन्ध मे अधिक विचार 'साधारणीकरण' नामक आगामी अध्याय मे किया जायगा।

भरत का मत

भरत मुनि ने रस-निष्पत्ति को समझाने के लिए गुडादि-निष्पन्न व्यजन का दृष्टान्त दिया है (ना० शा० ६, ३१-३२), जिसकी चर्चा विस्तार से की जा चुकी है। भरत के अनुसार रस की निष्पत्ति रंगमच पर विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव एवं सात्त्विकों से तथा नट-कौशल के द्वारा होती है और इस निष्पन्न रस का

आस्वादन सुष्ठुमन वाले प्रेक्षक दूर से ही उसी प्रकार कर लेते है जिस प्रकार शरबत या पानक किचिन मे कुक के द्वारा प्रस्तुत होते है और डाइनिङ् रूम मे प्रभु जन उनका आस्वाद लेते है। रस ज्ञान की वस्तु नही, अनुभव की है, अतएव प्रेक्षको को रसानुभूति कैसे होती है, इस प्रश्न को भरत ने नही उठाया, क्योकि कदाचित् वे समझते होंगे कि इस प्रश्न का सीधा-सादा सा उत्तर है—सहानुभूति। कटारा, रसगुल्ला आदि नामो के सुनने मात्र से बालको के मुंह मे पानी भर आता है, तो क्या अभिनय से प्रेक्षको को अभिनीत रस की प्राप्ति नही हो सकती ? भरत के शब्द स्पष्ट है 'नाना भावाभिनयव्यञ्जितान् वागगमत्त्वोपेनान् स्थायभिावानास्वादयन्ति, सुमनस प्रेक्षका' (ना० शा०, ६, ३१-३२)। इससे स्पष्ट है कि प्रेक्षकों को रस की अनुभूति होती है। इसी कारण तो उन्होने नाट्य-रसो की व्याख्या की है—'तस्मात् नाट्य-रसा इति व्याख्याता।

दो बड़े रस के भरे, एक कहने वाले को, एक सुनने वाले को।[1]

———

१. इस उक्ति का प्रयोग हमारी बुआ रुक्मिणीदेवी उस प्रत्येक कहानी के अन्त में करती थी जो वे मुझे मेरे शैशव मे सोते समय सुनाया करती थी। वे बहुत पढ़ी-लिखी न थीं, अतएव इस उक्ति को परम्परागत मानना सगत होगा।

साधारणीकरण

प्राक्कथन

'साधारणीकरण' का सूत्रपात भट्टनायक ने किया[1]। अभिनवगुप्त ने उस पर अपने विचार प्रकट किये, जिसकी चर्चा मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ ने की, और उनके टीकाकार अथवा आलोचको ने उनके भावो को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। आधुनिक युग मे डॉ० श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प० केशवप्रसाद मिश्र, श्री रामदहिन मिश्र, डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित आदि अनेक विद्वानो ने इस विषय का मथन किया, किन्तु डॉ० नगेन्द्र ने साधारण जगल को काट-छाँट कर उपवन का रूप दिया और उसमे, पौर्वात्य-पाश्चात्य अध्ययन की पृष्ठभूमि में, सुन्दर और नवीन कल्पना-कुसुमो का आरोपण किया। मै इस सम्बन्ध मे (क) परम्परागत एव (ख) कुछ निजी विचारो का सिहावलोकन करूँगा।

(क) परम्परागत

भट्टनायक

जैसा कि कहा जा चुका है काव्य-शास्त्र के क्षेत्र मे 'साधारणीकरण' का सर्वप्रथम उल्लेख भट्टनायक के द्वारा हुआ है। उनकी कोई रचना नही मिलती, किन्तु उनके मत का उल्लेख अभिनवगुप्त तथा अन्य लोगो ने किया है, जिसका उद्धरण 'काव्य-प्रदीप' मे इस प्रकार दिया गया है : 'भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादय स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरण चैतदेव यत् सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादि सामान्येनोपस्थिति:। स्थाय्यनुभावादीना च सम्बन्धविशेषानवच्छिन्नत्वेन'। अर्थात् भावकत्व साधारणीकरण है और इस व्यापार के द्वारा स्थायी भाव का तथा विभावादि का भी साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण है—सीता आदि विशेषो का कामिनीरूप से उपस्थित होना तथा स्थायिभाव

१. भरत ने लिखा है . 'स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस. प्रेक्षका: ..... आस्वादयन्ति मनसा।' इन शब्दो में डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित 'साधारणीकरण' का संकेत पाते है। हिन्दी-साहित्य कोश, पृष्ठ ६१९.

एवं अनुभाव का सम्बन्ध-विशेष से मुक्त हो जाना। भट्टनायक के इस मत को अभिनव गुप्त इन शब्दो मे व्यक्त करते है · 'निविड-निज-मोह-सकटता-निवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयाशेन भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानो रस.'। इस उद्धरण मे 'विभावादि' से तात्पर्य अनुभाव, व्यभिचारी और स्थायिभाव का भी है। 'अभिधातो द्वितीयांशेन' इस शब्द-द्वय से प्रतीत होता है कि अभिधा के पश्चात् भावकत्व दूसरा है। समस्त उद्धरण का अर्थ यह है कि रस की निष्पत्ति तब होती है, जब वह भावकत्व के द्वारा भाव्यमान (अर्थात् आस्वाद-योग्य) हो जाता है।

अभिनवगुप्त का मत

अभिनवगुप्त के अनुसार प्रमदा, उद्यान आदि को लोग पदार्थ कहते है, किन्तु काव्य मे हम उन्हे विभावादि समझते है। जब इनका (अर्थात् विभावादि का) साधारणीकरण हो जाता है, तो इनके सम्बन्ध मे ऐसी सम्बन्ध-स्वीकृति रहती है कि ये मेरे है, अथवा शत्रु के है, अथवा उदासीन के है। साथ ही इनके सम्बन्ध मे ऐसे सम्बन्ध की अस्वीकृति रहती है कि ये मेरे नही, अथवा शत्रु के नही, अथवा उदासीन के नही। कहने का तात्पर्य यह है कि साधारणीकरण मे ममत्व और परत्व के सम्बन्ध से स्वतन्त्र हो जाना आवश्यक है। अभिनवगुप्त यह भी कहते है कि विभावादि के द्वारा सामाजिको के वे स्थायी भाव जाग्रत हो जाते है, जो उनके मन मे पहले से ही वासना-रूप से विद्यमान रहते है। साधारणीकरण के समय वे व्यक्ति के होते हुए भी व्यक्ति के नही रहते, पर वे अपना निजत्व भी नही खोते। सामाजिको का मन उस समय इतना तल्लीन होता है कि उनका अपना प्रमातृ-भाव भी जाता रहता है। इस प्रकार वह भाव समस्त सहृदयो के अनुभव का विषय बन जाता और चर्व्यमाण होकर (अर्थात् आस्वाद्य होकर) रस-रूप हो जाता है।

डॉ० गुलाबराय कहते है कि अभिनवगुप्त के मत से 'साधारणीकरण' का अर्थ है सम्बन्धो का साधारणीकरण। जिस प्रकार, तर्कशास्त्र मे, धूम और अग्नि को साथ-साथ देखकर उस साहचर्य को देशकाल के सम्बन्ध से मुक्त करके सार्वकालिक बना लिया जाता है (यथा· जहाँ-जहाँ धुँआ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है), उसी प्रकार साधारणीकरण मे भय आदि के सम्बन्ध व्यक्ति-सम्बन्ध से मुक्त कर दिये जाते तथा सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक बना लिये जाते है। इस विषय मे अभिनवगुप्त के शब्द हैं : 'तदेव न परिमितमेव साधारण्यमपितु विततं प्राप्तिग्रह इव धूमाग्न्योर्भय-कम्पयोरेव वा।'

अभिनवगुप्त के अनुसार 'साधारणीकरण' के दो स्तर है। एक स्तर पर विभावादि का व्यक्ति-विशिष्ट सम्बन्ध छूट जाता है और दूसरे स्तर पर सामाजिक का

व्यक्तित्व-बन्धन नष्ट हो जाता है। अर्थात् विभावादि के साथ स्थायिभाव का साधारणीकरण होता है और साथ ही सामाजिक की अनुभूति का भी। साधारणीकरण का यह द्वितीय स्तर सामाजिको के उन स्थायिभावो के आधार पर संभव है, जो उनमे वासना के रूप मे पहले से विद्यमान रहते है।

आचार्य विश्वनाथ

विश्वनाथ ने विभावादि का साधारणीकरण माना है। कदाचित् वे सर्वप्रथम व्यक्ति है, जिन्होंने 'साधारणीकरण' के फलस्वरूप आश्रय के साथ तादात्म्य माना है। उन्होने अपने ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' मे 'साधारणीकरण' को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

परस्य न परस्येति, ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः, परिच्छेदो न विद्यते ॥ ३, १२ ॥

आश्रय तादात्म्य के सम्बन्ध मे उनके वचन इस प्रकार है—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः ॥
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥ ३,६.१० ॥

अन्य

वामन झलकीकर तथा गोविन्द ठाकुर साधारणीकरण को 'सामान्यीकरण' समझते है। पंडितराज जगन्नाथ ने साधारणीकरण के स्थान पर दोष-दर्शन की स्थापना की है। अग्निपुराण मे साधारणीकरण की ओर इगित इस प्रकार है—

अभिमानाद् रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी ॥
व्यभिचार्यादि सामान्याच्छृङ्गार इति गीयते ॥ ३, ४ ॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डॉ० गुलाबराय समझते है कि पण्डित रामचन्द्र शुक्ल अभिनव गुप्त और विश्वनाथ दोनो से ही प्रभावित प्रतीत होते है। आश्रय-तादात्म्य सम्बन्धी उनकी कल्पना पर विश्वनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। अभिनवगुप्त से प्रभावित होकर उन्होंने 'चिन्तामणि' मे लिखा है कि 'व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमे प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की होती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठको के मन मे एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है'। शुक्लजी आश्रय के साथ पाठक अथवा श्रोता का तादात्म्य और केवल विभाव का (उसमें भी आलम्बन का) साधा-

रणीकरण, मानते प्रतीत होते है । पर हमे स्मरण रखना चाहिए कि भट्ट नायक और अभिनव गुप्त ने 'विभावादि' का साधारणीकरण माना है, केवल 'विभाव' का नही ।

शुक्लजी की आलोचना

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने शुक्लजी का समर्थन किया है, परन्तु रामदहिन मिश्र ने इस बात पर आपत्ति की है कि 'साधारणीकरण' आलम्बन का ही होता है और उन्होंने रस-कोटियों के विभाजन को रस-प्रकृति के विपरीत माना है । आचार्य केशवप्रसाद मिश्र का अनुकरण करते हुए, डॉ० श्यामसुन्दरदास ने 'साधारणीकरण' का सम्बन्ध योग की मधुमती भूमिका से लगाया है । उनके शब्दो मे 'साधारणीकरण कवि अथवा भावक की चित्त-वृत्ति से सम्बन्ध रखता है । चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है' । डॉ० रघुवंश ने भी शुक्लजी के 'आश्रय-तादात्म्य' से अपने को असहमत पाया है ।

डॉ० नगेन्द्र

डॉ० नगेन्द्र ने उक्त सभी बातो पर विचार करके, प्राच्य-प्रतीच्य काव्यशास्त्र के अध्ययन की पृष्ठभूमि में, आश्रय के साथ तादात्म्य को अस्वीकार किया है, क्योकि वे इस तादात्म्य को कवि के भाव के साथ मानते है । अतः उनके अनुसार 'साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण । कवि अपनी अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है । अत. रस की स्थिति सहृदय के हृदय में मानना उतना ही अनिवार्य है, जितना सहृदय के हृदय मे मानना' । 'सहृदय को जो रसास्वादन होता है, उसकी मूलस्थिति उसी के हृदय मे है, अर्थात् मूलत· वह उसी की अस्मिता का आस्वादन है' । सक्षेप मे कहा जा सकता है कि 'आरम्भ मे रचना के समय कवि और फिर अभिनय के समय नट (यद्यपि उसकी सत्ता अत्यन्त गौण है) अपने हृदय-स्थित रस का आस्वादन तो करते ही है, साथ ही उनका यह रसास्वादन सहृदय के हृदय मे वासनारूप मे स्थित स्थायीभावो को जागृत करके रगदशा मे पहुँचाने में अनिवार्य योग भी देता है । इस प्रकार कविता के विषय मे लोक-प्रचलित उक्ति कि 'वह हृदय से हृदय मे पहुँचती है' मनोवैज्ञानिक रूप मे सत्य है' ।

(ख) कुछ निजी विचार

साधारणीकरण क्या है ?

'साधारणीकरण' शब्द मे 'च्वि' का प्रयोग हुआ है, इस प्रत्यय का प्रयोग 'अभूततद्भावे' अर्थात् 'जो वैसा नही, उसे वैसा कर देना,' इस अर्थ मे होता है । इस

प्रकार 'साधारणीकरण' शब्द का अर्थ है : जो साधारण नही उसे साधारण कर देना; और इसका प्रयोग तीन अर्थों मे होता रहा है--मनोविज्ञान-परक प्रत्ययीकरण मे, न्याय-परक सामान्यीकरण मे और धर्मशास्त्र-परक साधारणीकरण मे। इन तीनो अर्थों का कुछ विवेचन अभीष्ट प्रतीत होता है।

(क) **प्रत्ययीकरण**. मनोविज्ञान के अनुसार, समान वस्तु-विशेषो के प्रत्यक्ष से, पुनरुत्पादिका कल्पना आदि के आधार पर प्रत्यय (कौसैप्ट) का निर्माण होता है। शिशु अनेक बार, अनेक प्रकार के, अनेक स्थानों में, कुक्कुरो को देखकर उन कुक्कुरो के ऐसे गुणो को, जो उन सभी तथा अन्य कुक्कुरों मे समान रूप से विद्यमान रहते है, मनमा निकालकर 'कुक्कुरत्व' का निर्माण कर लेता है। सामान्यीकृत यह रूप प्रत्यय कहा जाता है और प्रत्यय बनाने की इस क्रिया को 'प्रत्ययीकरण' (कौसेप्शन) कहते है।

(ख) **सामान्यीकरण** : भारतीय न्यायशास्त्र मे और पश्चिमी आगमन-तर्क-शास्त्र मे, विशेष से सामान्य की ओर प्रवृत्ति को 'सामान्यीकरण' कहते है, यथा: बार-बार अनेक स्थानो और कालो मे धुएँ को अग्नि के साथ देखकर यह निष्कर्ष कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है (यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः), अथवा विभिन्न लौह-खडो को अग्नि मे तपाकर और उन्हे बढा हुआ पाकर यह निष्कर्ष कि लोहे के सभी टुकडे तपने पर बढ जाते है। इसी प्रकार विभिन्न धातु-खंडों को अग्नि मे तपाकर और उन्हे बढा हुआ पाकर यह अनुमान कि सभी धातुएँ तपाने से बढ जाती है 'सामान्यीकरण' का उदाहरण है। ऐसे 'सामान्यीकरण' मे विशेष से सामान्य की ओर उज्झम्प (इडक्शन) होता है। अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्यों ने 'साधारणीकरण' को कभी 'प्रत्ययीकरण' के और कभी 'सामान्यीकरण' के रूप मे देखा है।

(ग) **साधारणीकरण** इस शब्द का प्रयोग रामायण, कादम्बरी और राजतरंगिणी मे भी हुआ है। इसका अर्थ है सयुक्त उपभोग। 'साधारण धन' को अग्रेजी भाषा में 'जौइट प्रॉपर्टी' कहा जा सकता है। मेरे विनीत विचार मे, काव्य मे 'साधारणीकरण' का प्रयोग भी इसी अर्थ में संगत है। उदाहरण लीजिए—कुछ दिन हुए मैंने एक ग्रन्थ लिया, जिसे पढ कर मै बहुत प्रभावित हुआ। मैने सोचा कि यदि मैं उसे सार्व-जनिक पुस्तकालय को भेट कर दूँ तो अनेक व्यक्ति उससे लाभ उठा सकेंगे। इसी भावना से मैंने उसे एक सार्वजनिक पुस्तकालय को भेट कर दिया। भेंट करने से पहले वह ग्रन्थ मेरा था, अर्थात् मेरी निजी सम्पत्ति: किन्तु भेट करने के पश्चात् वह मेरी निजी सम्पत्ति न रहा। अब मै उसके सम्बन्ध मे यह नही कह सकता कि वह

ग्रन्थ मेरा ही है, अथवा आपका ही है, अथवा उसका ही है; पर मुझे यह कहने का अधिकार है कि वह मेरा भी है आपका भी है, और उसका भी। वह मेरा इसलिये है कि मैं पुस्तकालय के सदस्य होने के नाते आवश्यकतानुसार, अन्य सदस्यो की भाँति, उसका उपयोग कर सकता हूँ। हाँ, भेंट करने के पश्चात् मेरा यह अधिक.र नही है कि मै ही उसका उपयोग करता रहूँ। अभिनवगुप्त ने 'साधारणीकरण' का रूप इस प्रकार स्पष्ट किया है . 'ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्ध-विशेष-स्वीकार-परिहार-नियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्त'। 'साहित्य- दर्पण' मे विश्वनाथ ने इस भाव को इन शब्दों मे व्यक्त किया है

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥३,१२॥

संस्कृत के इन दोनों उद्धरणों से 'साधारणीकरण' की ध्वनि निकलती है, यद्यपि सीता को कामिनीत्व के रूप मे देखने की प्रवृत्ति मनोविज्ञान-परक है, पर यदि सीता का प्रत्ययीकरण ही अभीष्ट है तो 'कामिनीत्व' पर ही क्यों रुका जाय, 'प्राणित्व' अथवा उससे भी अधिक व्यापक सामान्य पर क्यो नही, ऐसी आपत्ति संभव है। अतएव काव्य मे भी 'साधारणीकरण' का उक्त तीसरा अर्थ ही अपेक्षित है।

एवर क्रौबि जैसे पश्चिमी काव्य-शास्त्रियों ने भी काव्य को प्रेषणीय अनुभूति समझा है। अतएव डॉ० नगेन्द्र का यह कथन कि 'साधारणीकरण' कवि की अनुभूति का होता है, सर्वथा युक्ति-संगत है। मै भी ऐसा ही समझता हूँ। पर मेरे विनीत विचार मे कवि की अनुभूति व्यक्तिगत है, उसकी अनुभूति मे विशेष बाते तथा विशिष्ट भाव है और उसकी अनुभूति सरस भी है। मै समझता हूँ कि कवि अपनी ऐसी निजी और आनन्दमयी अनुभूति को सर्वसाधारण के लिये उपस्थित कर देता है। वास्तव मे वही कवि सफल है, जो अपनी अनुभूति को अपने पाठक या सामाजिक के लिये उसी रूप मे उपस्थित कर सके, जिसका अनुभव वह स्वयं कर चुका हो। साधारणीकरण के पश्चात् कवि की अनुभूति उसकी ही नही, अपितु उसके साथ औरों की भी हो जाती है।

साधारणीकरण कैसे ?

भट्ट नायक के अनुसार साधारणीकरण 'भावकत्व' शब्द-शक्ति के द्वारा होता है, जिसके दो साथी है—अभिधा और भोजकत्व। मेरे विनम्र विचार से शब्द-शक्ति एक ही है, यद्यपि वह त्रिगुणात्मक है। वह उसी प्रकार त्रिविध है, जिस प्रकार विद्युत्छक्ति—पौज़िटिव, निगेटिव और इन दोनों का समन्वय। महिमभट्ट की भाँति मै

लक्षणा और व्यंजना को शब्द-शक्ति नहीं मानता, और डॉ० श्यामसुन्दरदास की भाँति उन्हें अर्थ-प्रकार ही समझता है। शब्द-शक्ति-रूपी नदी की धारा 'अभिधा' है; 'भावकत्व' उसका चट्टानी तट है, जो धारा को गतिशील बनाता है और 'भोजकत्व' उसका सुमन-सकुल तट है जो धारा को सरसता प्रदान करता है। जिस प्रकार विद्युत् के द्वारा एक व्यक्ति की वार्त्ता दूसरे व्यक्ति तक पहुँच जाती है, उसी प्रकार कवि की अनुभूति भी इस त्रिगुणात्मक शक्ति के माध्यम से पाठक-श्रोता के हृदय को यथावत् प्राप्त हो जाती है। दृश्य काव्य मे कवि अपनी अनुभूति को अभिनेताओं के लिए प्रसारित करता है और अनुकर्त्तृगण उसे सामाजिकों को 'रिले' कर देते है। कवि की मूल अनुभूति मे कोई लक्षित परिवर्त्तन नहीं होता, अर्थात् वह जितनी विशिष्ट (अथवा विशेष गुणो से सम्पन्न) होती है उतनी बनी रहती है। कवि की अनुभूति मे रस एव तज्जन्य आनन्द भी विद्यमान रहता है और यह सब-कुछ प्राय. उसी रूप मे पाठको या दर्शकों को प्राप्त होता है। भरत मुनि के अनुसार भी सुमना प्रेक्षक विशिष्टता सहित स्थायीभाव का आस्वादन करते हैं, विशिष्टता-रहित स्थायी भाव का नहीं—"नाना भावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस प्रेक्षका" (ना० शा० ६, ३१)।

सहृदय

'सहृदय' शब्द मे 'सुमना' का अर्थ भी निहित है। 'हृदय' और 'मन' प्राय: पर्याय समझे जाते है। 'हृदय' की कल्पना 'मन' की अपेक्षा अधिक व्याप्त रही है। यजुर्वेद के अनुसार मन 'हृत्प्रतिष्ठ' है। काव्य का प्रधान सम्बन्ध 'भाव' से है, जिसका अनुवाद 'थॉट' और 'फीलिङ्' दोनो मे होता है, यद्यपि अधिकतर दूसरे से। भरत के इन शब्दो से कि 'स्वादयन्ति सुमनस. प्रेक्षका. ···बुधा आस्वादयन्ति मनसा' (ना० शा० ६, ३१-३३) अर्थात् सुष्ठु मनवाले प्रेक्षक स्थायिभावो का स्वाद मन के द्वारा चखते हैं, यह प्रतीत होता है कि भरत का आग्रह 'हृदय' की अपेक्षा 'मन' पर अधिक है। 'हृदय' शब्द का प्रयोग भी उचित ही है। काव्य सहृदयो के लिए होता है, इस उक्ति का तात्पर्य यह नहीं कि काव्य-विशेष के पात्र अथवा अधिकारी पठित-अपठित, नारी-पुरुष, बाल-वृद्ध सभी हो। हाँ, यह भी ठीक है कि काव्य का विषय वे साधारण भाव है जो मनुष्यमात्र मे समान होते है और इस दृष्टिकोण से काव्य के श्रवण और दर्शन के अधिकारी मोटे रूप से सभी लोग हो सकते है। साधारणीकरण के पश्चात् कोई भी सहृदय व्यक्ति काव्य का उपयोग उसी प्रकार कर सकता है जिस प्रकार प्रसारित वार्त्ता (ब्रॉडकास्ट) की प्राप्ति 'रिसीविङ् सैट' ही कर सकता है। यह 'सैट' जितना उत्कृष्ट होगा, प्रसारित वार्त्ता भी उतनी ही सुस्पष्ट और प्रभावोत्पादक होगी।

तादात्म्य

आचार्य विश्वनाथ ने साधारणीकरण के फलस्वरूप 'आश्रय' के साथ तादात्म्य माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनका अनुकरण किया। परन्तु डॉ० नगेन्द्र आश्रय के साथ इस तादात्म्य को अस्वीकार करते है, क्योकि उनके अनुसार, यह तादात्म्य कवि के भाव के साथ होता है। इस विषय में, मै दो कारणों से 'तन्मयता' को 'तादात्म्य' अथवा 'तल्लीनता' की अपेक्षा अधिक अच्छा समझता हूँ। प्रथमत., जिस प्रकार मैथुन मे आकर्षण-विकर्षण ये दोनों क्रियाएँ क्रमश. होती रहती है, उसी प्रकार काव्यानुभूति मे रस और विचार दोनो का आविर्भाव-तिरोभाव क्रमशः होता रहता है। 'चर्वण' क्रिया मे भी एकतानता का अभाव है, ऐसी स्थिति मे क्षणिक 'तन्मयता' को 'तादात्म्य' कहना ठीक प्रतीत नही होता। द्वितीयतः, मेरे विनम्र विचार में पाठक, श्रोता या द्रष्टा किसी भी काव्यानुभूति से महत्तर होता है। अतएव इस अनुभूति से उसका तादात्म्य बताना उचित नही। अभिनव गुप्त समझते है कि काव्य, सामाजिको के प्रसुप्त 'भावो' को जाग्रत कर, रस की निष्पत्ति कर देता है। इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या किसी कवि का काव्य सामाजिक के जन्म-जन्मान्तर-प्राप्त प्रसुप्त विचारो को उद्‌बुद्ध नही कर देता, क्योंकि वेदान्त के इस सिद्धान्त के अनुसार कि 'जीव ब्रह्म ही है, अन्य नही', सभी समाजिक ब्रह्म होने के नाते पूर्ण ही है, उनके लिये कोई भी बात नितान्त नवीन नहीं ? इसलिये यह कहना कि सामाजिको मे केवल स्थायिभावों का जागरण होता है, मेरी विचार-धारा मे असगत एव अनावश्यक है। अतएव जीव के पारमार्थिक रूप की चर्चा न कर यदि हम व्यवहार-जगत् की चर्चा के लिये जीव के व्यावहारिक रूप पर ही अधिक ध्यान दे तो ठीक होगा। व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह ठीक माना जा सकता है कि जीव मे दोनो ही शक्तियाँ विद्यमान है—काव्य को प्रसारण करने की और उसे ग्रहण करने की। वस्तुतः, श्रोतृगण कवि की उस अनुभूति को (सहानुभूति अथवा 'सिम्पथि' के द्वारा) ग्रहण करते है जिसमे भाव, विचार, रस आदि पहले से ही विद्यमान रहते है। उस रस की निष्पत्ति पाठक, श्रोताओं अथवा सामाजिकों के मन में नही होती। पर इसमे सन्देह नही कि उनमें इसको ग्रहण करने की शक्ति विद्यमान है और वे निज शक्ति-सौष्ठव के अनुसार ही उस रस का अनुभव करते है, जो काव्यानुभूति के साथ प्रसारित किया जाता है।

निष्कर्ष

संक्षेप मे, मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि 'साधारणीकरण' शब्द के तीन अर्थ हैं: मनोविज्ञानपरक, न्यायपरक और धर्मशास्त्रपरक। काव्य-जगत् के लिये मैं

उसका तृतीय अर्थ ही सम्मत समझता हूँ। इस प्रकार काव्य के 'साधारणीकरण' का अर्थ है कि कवि, अभिव्यक्ति के द्वारा, अपनी अनुभूति को सर्वसाधारण के लिये उपस्थित कर देता है। साधारणीकृत काव्यानुभूति कवि की निजी सम्पत्ति होते हुए भी औरों की भी है, केवल उसकी नहीं और न केवल औरों की। अर्थात् काव्यानुभूति सर्वसाधारण की होती है, वक्ता की भी और श्रोता की भी। साधारणीकरण शब्द-शक्ति के द्वारा होता है, जिसके तीन रूप है—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। साधारणीकरण के द्वारा कवि की अनुभूति की यथावत् प्राप्ति उस पाठक, श्रोता अथवा द्रष्टा को हो जाती है, जिसके मन और हृदय, अनुभूति को ग्रहण करने के निमित्त, समान होते है। अनुभूति-ग्रहण के समय सामाजिक के हृदय की तन्मयता कवि की अनुभूति से होती है।

———

शब्द-शक्ति

शब्द क्या है ?

ऐसे वर्ण एवं वर्ण-राशि को शब्द कहते हैं, जिसमें अर्थ का बोध कराने की शक्ति हो। 'अर्थ' का क्या अर्थ है ? इस विषय मे उन्नीसवे पृष्ठ पर विचार किया जा चुका है। काव्य की परिभाषा देते समय हम यह विचार कर चुके है कि 'शब्द' शरीर है और 'अर्थ' जीव। शब्द अर्थहीन भी होने है, किन्तु ऐसे शब्दों का स्थान साहित्य मे नही। काव्य-साहित्य मे तो सार्थक शब्दों का ही प्रयोग होता है।

शब्द की शक्तियाँ

'शब्द-शक्ति' उस माध्यम अथवा कारण को कहते है, जिससे अर्थ को स्पष्ट करने अथवा ग्रहण करने मे सहायता प्राप्त होती है। शब्द के अर्थ का निर्धारण करने मे निकटता, साहचर्य, प्रकरण, स्थान, समय, श्रोता, वक्ता आदि अनेक दृष्टिकोणों से होता है। शब्द की तीन मुख्य शक्तियाँ मानी गयी है—'अभिधा', 'लक्षणा' और 'व्यंजना'; किन्तु पार्थसारथि मिश्र जैसे कुछ विद्वान् 'तात्पर्य'[1] नामक एक चौथी शक्ति और मानने है।

(क) तात्पर्य

'तात्पर्य' शब्द 'तत्पर' शब्द की भाववाचक सज्ञा है। 'तत्पर' का शब्दार्थ है : उस पर प्रवृत्त अथवा लीन। वाक्य मे प्राय अनेक शब्द होते है जिनमे पूर्वापर अर्थ-सम्बन्ध होता है। वाक्य मे शब्द इसी तरह से एकसूत्रता-पूर्वक पिरोये रहते है, जिस प्रकार डोरे मे माला के दाने। प्रत्येक शब्द का अर्थ एक-दूसरे से सघटित रहता है, अतएव 'तात्पर्य' शब्द की वह शक्ति है. जिससे वाक्य मे प्रत्येक पूर्ववर्त्ती शब्द का परवर्त्ती शब्द के साथ अर्थ-सम्बन्ध स्थापित होता है। 'घोड़ा हाथी से छोटा जीव है'। इस वाक्य में 'घोडा' के पश्चात् 'हाथी', तत्पश्चात् 'छोटा', तत्पश्चात् 'जीव' ये सभी, जहाँ तक अर्थ का सम्बन्ध है, परस्पर आश्रित है। यदि 'तात्पर्य' न हो तो अर्थ-संगति नही हो पाती। कुछ विद्वान् 'तात्पर्य' को कोई अलग शक्ति नही समझते, क्योकि उनके अनुसार तात्पर्य तो शब्द का स्वाभाविक गुण है और यदि उसमें यह गुण न

---

१. 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्,' काव्य-प्रकाश २,६.

हो तो शब्द निरर्थक होता है। इस तर्क के उत्तर में अन्य विद्वान् कहते है कि यदि 'तात्पर्य' प्रत्येक शब्द का स्वाभाविक गुण है तो वह स्वत: अर्थ को व्यक्त कर सकता है, उसे वाक्य के अन्य शब्दों की क्या आवश्यकता ? पर अर्थ तो पूरे वाक्य से निकलता है।

(ख) अभिधा

अभिधा की परिभाषा

अभिधा वह शक्ति है, जिससे श्रोता या पाठक को शब्द का लोक-प्रसिद्ध अर्थ तुरन्त विदित हो जाता है। कोशों मे लोक-प्रसिद्ध अर्थ ही मिलते हैं। अभिधा में पद और पदार्थ का पारस्परिक सम्बन्ध होता है। अभिधा से उत्पन्न अर्थ को वाच्यार्थ या अभिधेयार्थ और अभिधेयार्थ को प्रकट करने वाले शब्द को वाचक कहते हैं।

अभिधा के साधन

पद और पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को बताने वाले कतिपय साधन होते है, यथा कोश, व्याकरण, उपमान, आप्तवाक्य, व्यवहार, प्रकरण (वाक्याग, विवृति पर्याय, टीका), पूर्व-परिचित शब्दो की निकटता। कोशो मे शब्दो के वे अर्थ दिये जाते है, जो लोक-प्रसिद्ध होते है। व्याकरण के द्वारा भी शब्द का अर्थ निर्धारण करने मे सहायता मिलती है। प्राय उत्पत्ति (अर्थात् शब्द के प्रकृति-प्रत्यय का विश्लेषण करने) से शब्द के मूल अर्थ पर भी प्रकाश पडता है। अज्ञात शब्दो का अर्थ उपमान के द्वारा भी निश्चित किया जाता है। यदि पूछा जाय कि 'जई' किसे कहते है और उत्तर दिया जाय कि वह 'जौ के समान' होती है, तो इस सादृश्य के द्वारा अर्थ-निर्धारण में कुछ न कुछ सहायता अवश्य मिलती है। कभी कभी कोश-प्रदत्त अर्थों का उपयोग करने मे, या वाक्यो के विवादास्पद अर्थ के निश्चय करने मे, प्रामाणिक पुरुष अथवा आप्तवाक्य की भी आवश्यकता पडती है। अतएव विशेषज्ञ के परामर्श का मूल्य स्पष्ट है। व्यवहार से शब्द के अर्थ का ठीक निश्चय हो जाता है। अध्यापक बालको को शुतुर्मुर्ग, कगारू आदि शब्दो का अर्थ समझाने के लिये उन्हे चित्र दिखाते अथवा चिडियाघर (जू) ले जाते है। अर्थ के समझने मे प्रकरण और वाक्य-प्रयोग से बड़ी सहायता मिलती है। इसलिए अध्यापक अपने छात्रों को कोशार्थ बताने के पश्चात् उसका प्रयोग वाक्य मे कर देते है। अर्थ के समझने मे विवरण, विवृति, टीका, पर्याय आदि का भी उपयोग यथावसर होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कोश और आप्त-पुरुष की सहायता नही मिल पाती, तो वाक्य में अथवा प्रकरण मे किन्ही पूर्व-परिचित पदों की निकटता से भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण स्वरूप यदि यह कहा जाय

कि 'आमों की अवली पर पिकों की पंक्ति अति मधुर स्वर से कूक रही है,' तो इस वाक्य मे 'पिक' शब्द का अर्थ अज्ञात होने पर, उसका अर्थ इन तीन शब्दो के कारण 'कोकिला' लगाया जाता है—'आम', 'मधुर', 'स्वर'। कुन्तक कहते हैं : 'संकेतार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा,' अर्थात् अभिधा के द्वारा साक्षात् सांकेतिक अर्थ का बोध होता है, यथा: कमल, पुण्डरीक। 'कमल' शब्द के सुनने पर एक बडे पंखुडियो वाले लाल रंग के पुष्प का और 'पुण्डरीक' से पंखुडीवाले बड़े, किन्तु श्वेत रंग के पुष्प का, बोध होता है।

अर्थ-निर्धारण के बल

अर्थ-निर्धारण के लिये तीन बल होते हैं—योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि (आसत्ति)।

(क) योग्यता=पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध को स्थापित करने मे अड़चन (अनुपपत्ति) न होना, यथा

पीकर ठडा पानी मैने अपनी प्यास बुझाई,
पर पीकर मृगतृष्णा उसने अपनी तृषा मिटाई।

पहली पंक्ति मे योग्यता है, क्योकि पानी पीने से प्यास बुझती है, किन्तु दूसरी मे नही, क्योकि मृगतृष्णा से प्यास नही बुझती। इसी प्रकार 'अग्नि से सीचना' इस पदावली मे भी 'योग्यता' का अभाव है।

(ख) आकांक्षा=श्रोता की जिज्ञासा, अर्थात् वाक्य का अर्थ पूरा करने के लिये अन्य पदो की 'चाहना' (अपेक्षा)। यथा: 'बालक ने लड्डू', इतना कहने से अर्थ पूरा नही होता। यह जिज्ञासा बनी रहती है कि बालक ने लड्डू का क्या किया—उसे खाया, फेका अथवा अपने मित्र को दिया? निराकांक्ष पद वे होते है, जिनका सम्बन्ध अन्य किसी पद से नही होता, यथा: पशु-पक्षी, लाल-पीला, कहना-सुनना।

(ग) सन्निधि=आसत्ति। अर्थ की प्राप्ति के लिए पदों मे निकटता का सम्बन्ध होना आवश्यक होता है। अनासत्ति चार प्रकार की होती है—कालकृत, उच्चारण-दोष-जन्य, अप्रासंगिक-शब्द-जन्य तथा दूरान्वय। 'कालकृत' अनासत्ति में समय का व्यवधान रहता है, जिसके कारण अर्थ की सगति नही मिलती। एक बार अकबर ने बीरबल से पूछा था कि 'हे बीरबल, सलूनों के त्योहार पर तुम्हारे यहाँ क्या बनता है'। बीरबल ने उत्तर दिया—'हुजूर, सैमई'। लगभग छः महीने पीछे, शिकार खेलने के पश्चात् अकबर और बीरबल एक पेड़ के नीचे विश्राम करने के लिये रुके, अकबर ने अचानक पूछा—'तो वीरबल, ऊपर क्या?' बीरबल बोला, 'हुजूर, बूरा'। जो लोग हकले होते है, उनके भाषण में उच्चारण-व्यवधान होता है, यथा:

'ह ह ह ह हम, क क क क क कल, आ आ आ आ आयें।' जब प्रकरण के उप पदों के बीच में ऐसे पद आ जाते हैं जो प्रसंगहीन है, तब अप्रासंगिक शब्द अनासत्ति होती है, यथा: मैंने, कुरसी पर, शिशु, चाय पी, मेज पर, बैठा है। इन मे दो वाक्य बनते है—मैने मेज पर चाय पी; शिशु कुरसी पर बैठा है। दूर दोष मे विराम चिह्नों के अत्यधिक प्रयोगों के कारण अथवा कर्त्ता-क्रिया के बीच अथवा कर्म-क्रिया के बीच मे, अन्य शब्दों के आ जाने के कारण व्यवधान हो से अर्थ की संगति लगाने मे कठिनता होती है।

दो वाद

अभिहितान्वयवाद . कुमारिल भट्ट आदि मीमासको के अनुसार, "पहले तो से केवल-अन्वित-पदार्थ उपस्थित होते है, उसके बाद पदो की आकाक्षा, योग्यता सन्निधि के बल से 'तात्पर्याख्या शक्ति' के द्वारा उन पदार्थो के परस्पर सम्बन्ध वाक्यार्थ का बोध होता है।" पहले शब्दों की, पीछे उनके संश्लिष्ट-रूप वाक्य स्थिति होती है। किन्तु प्रभाकर आदि के द्वारा प्रतिपादित-समर्थित **अन्विताभिधान** के अनुसार पहले 'अन्वित पदार्थों का ही अभिधा से बोधन होता है'। अर्थात् प वाक्य की, फिर शब्दों की स्थिति होती है। आधुनिक भाषा-विज्ञानी भी इस द्वित वाद का ही समर्थन करते है।

वाचक के प्रकार

जैसा कि कहा जा चुका है, वे शब्द 'वाचक' कहलाते है जो अभिधा शक्ति द्वारा अपना प्रकृत अर्थ प्रकट करते है। वाचक शब्द तीन प्रकार के होते है—रू यौगिक और योगरूढि। रूढि शब्द वे है जो प्रकृति-प्रत्यय से निष्पन्न अर्थ की उप करके शब्द का अर्थ-बोध करते है, यथा: लड्डू, पेडा। **यौगिक** शब्द वे हैं जिन व्युत्पत्ति होती है और जिनका अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार ही होता है, यथा देवरा (इन्द्र=देवताओ का राजा), दिवाकर (सूर्य=दिन करने वाला)। यदि ये श किसी व्यक्ति के नाम हों तो वे 'रूढ़' समझे जायेगे। **योगरूढ** वे शब्द होते हैं जिन व्युत्पत्ति तो हो सकती है, किन्तु जो अपने अनेक अर्थों में से केवल एक अर्थ में रूढ जाते है, यथा· पकज=पंक+ज, अर्थात् कीचड़ से उत्पन्न होने वाला। कीचड़ कमल, कीट, दुर्गन्ध आदि उत्पन्न होते है, किन्तु 'पकज' का अर्थ 'कमल' ही लि जाता है।

वाच्यार्थ

अभिधा शक्ति के द्वारा शब्द के जिस अर्थ का बोध होता है, उसे वाच्य

मुख्यार्थ अथवा केवल वाच्य* कहते है। यह प्रसिद्ध अर्थ होता है जो साधारण व्यवहार, कोश, व्याकरण आदि में मिलता है। पश्चिमी तर्क शास्त्र के 'कॉनोटेशन' से इसका बहुत साम्य है।

वाच्यार्थ के भेद

वाच्यार्थ दो प्रकार का होता है—अवयवार्थ और समुदायार्थ। अवयवार्थ व्युत्पत्ति पर आश्रित रहता है और शब्द के अवयवो के अर्थ को प्रकट करता है। यौगिक शब्द का केवल अवयवार्थ होता है, यथा—राजपुरुष। कभी-कभी योगरूढ शब्द मे भी अवयवार्थ होता है। **समुदायार्थ** मे सामूहिक रूप से सारे शब्द का अर्थ होता है, शब्द के अवयवो का अर्थ नही। रूढ शब्द का समुदायार्थ ही होता है, किन्तु योगरूढ शब्द मे भी समुदायार्थ होता है।

(ग) लक्षणा

परिभाषा

जब शब्दो के वाच्यार्थ से वाक्य का अर्थ भली-भाँति स्पष्ट नही होता तो उसे स्पष्ट करने के लिये जिस शक्ति का उपयोग किया जाता है उसे लक्षणा कहते हैं। दूसरे शब्दो में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जब किसी शब्द का मुख्य अर्थ तो न लिया जाय, परन्तु मुख्य अर्थ से सम्बन्धित कोई और अर्थ लिया जाय, तब उसे लक्षणा कहते है। जो शब्द लक्षणा शक्ति के द्वारा अपना वास्तविक अर्थ प्रकट करते हैं, वे शब्द लक्षक अथवा लाक्षणिक कहलाते है और लक्षणा शक्ति के द्वारा जो अर्थ प्रकट होता है, उसे लक्ष्यार्थ कहते है।

लक्षणा की विशेषता

मम्मट के अनुसार लक्षणा की तीन विशेषताएँ है—(१) किसी शब्द या वाक्यांश के मुख्य अर्थ से वाक्य के समग्र अर्थ को समझने मे बाधा। (२) लक्षक शब्द का ऐसा भिन्न अर्थ करने की आवश्यकता जिसका सम्बन्ध मुख्यार्थ से हो। (३) अन्य अर्थ ग्रहण करने का विशेष प्रयोजन, रूढि अथवा परम्परा की आवश्यकता। लक्षक शब्द का ऐसा कोई अर्थ ग्रहण नही किया जा सकता जो प्रयोजनहीन हो अथवा रूढि-सम्मत न हो।

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया। का०प्र० २,९.

* 'वाच्यादयस्तदर्था. स्यु.,' काव्य-प्रकाश २,६.

लक्षणा के भेद

लक्षणा के दो भेद होते हैं— (क) रूढा और (ख) प्रयोजनवती।

(क) रूढ़ा लक्षणा

रूढा लक्षणा में शब्द के नियत और साकेतिक अर्थ से भिन्न किसी दूसरे अर्थ का बोध होता है तथा अर्थ की यह भिन्नता किसी रूढि अथवा परम्परा के कारण होती है। यथा—'सिरोही' राजस्थान में एक नगर है जो मजबूत और अच्छी तलवार के लिये प्रसिद्ध रहा है; अतएव कालान्तर मे 'सिरोही' शब्द 'तलवार' शब्द के लिये भी प्रयोग मे आने लगा। रूढा लक्षणा के भी दो भेद, सादृश्य और समवाय सम्बन्ध के आधार पर, होते है। **(अ) गौणी रूढा** में सादृश्य सम्बन्ध होता है, यथा—'अनुकूल' शब्द का वाच्यार्थ है 'किनारे का अनुगमन करने वाला', अतएव उसका लक्ष्यार्थ है हमारे गुणो का अनुगमन करने वाला। वह व्यक्ति हमारे अनुकूल है—वह व्यक्ति हमारी इच्छाओं के अनुसार व्यवहार करने वाला है। इसी प्रकार 'कुशल' शब्द का अर्थ था—कुशा को भले प्रकार उखाडकर लाने वाला। किन्तु अब इस शब्द का अर्थ है 'चतुर', अर्थात् वह व्यक्ति जो कुशा को उखाड़ने में ही चतुर न हो, अपितु अन्य कार्यों मे भी चतुर हो। प्रवीण=प्र+वीणा। प्राचीन काल मे इस शब्द का अर्थ था 'वह व्यक्ति जो वीणा बजाने मे चतुर है', किन्तु अब इसका अर्थ है 'वह व्यक्ति जो अन्य कार्यो के करने में भी चतुर हो'। **(आ) शुद्धा रूढा** का आधार समवाय सम्बन्ध होता है, यथा—पीतपट=पीतरग+पट। 'पीतरग' और 'पट' मे समवाय सम्बन्ध है।

(ख) प्रयोजनवती लक्षणा

जब किसी शब्द के निश्चित अर्थ को न लेकर किसी अन्य अर्थ को, किसी विशेष प्रयोजन से, ग्रहण किया जाता है, तब प्रयोजनवती लक्षणा होती है, यथा—दिल्ली यमुना पर है। जल पर कोई नगर नही हो सकता, अतएव दिल्ली को 'यमुना पर' बताने का तात्पर्य है इस नगर की उपयोगिता—शीतलता। यदि केवल ऐसा कहा जाता कि दिल्ली यमुना के तट पर है, तो कदाचित् ऐसा कहने से शीतलता और पवित्रता की अधिकता का बोध न होता, क्योकि तट तो बहुत दूर तक माना जा सकता है। प्रयोजनवती लक्षणा के भी दो भेद होते है (अ) गौणी और (आ) शुद्धा।

(अ) गौणी लक्षणा—गौणी लक्षणा का आधार सादृश्य (समानगुण) होता है, यथा. लाला लाजपतराय पजाब-केसरी थे। इस वाक्य मे लाला लाजपतराय को केसरी अर्थात् सिंह कहा गया है, अतएव मुख्यार्थ की बाधा है, क्योंकि कोई मनुष्य सिंह नही होता। किन्तु 'केसरी' शब्द के प्रयोग से लालाजी के शौर्य, पराक्रम,

वीरता आदि गुणों का उल्लेख अभीष्ट है, अतएव लालाजी मे और केसरी में समानता अभिप्रेत है। गौणी लक्षणा के दो भेद होते है—१—सारोपा और २—साध्यवसाना।

१—सारोपा गौणी लक्षणा—सारोपा गौणी लक्षणा मे विषय पर विषयी का आरोपण किया जाता है, यथा मुखचन्द्र = मुख रूपी चन्द्र। यहाँ उपमेय और उपमान में अर्थात् मुख और चन्द्र मे, अभेद है। रूपक अलंकार मे इस प्रकार का आरोपण विद्यमान रहता है।

२—साध्यवसाना गौणी लक्षणा—साध्यवसाना गौणी प्रयोजनवती लक्षणा मे विषय-विषयी (अथवा उपमेय-उपमान) दोनों मे से केवल एक का निर्देश होने पर दूसरे का उसके साथ अध्यवसान (अभेद, लीनता) होता है। 'इस नगर के महलों मे चन्द्र-पंक्ति रहती है', इस वाक्य में 'चन्द्र पंक्ति'=सुन्दर स्त्रियाँ। यहाँ उपमान मे उपमेय का अध्यवसान है। रूपकातिशयोक्ति नामक अलंकार मे इस प्रकार का अध्यवसान रहता है। 'सारोपा गौणी' और 'साध्यवसाना गौणी' इन दोनो प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणाओ मे यह अन्तर है कि साध्यवसाना मे उपमेय का उल्लेख नहीं होता, केवल उपमान का कथन होता है; किन्तु 'सारोपा' में उपमेय और उपमान दोनों विद्यमान रहते है। 'मोहन बैल है' इस वाक्य मे उपमान और उपमेय दोनों विद्यमान है, अतएव इसमे सारोपा गौणी प्रयोजनवती लक्षणा है। 'चतुर को समझाया जा सकता है, बैल (=मूर्ख) को नही', इस वाक्य मे केवल उपमान विद्यमान है, उपमेय नही। अतएव इसमे 'साध्यवसाना गौणी प्रयोजनवती लक्षणा' है।

(आ) शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा—शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा में सादृश्य-सम्बन्ध नही होता, परन्तु इसके अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध होता है, जिससे लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। 'पानी मे घर है' -पानी के तट पर घर है। पानी और घर मे सादृश्य सम्बन्ध नही, किन्तु इनमे निकटता का सम्बन्ध है। 'शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा' चार प्रकार की होती है— १—लक्षण-लक्षणा, २—उपादान लक्षणा, ३—सारोपा लक्षणा और ४—साध्यवसाना लक्षणा।

१—लक्षण-लक्षणा को 'जहत्स्वार्था' भी कहते हैं। उसका घर गगा पर है= उसका घर गंगा के निकट है, गंगा=बहता हुआ जल। विपरीत लक्षणा भी जहत्स्वार्था होती है, क्योकि लक्षक अपने वाच्यार्थ का नितान्त त्याग कर देता है। यदि किसी दुष्ट से कहा जाय कि 'आप तो बहुत भले आदमी है,' तो 'भले'=बुरे। 'जहत्स्वार्था' इस शब्द के दो खण्ड हो सकते है 'जहत्'—त्यागती हुई, 'स्वार्था'=अपने अर्थ वाली। अतएव 'जहत्स्वार्था लक्षणा' वह लक्षणा है, जिससे शब्द अपने वाच्यार्थ

(अर्थात् अपने निजी अर्थ) को बिल्कुल त्याग देता और अन्य अर्थ को ग्रहण कर लेता है, जिस प्रकार उक्त उदाहरण मे 'भले' शब्द ने अपना अर्थ छोड़ कर 'बुरे' शब्द के अर्थ को ग्रहण किया है।

२—**उपादान लक्षणा**—इसे 'अजहत्स्वार्था' भी कहते है। अजहत्=न त्यागते हुए, 'स्वार्था'=निजी अर्थ। यह वह लक्षणा है जबकि लक्षक वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ को प्रकट करता है, किन्तु निजी अर्थ को भी नही छोड़ता। यथा: 'बन्दूके जा रही है' =बन्दूकवाले जा रहे है। 'बन्दूके' और 'बन्दूक वाले' इन दोनों शब्दो में 'संयोग' सम्बन्ध है और 'अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि' है। 'घडे जल भरने को जा रहे है' यहा घडे=घड़ेवाले।

३—**प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा लक्षणा**—इसमे प्रयोजनपूर्ण आरोप होता है। 'मो संपति यदुपति सदा, विपति विदारन हार', इस वाक्य मे 'यदुपति' को अपनी सम्पत्ति बताया गया है, अर्थात् 'यदुपति' मे सम्पत्ति का आरोप किया गया है। इस उदाहरण मे 'संपति' आरोप्यमाण है और 'यदुपति' आरोप्य विषय है। 'सारोपा लक्षणा' के लिए यह आवश्यक है कि आरोप्यमाण और आरोप्य विषय दोनो का उपादान हो। 'सुख-सज्जनसगा'=सुख-रूपी सज्जन का सग। 'सुख' आत्मा का गुण है, अतएव यहाँ यह द्रष्टव्य है कि 'सुख' और 'सज्जन' का समवाय सम्बन्ध है, सादृश्य सम्बन्ध नही। यह सम्बन्ध हेतु और कार्य (अर्थात् कार्यकारण) का सम्बन्ध हो सकता है। 'सारोपा गौणी' मे और 'सारोपा शुद्धा' दोनो मे आरोपण होता है, किन्तु 'गौणी सारोपा' मे उपमान और उपमेय मे जो अभेद होता है, उसका आधार सादृश्य रहता है; किन्तु 'सारोपा शुद्धा' मे उपमान-उपमेय का सम्बन्ध सादृश्य का नही होता, इसमे 'सादृश्य' को छोडकर और कोई सम्बन्ध हो सकता है।

४—**प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा**—इसमे उपमेय का उपमान मे अध्यवसान हो जाता है। 'जनलोचन आनँद वसत व्रज वीथिन के बीच'। इस वाक्य मे कृष्ण जी उपमेय है, किन्तु उनका उल्लेख नही हुआ है, क्योकि 'जन लोचन आनँद' मे उपमेय का अध्यवसान हो गया है। इसमे हेतु अलंकार है।

(घ) व्यंजना

परिभाषा

वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ के द्वारा किसी वाक्य के अर्थ-बोध न होने पर जिस शक्ति से विलक्षण अर्थ का बोध होता है, उसे 'व्यजना' कहते है। वे शब्द **व्यंजक** कहलाते हैं, जिनका अर्थ-बोध व्यंजना शक्ति के द्वारा होता है और व्यंजना के द्वारा जो

अर्थ-बोध होता है उसे 'व्यंग्यार्थ' कहते है। एक ने दूसरे से कहा 'मीत, तिहारे मुख पै शठता अति दरसात'। दूसरे ने उत्तर दिया 'मेरो मुख दरपन भयो, अब जानी यह बात'। इसका अभिप्राय यह हुआ कि दूसरे ने पहले को शठ बताया। उक्त उत्तर का आशय उसके वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से स्पष्ट नही होता, इसीलिए अर्थ-बोध के लिए व्यंजना की आवश्यकता पडी।

'व्यजना' शब्द 'वि' उपसर्ग और 'अञ्ज्' धातु से व्युत्पन्न है। 'अञ्ज्' का शब्दार्थ है देखना, प्रकट करना। अतएव व्यजना का शब्दार्थ है वह शक्ति जो विशेष रूप से देख सके अर्थात् दूर के अर्थ को भी जान सके। अभिधा और लक्षणा की दृष्टि व्यजना-जैसी तीव्र नही। व्यग्यार्थ या ध्वन्यार्थ पाठक या श्रोता की कल्पना से उत्पन्न होता है, इसलिए वह विशेष आनन्दप्रद समझा जाता है। ध्वनिवादियो ने, इसी कारण, व्यग्य काव्य को श्रेष्ठ काव्य माना है।

व्यंजना-प्रकार

व्यजना के दो प्रकार होते है—(क) **शाब्दी** और (ख) **आर्थी**। व्यजना के तीन और भेद माने गये है—(१) वस्तु-व्यंजना, (२) अलंकार-व्यजना और (३) रस व्यजना (भाव व्यंजना)। जिस व्यजना से कोई पदार्थ, वस्तु अथवा परिस्थिति व्यजित हो, उसे **वस्तु-व्यंजना** कहते है। यथा 'पत्ता नही हिलता' सन्नाटे की अधिकता। जब वस्तु-व्यजना के साथ-साथ किसी अलंकार की व्यजना हो, तो उसे **अलंकार व्यंजना** कहते है। रूपक-व्यजना का उदाहरण .

करैं चाह सों चुटकि कै खरे उड़ौ हे मैन।
लाज नवाए तरफरत करत खूँद सी नैन।

रस-व्यंजना (अथवा भावव्यजना) — इसके द्वारा मनोविकार या भाव की व्यजना होती है। जब जनक ने राजसभा मे यह कहा कि 'वीर-विहीन मही मैं जानी' तो इस उक्ति का जो प्रभाव लक्ष्मण पर पडा, उसे गोस्वामी तुलसीदास ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है

माखे लखन कुटिल भई भौहैं, रदपट फरकत नयन रिसौंहैं।
रघुवंशिन्ह महँ जहँ कोउ होई, तेहि समाज अस कहै न कोई॥

उक्त चौपाई मे जनक जी आलम्बन-विभाव है, उनके शब्द उद्दीपन है, कुटिल भौहे, फड़कते हुए होठ और रक्त नयन अनुभाव है। रोष (रिस) संचारी और माष (=अमर्ष=क्रोध) स्थायी भाव है। इस प्रकार इस उक्ति मे रस-व्यंजना है।

शाब्दी व्यंजना

जब किसी शब्द-विशेष के प्रयोग पर व्यग्यार्थ निर्भर रहता है तब शाब्दी व्यंजना होती है, यथा

चिरजीवो जोरी जुरे, क्यों न सनेह गभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

बिहारी के इस दोहे का सरलार्थ है कि राधा-कृष्ण की जोडी चिरंजीवी हो, उनका पारस्परिक प्रेम गहरा है। इस विषय मे कोई भी कम नही, यदि राधा वृषभानुजा हैं तो कृष्ण हलधर के भाई है। 'वृषभानुजा' और हलधर' के और भी अर्थ है। 'वृषभानुजा' की दो व्युत्पत्तियाँ है—वृषभ+अनुजा, वृषभानु+जा; अर्थात् 'राधा' और 'गाय' 'हलधर' के भी दो अर्थ है,बलराम और बैल,क्योकि हलधर = हल को धारण करने वाला। इस प्रकार व्यंग्यार्थ हुआ कि राधा-कृष्ण की जोडी बिलकुल ठीक है, इन दोनों मे गहरा प्रेम है और प्रेम भी बराबर है, क्योंकि एक तो बैल का भाई है,दूसरी बैल की छोटी बहन। यदि उक्त दोहे मे वृषभानुजा और हलधर के स्थान पर और पर्याय रख दिये जाते तो व्यग्य जाता रहता। शाब्दी व्यजना केवल उन शब्दो मे होती है, जिनके अर्थ अनेक होते हैं, परन्तु शाब्दी व्यजना और श्लेष मे भेद है, वे एक नही। श्लेष मे शब्द के विभिन्न अर्थों पर समान दृष्टि रहती है, जब कि शाब्दी व्यजना मे केवल वाच्यार्थ की प्रधानता रहती है, दूसरे अर्थ की प्रतीति तो आनन्द को उत्पन्न कराने के निमित्त करायी जाती है।

(ख) आर्थी व्यंजना

जहाँ व्यजना अर्थ पर निर्भर हो और किसी शब्द-विशेष पर न हो, तो वह आर्थी व्यजना कहलाती है। आर्थी व्यजना पर्याय रखने पर नष्ट नही होती, किन्तु बनी रहती है। 'रजनीगधा खिल गयी', यह उदाहरण शाब्दी व्यंजना का है, क्योकि यदि 'रजनीगंधा' के स्थान पर कोई पर्याय रख दिया जाय तो व्यंजना न रहेगी। रजनीगधा नाम के पौधे मे फूल आधीरात को खिलते है। उक्त वाक्य के कहने से यह व्यंग्यार्थ होता है कि अब आधी रात हो गयी और अमुक कार्य करने का समय हो गया है। नि.सन्देह यदि 'रजनीगधा' के स्थान पर कोई पर्याय रख दिया जाय तो व्यजना नष्ट हो जायगी। आर्थी व्यग्य का ज्ञान प्रकरण अथवा प्रसग से होता है, इसका उदाहरण है 'घटा बज गया'। प्रकरण के अनुसार इस वाक्य के अनेक अर्थ हो सकते है, यथा: पाठ प्रारम्भ करने का, पाठ बन्द करने का, घर चलने का, अथवा चलचित्र को देखने का समय हो गया।

शाब्दी व्यंजना के रूप

शाब्दी व्यजना के दो प्रकार हैं—(क) अभिधामूला, और (ख) लक्षणामूला।

(क) अभिधा मूला—प० रामदिहन मिश्र के शब्दो मे, "सयोग आदि के द्वारा अनेकार्थ शब्द के प्रकृतोपयोगी एकार्थ के नियन्त्रित हो जाने पर जिस शक्ति के द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है, वह अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना है।" अभिधामूला शाब्दी व्यजना के पद्रह आधार ये है —

१—सयोग। किसी अनेकार्थ शब्द के एक अर्थ के साथ सम्बन्ध, यथा शख चक्रयुत हरि कहे होत विष्णु को ज्ञान; यहाँ हरि=विष्णु, बन्दर नही, क्योकि शङ्ख चक्र का उल्लेख भी है।

२—वियोग। किसी प्रसिद्ध वस्तु के अभाव के कारण, किसी अनेकार्थ शब्द के एक अर्थ का निश्चय, यथा 'नग सूनो बिन मूँदरी'। रहित=शून्य। नग=रत्न, (पर्वत नही, क्योकि मूँदरी का उल्लेख है)।

३—साहचर्य। साहचर्य के कारण अर्थ का निर्णय, यथा 'बलि बलि जाऊँ कृष्ण बलभैया।' बल=बलराम।

४—विरोध। अति प्रसिद्ध असंगति के कारण अर्थ-निर्णय, यथा 'कुजर हरि मम लडत निरन्तर बधु-युगल रख भारी अन्तर।' हरि=सिह।

५—अर्थ। प्रयोजन के कारण अनेकार्थ मे एकार्थ का निश्चय, यथा 'शिवा स्वास्थ्य रक्षा करे, शिवा हरे सब शूल'। शिवा=हरीतकी, हर्र।

६—प्रकरण। प्रसगवश श्रोता-वक्ता की समझदारी से अर्थ-निर्णय, यथा 'अब तुम मधु लाओ तुरत।' मधु=शहद (दवा के समय)। =शराब (मद्यशाला मे)।

७—लिङ्ग (करैक्टैरिस्टिक)। नानार्थक शब्दो के किसी एक अर्थ मे वर्त्तमान और इसके अर्थ मे अवर्त्तमान किसी विशेष धर्म, चिह्न, लक्षण को लिङ्ग कहते है, यथा 'कुशिक नन्दन के तपतेज से सुमन लज्जित दुर्मन हो उठे।' सुमन=देवता (फूल नही, क्योकि फूल न लज्जित होते है और न दुर्मन होने है)।

८—अन्य-सन्निधि। अनेकार्थ शब्द के किसी एक अर्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले भिन्नार्थक अर्थ की समीपता, यथा 'परशुरामकर परशु सुधारा, सहसबाहु अर्जुन को मारा'। अर्जुन=कार्तवीर्य (पाण्डुपुत्र नही, क्योकि 'परशु' का उल्लेख है)।

९—सामर्थ्य=किसी कार्य के सम्पादन मे किसी पदार्थ की शक्ति से अनेकार्थों मे से एकार्थ का निश्चय, यथा 'मन मे प्रविसि निकर सर जाही'। सर=बाण (सिर अथवा सरोवर नहीं)।

१० औचित्य। किसी पदार्थ की योग्यता के कारण अनेकार्थों में से एकार्थ का निर्णय, यथा 'हरि के चढ़ते ही उड़े सब द्विज एकै साथ'। हरि = बन्दर, क्योकि द्विज = पक्षी।

११—देश। स्थान की विशेषता से अर्थ का निर्णय, यथा 'मरु मे जीवन दूर है।' जीवन - जल।

१२—काल। समय के अनुसार अर्थ-निश्चय, यथा 'बीथिन मे ब्रज मे नवेलिन मे बेलिन मे बनन मे बागन मे बगरो बसन्त है।' बनन = जगलो, (जल नही, क्योंकि वसन्त का उल्लेख है)।

१३—व्यक्ति। पुल्लिंग, स्त्रीलिग आदि से अर्थ-निर्णय, यथा 'एरी मेरी वीर जैसे, तैसे आँखिन ते कढिगो अवीर पै अहीर तो कढे नही'। वीर = सखी (भाई, पति अथवा योद्धा नही, क्योकि स्त्रीलिग 'मेरी' शब्द का प्रयोग है,

१४—स्वर, यथा दुष्ट से 'आप तो बहुत भले है' = आप बहुत बुरे है।

१५—चेष्टा अथवा अभिनय। यथा 'उसका शरीर इतना बडा है, उसकी आँखे इतनी बडी है'। हाथ के सकेत एव अभिनय के द्वारा 'इतना' और 'इतनी' का स्पष्टीकरण।

(ख) लक्षणामूला

लक्षणामूला शाब्दी व्यजना उस शक्ति को कहते है, जिसके प्रयोजन के निमित्त लक्षण का आश्रय लिया जाता है। सभी उपायो से ऊबी हुई नायिका ऐसा समझ बैठी है कि दु ख-निरोध के लिये उपाय करना 'हाथो से गाजे रोकना' है। हाथो से वज्र को रोकना, ऐसा कहने से यह प्रतीत होता है कि नलिनीदल, नवपल्लव, उशीरलेप आदि विरह-ज्वाला के उपशामक जैसे तुच्छ साधनो से तीव्र कामपीडा का अपहरण असभव है। गाजे = दुर्दम मर्मवेदना। मतिराम की निम्नलिखित पक्तियो मे शुद्धा साध्यवसाना प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा है और वेदना की अतिशयता व्यग्य है

आये वसन्त, नहीं घर कन्त, लगी सब अन्त की होने इलाजें।
बैठी रही हम हूँ हिय हारि, कहाँ लगि टारिये हाथन गाजें॥

आर्थी व्यंजना के भेद

वक्ता, बोधव्य (जिससे बात कही जाय), वाक्य, प्रस्ताव (प्रकरण), देश, काल, काकु (कंठध्वनि), चेष्टा आदि की विशेषताओं के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति को आर्थी व्यंजना कहा जाता है। 'काव्य प्रकाश' में लिखा है—

वक्तृ-बोधव्य-काकूना वाक्य-वाच्यान्यसंनिधेः ॥३,२१
प्रस्ताव-देश-कालादे वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुशाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधी हेतु व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥३,२२

उक्त दस भेदों मे प्रत्येक व्यजना के वाच्यसभवा, लक्ष्यसभवा और व्यग्यसंभवा नाम के तीन भेद होते है । इस प्रकार ग्रार्थी व्यजना के तीस भेद है ।

१—**वक्तृ-वैशिष्ट्य**, यथा

'सागर कुल मीन तरफत हुलसि होन जल पीन' (सूर की गोपी) ।

'नदिया मे मीन पियासी' (कबीर), अर्थात् जीव माया के कारण परमात्मा मे व्याप्त होकर भी दुःखी है ।

२—**बोद्धव्य** : गोकुलवास-प्रेमी नन्दजी से झुँझलाई हुई यशोदा कहती है

नन्द ! ब्रज लीजे ठोकि बजाय ।
देहु विदा, मिलि जाहिं मधुपुरी जेह गाकुल के राय ।

३—**काकु** कण्ठध्वनि से व्यक्त व्यग्य ।

दृग लखि हैं मधुचन्द्रिका सुनि है कल ध्वनि कान ।
रहि हैं मेरे प्रानतन, पीतम करौ पयान ।

वास्तव मे पत्नी नही चाहती कि मेरा पति जाय । इसी प्रकार

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू, तुमहि उचित तप मो कहं भोगू ?

४—**ग्रन्य सन्निधि** : एक कहै, दूसरा सुने, तीसरा समझे

रोज कहो गृह काज दिन, बीतत याही मांझ ।
ईठि लहौं फल एक पल, नीठि निहारे साँझ ॥ (दास)

उक्त पक्तियो को नायिका ने अपनी सास की उपस्थिति मे जार से कहा है । नीठि = बड़ी कठिनता से, ईठि = अवकाश ।

५—**वाच्य-वैशिष्ट्य** : उत्तरा अभिमन्यु से

मैं हूँ वही जिसको किया था विधि-विहित अर्धांगिनी ।
भूलें न मुझको नाथ हूँ मैं अनुचरी चिर संगिनी । (गुप्त)

६ - **देश-वैशिष्ट्य** : दण्डकारण्य मे पुन जाने पर राम की स्मृति

ये गिरि सोई जहाँ मधुरी मदमत्त मयूरन की छवि छाई । (सत्य०)

७—**काल-वैशिष्ट्य** · जो अभिलाषा वेदना की अधिकता से व्यंग्य है, वह काल की विशिष्टता के कारण वाच्योत्पन्न है :

कहाँ जायेंगे ये प्राण लेकर इतना ताप।
प्रिय के फिरने पर इन्हें फिरना होगा आप। (गुप्त)

८ **चेष्टा** : इंगित हाव, भाव आदि के द्वारा।

पुनि आउब इहि बिरियां काली, अस कहि बिहँसि परी इक आली।

९ **प्रस्ताव-वैशिष्ट्य** : प्रकरण की विशेषता।

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में, प्रियतम को प्राणों के पण में।
हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते॥

प्रकरण के अभाव में व्यंग्य नहीं निकलता, पर यह जानने से कि यशोधरा बुद्धदेव के चुपचाप गृह-त्याग के सबंध में उक्त शब्द कह रही है, व्यंग्य की प्रतीति हो जाती है।

१० **वाक्य-वैशिष्ट्य** : सम्पूर्ण वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति। नारद जी ने भगवान् विष्णु से प्रार्थना की थी कि 'हे हरि, मुझे अपना रूप दे दीजिए, जिससे विश्वमोहिनी मुझ पर मोहित हो जाय।' विष्णु जी ने नारद को बन्दर का रूप दे दिया, क्योंकि 'हरि' का अर्थ 'विष्णु' तो होता ही है, 'कपि' भी होता है। तुलसी कहते हैं—

जिहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु, बचन न मृषा हमार॥

११ **अनेक वैशिष्ट्योत्पन्न व्यंग्य** एक ही उदाहरण में अनेक विशिष्टताओं से व्यंग्य की प्रतीति।

काम कुपित मधुमास अरु श्रमहारी वह वाय।
कुंज, मंजु वनपति अनत करौ सखी यह काय॥

मधुमास (समय), कुंज, मंजु, वन (स्थान), वियोग (प्रकरण)। यहाँ तू प्रच्छन्न रूप से काम को भेज (व्यंग्य)।

अभिधा की महत्ता

अभिधा को 'मुख्या' और 'अग्रिमा' भी कहा गया है। लक्षणा से अभिधा का सीधा सम्बन्ध होता है, अतएव कुछ विद्वानों ने वाच्यार्थ के सम्बन्ध को ही लक्षणा कह दिया है।

'मुक्तावली' में लिखा है . 'लक्षणा शक्य सबध' अर्थात् लक्षणा शब्द का वाच्य-सम्बन्ध है। 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत में आचार्य आनन्दवर्द्धन के शब्द हैं :

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥ ९ ॥
यथा पदार्थ-द्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थ-पूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥ १० ॥

अर्थात् जिस प्रकार प्रकाश का इच्छुक दीपशिखा के लिए प्रयत्न करता है, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ के अभिलाषी को वाच्यार्थ (अभिधेयार्थ) के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। जिस प्रकार वाक्यार्थ बोध का कारण है पदार्थ की उपस्थिति, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ बोध का कारण है वाच्य की प्रतीति।

नवी शती के मीमासक मुकुलभट्ट 'अभिधावृत्तिमातृका' मे कहते है कि लक्षणा अभिधा से पृथक् नही 'अत्र हि स्वार्थ द्वारेण लक्ष्यमाणार्थाभिनिवेशिता शब्दानामुक्ता। उन्होने व्यंजना तो दूर, लक्षणा को भी अभिधा के दश-विध व्यापारो के अन्तर्गत मान लिया है 'इत्येतदभिधावृत्त दशधात्र विवेचितम्' (१३)[1]। दसवी शती के नैयायिक महिमभट्ट ने व्यजना की सत्ता को तर्कसम्मत नही समझा; उन्होने लक्षणा को कुछ स्थान दिया, परन्तु वे स्वयं शब्द की केवल एक शक्ति मानते थे; उनके अनुसार व्यंजना कोई स्वतन्त्र शक्ति नही, वह तो केवल अनुमान का एक रूप है। उन्होने 'व्यक्ति-विवेक' मे, ध्वनि का खडन करते हुए लक्षणा और व्यंजना को अनुमान-जन्य माना है। उनके अनुसार अर्थ दो प्रकार का होता है—वाच्य और अनुमेय।[2]

आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वन्यालोक' मे ध्वनि का लक्षण इस प्रकार दिया :

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ (१,१३)

अर्थात् ध्वनि उस काव्य को कहते है जिसमे शब्द अपने वाच्यार्थ का 'त्याग करने वाला' होता है। महिमभट्ट ने इस परिभाषा पर दस प्रधान आक्षेप किये है, यद्यपि सूक्ष्म विचार पर उन्हे उसमे और अधिक दोष मिल जाने की सभावना थी। महिमभट्ट का सबसे बड़ा आक्षेप 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' (अपने अर्थ को त्याग कर देने वाला) इस विशेषण पर है। वे कुमारिल[3] से सहमत है कि विशेषण मे दो विशेषताएँ होती है—'संभव' और 'व्यभिचार'। 'शीताग्नि' में 'शीत' शब्द असंभव है, क्योंकि अग्नि कभी शीत नही

१. आचार्य विश्वेश्वर : 'काव्य-प्रकाश' की भूमिका, पृष्ठ ५५।
२. अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च।
३. सम्भव-व्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्।
न शैत्येन नचौष्ण्येन वह्निः क्वापि विशेष्यते ॥कुमारिल॥

होती, और 'उष्णाग्नि' में 'उष्ण' विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि अग्नि सदा उष्ण होती है। 'नीलोत्पल' में 'नील' विशेषण संभव और 'व्यभिचार' भी है, क्योकि यह आवश्यक नही कि 'उत्पल' नील ही हों, वे श्वेत भी हो सकते है। 'उपसर्जनीकृतस्व' उक्त परिभाषा मे ठीक नहीं बैठता। ध्वनिवादी उस आवश्यक भेद को नही पहचानते जो 'प्रकरणभेद' और 'तार्किक प्रधानता' मे होता है। वाच्यार्थ की प्रधानता तो प्रकरण के कारण होती ही है। वाच्यार्थ पर प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता मान लेने से ध्वनिकारों के अभिप्राय की सिद्धि नही हो पाती, क्योकि उनके अनुसार तो शब्द 'व्यंजना' मे अपने वाच्यार्थ को खो बैठता है, पर वस्तुतः उस शब्द का व्यग्यार्थ अन्ततोगत्वा अनुमितिगत ही तो है[1]। इस बात को अस्वीकृत नही किया जा सकता कि गुणीभूत व्यग्य मे भी ध्वनि-काव्य जैसी रसास्वाद्यता रहती है। अतएव महिम भट्ट ने

अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

अर्थात् सम्पूर्ण ध्वनियों का समावेश अनुमान में हो जाता है, यह प्रकट करने के लिए 'व्यक्ति-विवेक' की रचना की है।

मम्मट ने अभिधा को मुख्य व्यापार समझा है। 'काव्य-प्रकाश' मे वे लिखते है: 'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते' (२, ८), अर्थात् वह (साक्षात् संकेतिक अर्थ) मुख्य अर्थ कहलाता है और उसका बोध कराने मे शब्द का जो मुख्य व्यापार होता है, उसे अभिधा कहते है। 'सोयमिशोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः यत् पर शब्दः स शब्दार्थ इति,' अर्थात् जिस प्रकार बाण का कार्य है—उत्तरोत्तर विद्ध करना, उसी प्रकार शब्द का कार्य है उत्तरोत्तर अर्थ का बोध करना। विश्वनाथ ने भी, साहित्यदर्पण मे, अभिधा को 'अग्रिमा' शब्द से अभिहित किया है, उनके शब्द है . 'तत्र संकेतार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा, २४' अर्थात् संकेतार्थ का बोध कराने के कारण अभिधा अग्रिमा है। कदाचित् भट्ट-द्वय से प्रभावित होकर रीति कालीन महाकवि देव ने सोचा कि व्यंजना को मानने की क्या आवश्यकता है? अतएव उन्होने लिखा कि—

अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लच्छना लीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल उलटी कहत नवीन॥

अर्थात् अभिधा उत्तम, लक्षणा मध्यम और व्यजना अधम काव्य है।

---

१ तदेवं वाच्यप्रतीयमानयोर्वक्ष्यमाणक्रमेण लिगलिगिभावस्य समर्थनात् सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावः समन्वितो भवति·····परार्थमित्यवगन्तव्यम्।

आधुनिक युग में डॉ० श्यामसुन्दरदास ने, 'साहित्यालोचन' में, लक्षणा और व्यंजना को अर्थ-प्रकार ही माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी अभिधा के माहात्म्य को स्वीकार करते है। उनके शब्द है "साहित्य शास्त्र के विधाताओ ने वाच्यार्थ से अधिक महत्त्व लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ को दिया है, पर यथार्थ रस तो वाच्यार्थ ही देता है। शब्द की इन तीनो शक्तियो का अन्तिम उद्देश्य तथ्य-बोध है; किन्तु इसी बोध-वृत्ति को प्राप्त करने के लिए हमे भिन्न दिशाओ से जाना पडता है। 'देश के लिए मरकर जीना सीखो'— इसमे लक्षणा कष्ट सहने का आदेश देती है, पर अभिधा तो लक्षणा के आदेश के साथ ही अतिरिक्त आनन्द भी देती है जो काव्य की वास्तविकता है"।

भट्टनायक ने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नाम की दो काव्य-शक्तियो को जन्म दिया, यद्यपि अभिनवगुप्त ने अनेक तर्कों द्वारा उन्हे 'अनर्गल' प्रमाणित करने का प्रयत्न और व्यजना का समर्थन किया है।

जैन-दर्शन के अनुसार, प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणवाली है (अनन्त-धर्म वस्तु)। कदाचित् कुछ ऐसी ही भावना से एलफ्रेड टेनिसन ने लिखा—हे भित्ति-पुष्प, यदि मैं तुझे जान पाता तो समस्त विश्व को जान लेता।[1] विलियम वर्ड्स्वर्थ ने भी कहा कि मुझमे तो तुच्छ से तुच्छ विकासमान फूल ऐसे विचार भर देता है जो बहुधा अश्रुओं की पहुँच से भी गहनतर है।[2] जब हम किसी वस्तु के सम्पर्क में आते है तो उसके अनन्त गुणो मे से केवल उन पर ध्यान देते है जो हमारे काम के होते है। गुलाब को कुछ कवियो ने पुष्पराज्ञी माना है, कवि उसकी शोभा को देखकर फडक उठता है, जीव विज्ञानी उसमे अनेक गुण अपने विज्ञान के अनुरूप पाता है, माली उसे माला के लिए उपयोगी समझता है और अत्तार उसका गुलकन्द बनाने की कल्पना करने लगता है। किन्तु लोक-व्यवहार मे वस्तु को पहचानने के निमित्त उसके कुछ सर्व-सम्मत साधारण

---

1. Flower in the crannied wall,
I pluck you out of the crannies,
I hold you here, root and all, in my hand,
Little flower—but 'if' I could understand.
What you are, root and all, and all in all,
I should know what God and man is

(Flower in the Crannied Wall)

2. To me the meanest flower That blows can give.
Thoughts that do often lie too deep for tears.

(Intimations of Immortality)

गुणो पर ही आग्रह किया जाता है, जो (लक्षण आदि के द्वारा) उसकी परिभाषा करते है। ऐसे सर्व-सम्मत गुण-समुदाय को मुख्यार्थ (अथवा कौनोटेशन) कहा जाता है। व्यावर्तकयुक्त जाति (जैनस+डिफ्रेंशिया) को लक्षण, इनके अतिरिक्त विशेष गुण (प्रोपर्टि), और आकस्मिक गुण (एक्सिडेंट) भी होते है, जिनका आविर्भाव और तिरोभाव प्रयोक्ता के अभिप्राय पर एव नैकट्य, सादृश्य और विरोध नामक विचार-संसक्ति (एसोसिएशन ऑव आइडिआज) पर निर्भर है। मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ को अभिधा शक्ति उपस्थित करती है। लक्ष्यार्थ कभी अनुमान पर आश्रित होते है और कभी साभिप्राय ससक्ति पर, और व्यग्यार्थ भी प्रकरणाधृत ससक्ति अथवा अनुमान पर निर्भर रहते है।

शैली

व्युत्पत्ति और अर्थ

'शील' शब्द मे 'ष्यञ्' और 'ङीप्' प्रत्ययों के योग से 'शैली' शब्द का निर्माण हुआ है। 'शील' का अर्थ है स्वभाव, आदत, आचरण, अतएव 'शैली' का अर्थ है लिखने का ढग, परिपाटी, आचरण। 'मनुस्मृति' पर कुल्लूक भट्ट की टीका मे 'शैली' शब्द का प्रयोग प्रणाली या पद्धति के अर्थ मे हुआ है 'प्रायेण आचार्याणामिय शैली यत् समासेन अभिधाय विशेषेण विवृणोति।'

परिभाषा

'शैली' अभिव्यक्ति का प्रकार है, जिसका कथन विद्वानो ने अनेक रूप से किया है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के अनुसार, "भाव, विचार और कल्पना तो हममे प्राकृतिक रूप से विद्यमान रहते है और साथ ही उन्हे व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी हममे रहती है। अब यदि शक्ति को बढ़ाकर, सस्कृत और उन्नत करके, हम उसका उपयोग कर सकें तो विचार और कल्पना के द्वारा हम समार के ज्ञान-भडार की वृद्धि करके हम उसका कुछ उपकार कर सकते है। इसी शक्ति को साहित्य मे शैली कहते है।" श्री मैथिलीशरण गुप्त के अनुसार, 'भावों की कुशल अभिव्यक्ति ही शैली है'। काव्य मे दो तत्त्व अपेक्षित है—वस्तु (Matter), और उसकी अभिव्यक्ति का प्रकार (Manner)। डॉ० गुलाबराय वस्तु की अभिव्यक्ति के प्रकार को शैली कहते है। उनके अनुसार, काव्य मे शैली का वही स्थान है जो मनुष्य मे उसकी आकृति और वेश-भूषा का, तेल मे तिल का अथवा पुष्प मे सौरभ का। यद्यपि यह निष्कर्ष सदा ठीक नही कि जहाँ सुन्दर आकृति हो वहाँ सुन्दर गुण भी हों, तथापि आकृति और वेश-भूषा गुणों के मूल्याकन मे बहुत कुछ प्रभाव डालते है। इस बात को लॉर्ड चैस्टर-टन 'पुत्र के नाम पत्र' नामक अपनी पुस्तक मे लिख चुके थे कि 'शैली विचारो का परिधान है।' लेखक के शान्त, सात्त्विक और गम्भीर विचार संयत और गम्भीर शैली में, तथा उसके विलासी और अश्लील विचार बनावटी और आडम्बर पूर्ण शैली मे, व्यक्त होते रहते हैं।

शैली और व्यक्तित्व

फ्रांस के प्रसिद्ध-प्रकृति विज्ञानी जॉर्ज लुई ले क्लार्क कमतेद बफ़न ने कहा है कि शैली ही मनुष्य है (स्टाइल इज़ द मैन)।[1] लौञ्जाइनस भी ऐसा कह चुके थे। उनका यह कथन अधिकांश में सत्य है। कबीर, सूर, तुलसी, बिहारी आदि प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं पर उनके व्यक्तित्व की छाप पड़ी होती है। जब उनकी कोई पंक्ति हमारे सामने आती है तो नाम जाने बिना ही हमको यह आभास मिलने लगता है कि उक्त कवियो मे से वह अमुक की है। रामचन्द्र शुक्ल की गद्य-शैली गम्भीर, सशक्त और प्रभाव पूर्ण है, किन्तु श्यामसुन्दरदास की, अपेक्षाकृत सरल है। जयशंकर प्रसाद का काव्य विशाल, गम्भीर एवं भाव पूर्ण है; पर सुमित्रानन्दन पंत के काव्य में कोमलता, करुणा और बाल सुलभ जिज्ञासा उपलब्ध है। सूर्यकान्त 'निराला' ने झुकना नही सीखा—न साहित्य मे, न जीवन मे। अतएव उनकी शैली में शक्ति और गंभीरता विद्यमान है। करुणा-कलित महादेवी वर्मा के काव्य मे करुणा व्याप्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कवि के स्वभाव और शैली में परस्पर साम्य है, उसी प्रकार विषय और शैली का भी परस्पर गहरा सम्बन्ध होता है। लौञ्जाइनस ने ठीक ही कहा है कि महान् आत्मा ही महान् काव्य की रचना करती है। विषय-प्रतिपादन के अनुसार एक ही लेखक की शैली कभी गम्भीर और कभी सरल होती है, यथा महावीर प्रसाद द्विवेदी की। बफन का कथन शत-प्रतिशत ठीक नही, अधिकाश मे सत्य है; क्योकि कभी-कभी व्यक्तित्व के पहचानने मे भ्रम भी हो जाता है, यथा :

अमिय हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार॥

इस दोहे को कुछ लोग बिहारी का समझते थे, किन्तु है यह रसलीन कवि का, जैसा कि शुक्ल जी ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्पष्ट किया है।

शैली के उपकरण

वर्ण, पद, वाक्य, गुण, वृत्ति, रीति, अलकार, छन्द, शब्द-शक्ति आदि शैली के अनेक उपकरण माने गये है, जिनका विस्तृत परिचय अन्यत्र दिया जा चुका है। शैली का आधार भाषा है; अतएव कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह कोश और व्याकरण पर अच्छा अधिकार रखे। ज्यों-ज्यो लेखक का अनुभव बढता है, त्यों-त्यो

---

१. 'स्टाइल' शब्द लैटिन भाषा के 'Stylus' से बना है, जिसका अर्थ है कलम। प्राचीनकाल मे योरप में मोम की पट्टियों पर और भारत में ताडपत्र पर लोहे के कलम से लिखा जाता था।

उसकी शैली का विकास होता है, अर्थात् उसकी भाषा में शब्दो की न्यूनता और भावो की वृद्धि होती जाती है। साधारणत: कवि की प्रारम्भिक अवस्था मे शब्दाडम्बर, उसकी मध्यावस्था मे शब्दो और भावो मे समानता, और उसकी प्रौढ़ावस्था मे भावो की अधिकता एव शब्दो की न्यूनता लक्षित होती है।

पदविन्यास और वाक्यविन्यास शैली के महत्त्वपूर्ण उपकरण है। उनमें इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि किसी एक बात का प्रतिपादन हो, और वाक्य एक-दूसरे मे इस प्रकार सघटित रहें कि यदि उनके बीच से किसी एक को अलग कर दिया जाय तो अर्थ मे अस्पष्टता और शिथिलता दिखायी देने लगे। अतएव वाक्यो का 'संक्रमण' तथा भावो का 'विकास' ये दोनो गुण भाषा मे परम आवश्यक हैं, और इस विषय मे सफलता प्राप्त करने के लिए 'संयोजक' और 'वियोजक' शब्दों के प्रयोग मे कौशल की आवश्यकता है। शैली मे अलकारो का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, क्योकि अलकारवादी तो अलकार को ही सब कुछ समझते है, किन्तु रस-वादी भी इतना तो मानते है कि अलकार रस के उपकर्त्ता है। अलकारो के जानबूझ कर और अत्यधिक प्रयोग मे काव्य मे अवश्य ही अनुरक्ति के स्थान पर विरक्ति हो जाने की आशका रहती है।

गद्य और पद्य का अन्तर छन्द पर आधृत है। छन्द के द्वारा उक्ति के सौदर्य मे अभिवृद्धि होती है। तुक के लिए सस्कृत काल मे इतना मान नही था जितना मध्य काल मे रहा, किन्तु अब वह फिर कम होने लगा है। गद्य की तुकबन्दी तो सदोष समझी जाने लगी है, यद्यपि इसमें कोई सदेह नही कि गद्य मे भी गति और लय होती है।

तीन प्रकार की शब्द-शक्तियो मे से अभिधा की अपेक्षा लक्षणा की, और लक्षणा से भी अधिक व्यजना की प्रतिष्ठा है। वक्रोक्ति और ध्वनि का निकट सबध व्यजना से है। व्यजना का प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके कारण अर्थ के समझने मे शब्द-दुरूहता बाधक न हो।

वृत्ति

साहित्य तथा व्याकरण मे शब्द की अभिधा, लक्षणा, व्यजना और तात्पर्य, चार वृत्तियाँ अर्थात् शब्द-शक्तियाँ मानी गयी है, जिनका विशेष परिचय दिया जा चुका है। नाट्यशास्त्र मे वृत्ति को रचना-शैली कहते है, जो चार प्रकार की होती है—भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। भरतमुनि ने वृत्ति और प्रवृत्ति मे अन्तर और वृत्तियो को काव्य की माताएँ माना है : 'सर्वेषामेव काव्याना वृत्तयो मातृका स्मृता.।' वृत्ति को व्यवहार या पुरुषार्थ का साधक व्यापार बताया

गया और उन क्रिया-कलापो और चेष्टाओ को वृत्ति के अन्तर्गत समझा गया है जो व्यवहार-सूचक है। भरत के अनुसार नाट्य-वृत्तियो मे शारीरिक और मानसिक चेष्टाओ का समावेश है, किन्तु आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त ने नाट्य-वृत्तियो को अर्थ-वृत्तियाँ, और उपनागरिका, परुषा तथा कोमला को काव्य-वृत्तियाँ माना है। उद्भट ने वृत्तियो को अनुप्राम-जाति समझा है, क्योकि इनमे वर्ण-व्यवहार की प्रधानता होती है, पद-सघटना का विचार नही होता। रुद्रट के अनुसार वृत्ति समास के आश्रित रहती है। आनन्दवर्द्धन के अनुसार रसानुगुण अर्थव्यवहार नाट्य वृत्ति है, और रसानुगुण शब्द-व्यवहार काव्यवृत्ति। अभिनव गुप्त ने पुरुषार्थ-साधक व्यापार को ही वृत्ति कहा है, परन्तु मम्मट ने वृत्तियो को, उद्भट के अनुसार, वर्णव्यवहार पर आश्रित मान कर रीति मे ही इनका समावेश कर लिया है। माधुर्य गुण के लिए मधुरा वृत्ति और वैदर्भी (उपनागरिका) रीति, ओजगुण के लिए परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति, तथा प्रसाद गुण के लिए प्रौढा वृत्ति और पाचाली रीति उपयुक्त समझी गयी है। नाटक में कैशिकी वृत्ति शृगार-हास्य के, सात्त्वती अद्भुत-रौद्र-वीर के, आरभटी भयानक-वीभत्स-रौद्र, के और भारती वृत्ति करुणादभुत रसो के अनुकूल होती है।

वृत्तिरीति ?

क्या 'वृति' और 'रीति' मे अन्तर है ? कुछ आचार्यो ने वृति को स्वतत्र समझा है, यथा उद्भट ने वर्णव्यवहार के रूप मे तथा रुद्रट ने समासाश्रय के रूप में, वृति को रीति से पृथक् माना है, और अभिनव गुप्त ने वृति का पृथक् वर्णन किया है। आनन्दवर्द्धन ने वृत्ति को शब्द-व्यवहार मानकर रीति से इसकी एकता स्वीकार की है। मम्मट ने दोनो को एक ही माना है, और उनके अनुसार वैदर्भी उपनागरिका वृत्ति, गौणा परुषा वृत्ति, तथा पाचाली कोमला (ग्राम्य) वृत्ति है। जगन्नाथ तथा परवर्त्ती आचार्यों ने भी वृत्ति और रीति को एक ही माना है, परन्तु वामन ने वृत्तिय को रीति का अग समझा है।

हमारे विनम्र मत से 'वृत्ति' और 'रीति' मे अन्तर है। वृत्ति का सम्बन्ध अर्थ से है, तो रीति का शब्द से, किन्तु जिस प्रकार शब्द और अर्थ की सपृक्ति है, उसी प्रकार रीति और वृत्ति की भी है। यद्यपि भाव की कोमलता और शब्द का कोमलता, भाव की परुषता और शब्द की परुषता, भाव का प्रसाद और शब्दो का प्रसाद भिन्न-भिन्न है, तथापि इन द्वन्द्वो का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि वृत्तियो को काव्य-पुरुष के अर्थोपार्जक हाथ माना जाय तो रीतियो को उसकी गतिशील टाँगे।

'शैली' का प्रयोग

'शैली' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है, यथा. १. शैली अभिव्यक्ति का वैयक्तिक प्रकार है, अतएव शैली ही मनुष्य है। २. अभिव्यक्ति के सामान्य प्रकार। भारतीय काव्य-शास्त्र की 'रीतियों' को इसी अर्थ में शैलियाँ कहा जा सकता है, जिसकी चर्चा 'काव्य-सम्प्रदाय' नामक अध्याय मे की जा चुकी है। ३. वर्णन की उत्तमता। जब हम किसी काव्य की प्रशस्ति करते हुए कहते है कि 'यह है शैली' अथवा किसी काव्य की निन्दा करते हुए कहते है कि 'यह क्या शैली है ?' तो हम 'शैली' का प्रयोग वर्णन की उत्तमता के अर्थ मे करते हैं। डॉ० गुलाबराय कहते है कि उत्तम 'शैली मे न तो इतना निजीपन हो कि वह सनक की हद तक पहुँच जाय और न इतनी सामान्यता हो कि वह नीरस और निर्जीव हो जाय'। मिडिलटन मरि के शब्दो मे ·

"It (highest style) is a combination of the maximum of personality with the maximum of impersonality; on the one hand it is a concentration of peculiar and personal emotion, on the other hand it is a complete projection of this personal emotion into the created thing (The Problem Of Style p. 35).

अर्थात् उत्तम शैली में अधिकतम व्यक्तित्व और अधिकतम निर्वैयक्तित्व का सम्मिश्रण होता है। एक ओर तो उसमे निराली और व्यक्तिगत संवेगों की एकाग्रता और दूसरी ओर कवि की सृष्ट वस्तु मे उसके व्यक्तिगत सवेग का सम्पूर्ण प्रक्षेप होता है। कदाचित् इसी कारण अच्छे लेखक अपनी रचनाओ मे 'मै', 'हम' आदि सर्वनामो का प्रयोग बहुत कम करते है और वे उत्तम पुरुप के स्थान पर प्रथम पुरुप का प्रयोग अधिक उचित समझते है। कवि अपने को कितना ही गूढ क्यो न रखे, फिर भी, जैसा कि कहा जा चुका है, उसके काव्य पर उसके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप रहती ही है।

शैली

पश्चिम के प्रभाव से भारतीयो मे कुछ ऐसी धारणा बन रही है कि भारतीय काव्य शास्त्र मे व्यक्तिगत शैली की ओर ध्यान नही दिया गया, उसके सामान्य रूपो का ही विवेचन हुआ है। पर डॉ० गुलाबराय ने इस धारणा को मिथ्या माना है, और अपने मत की पुष्टि मे उन्होने कुछ प्रशस्त प्रमाण भी दिये है, जो इस प्रकार है :

१—आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में लिखा है कि 'अस्त्यनेको गिरां मार्ग. सूक्ष्मभेद परस्परम्' (१,४०), अर्थात् व्यक्तियो की शैलियाँ अनेक प्रकार की होती

सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

प्राक्कथन

'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' यह वाक्य उसी प्रकार का महावाक्य प्रतीत होता है, जैसा कि 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', किन्तु यह वाक्य न वेद का है, न उपनिषदो का और न किसी पुराण का ही। जहाँ तक हमे ज्ञात है, इसका सर्वप्रथम प्रयोग यूनान में अफ़लातून (प्लेटो) ने यूनानी भाषा मे किया था, जो अग्रेजी मे अनूदित होकर 'द ट्रू, द गुड, द ब्यूटिफुल' इस रूप को प्राप्त हुआ और कालान्तर मे इग्लैंड से बगाल पहुँचा, जिसे राजा राममोहन राय तथा महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पितृदेव महर्षि देवेन्द्रनाथ ने प्रयुक्त किया। तब से बंकिमबाबू के 'वन्दे मातरम्' की भाँति इसका भारत-व्यापी प्रचार हो गया है।

भारतीय स्रोत

डॉ० गुलाबराय ने इस सूक्ति का स्रोत भारत के प्राचीन साहित्य मे ढूंढ़ने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। उनके अनुसार यह विचार नितान्त नवीन नही, क्योकि भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते समय कहा था

अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्य प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते॥ गी० १७, १५

अर्थात् ऐसा वाक्य बोलना चाहिए जो दूसरो के चित्त मे उद्वेग उत्पन्न न करे; जो सत्य, प्रिय और हितकर हो तथा जो वेद-शास्त्रो के अनुकूल हो, यह वाणी का तप कहलाता है। उक्त उद्धरण मे 'सत्य प्रियहित' यह शब्द-त्रय ठेठ भारतीय रूप है। 'किरातार्जुनीय' में हित और सुन्दरं का योग दुर्लभ बताया गया है 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।' क्षिति मोहनसेन ने 'दादू' नाम का एक ग्रन्थ बगाली मे लिखा है, उसकी भूमिका में रवीन्द्रनाथ ठाकुर सत्य और शिव का समन्वय करते हुए कहते है कि 'सत्य की पूजा सौन्दर्य में है विष्णु की पूजा नारद को वीणा में है। सौन्दर्य का प्रतीक वीणा है और सत्य के प्रतीक विष्णु है.' त्रिमूर्त्ति में यदि भगवान् विष्णु सत्य के प्रतीक हैं और भगवान् शंकर शिव के, तो पद्मस्थ ब्रह्मा सौन्दर्य के है। ब्राह्मी शारदा वीणा-पुस्तक-धारिणी कहलाती है, उनका वाहन हस नीर-क्षीर विवेकी है, उनकी वीणा सुन्दरत्व का प्रतिनिधित्व करती है, और पुस्तक सत्य और हित दोनों की

साधिका है। मेरे विचार से सत्य शिव और सुन्दर का समन्वय उसी प्रकार का है जिस प्रकार कालिदास के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश का :

एकैव मूर्तिर्बिभदे त्रिधा सा,
सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्,
वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ। (कुमार ७. ४४)

अर्थात् केवल एक ही मूर्ति त्रिविध हो गयी; उनकी प्राथमिकता तथा अवरता समान है, क्योंकि कभी हर हरि की, कभी हरि हर की कभी ब्रह्मा दोनो की और कभी दोनों ब्रह्मा की अपेक्षा प्रधान है।

डॉ० गुलाबराय ने 'सत्य शिवं सुन्दरम्' का सम्बन्ध ज्ञान (Knowing), भावना (Feeling) और संकल्प (Willing) नाम की तीन वृत्तियों से तथा ज्ञान भक्ति और कर्म नामक त्रिमार्गों से बताया है। 'सत्य शिवं सुन्दर' का घनिष्ठ सम्बन्ध सत्, चित्, आनन्द से भी है। शास्त्रों मे ज्ञान की बड़ी महिमा बताई है। उसके बिना मोक्ष की प्राप्ति नही होती : 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति।' इसीलिए आत्म-ज्ञान की प्राप्ति पर आग्रह किया गया है। वेदपाठी अपने मन को शिवसकल्प बनाने का प्रयत्न करता है. 'तन्मे मन. शिवसकल्पमस्तु' (यजु०)। उपनिषदो मे भगवान् रस है : 'रसो वै सः', और वे रस को प्राप्त करके आनन्दित होते हे. 'रसो वै लब्ध्वा स आनन्दी भवति'। आनन्द से भगवान् जगत् की सृष्टि करते है, और कवि-वृन्द काव्य की। इस प्रकार हम देखते है कि जो सत्य है वह सुन्दर और शिव भी है और जो शिव है, वह सत्य और सुन्दर भी है।

सत्य का स्वरूप

त्रिकालाबाधित्व को सत्य कहते है। अर्थात् सत्य वह है जो भूत, भविष्य, और वर्त्तमान मे परे हो। सत्य अपने व्यावहारिक रूप में वस्तु और मन का सामञ्जस्य है, अर्थात् बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् का सामञ्जस्य सत्य है। विज्ञानी समझता है कि सत्य वह तत्त्व है जो अटल, निश्चित और शाश्वत है। इतिहास का सत्य भूत-कालीन है। वह प्राचीन खेड़े-खण्डहरों को खोदकर उसे वर्त्तमान मे लाने का प्रयत्न करता है। वह यह जानना चाहता है कि ससार किस प्रकार उत्पन्न हुआ, जीव की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, मनुष्य भूतकाल में कैसा था, वह क्या खाता-पीता था और किस प्रकार रहता था। विज्ञानी भी तर्क, कल्पना, निरीक्षण और प्रयोग के आधार पर वस्तु का विश्लेषण करता और उनके विश्लिष्ट अंगों में सामञ्जस्य को पुनः स्थापित करता है। तर्क-शास्त्री अपने तर्क-सिद्धान्तों के आधार पर तर्क-विशेषों

का विश्लेषण करता है। मनोविज्ञानी मन के विचार, भाव, संकल्प, विकल्प, चेतना-अचेतना तथा मनोविकारों का अध्ययन करता है। जीवविज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायनविज्ञान सभी के अध्येता यह जानना चाहते है कि तत्तद्-विषयक वस्तुओं का असली रूप क्या है। इतिहास, कानून (धर्मशास्त्र), दर्शन, सभी अपने दृष्टि-कोणों से सदसत् की मीमासा करते है। तर्कशास्त्र और आचार-शास्त्र यथार्थ की अपेक्षा आदर्श की ओर अधिक झुके हुए है। आचार-शास्त्री का चिन्त्य विषय है कि भले-बुरे का स्वरूप कैसा होना चाहिए। यदि मनोविज्ञानी का विषय है कि हम किस प्रकार सोचते है, तो तर्कशास्त्री यह जानना चाहता है कि हमें किस प्रकार सोचना चाहिए। इस प्रकार यथार्थवादी विद्वान् वर्त्तमान-परक है, तो आदर्शवादी विद्वान् कुछ-कुछ भविष्य-परक है।

साहित्य और इतिहास

साहित्य और इतिहास के दृष्टिकोणो मे समानता है तो विभिन्नता भी। "इतिहास मे तिथियो और संवतों को छोड़कर अन्य कोई वस्तु यथार्थतः प्रमाणिक नही होती, किन्तु साहित्य में तिथि और सवतों को छोड़ कर यथार्थत सब प्रामाणिक होता है"। इतिहास में राजाओं अथवा नवाबो के कार्यो का लेख होता है, किन्तु साहित्य मे साधारण जन और संस्कृति का विवरण होता है। ऊपर कहा जा चुका है कि दार्शनिक, वैज्ञानिक साहित्यकार और इतिहासकार ये सभी सत्य को उपस्थित करते है। "दार्शनिक का सत्य मस्तिष्क से सम्बद्ध है और वैज्ञानिक का सत्य भौतिक जगत् से। इतिहासकार केवल गडे मुर्दे उखाडता है और ककाल-मात्र प्रस्तुत करता है, जबकि साहित्यकार अस्थिपिंजर मे मास, मज्जा, जीवन, प्राण तथा रूप और रंग भरता है।" राष्ट्रीय महासभा काग्रेस की कीर्ति को फैलाने के लिए अनेक इतिहास लिखे गये है, किन्तु प्रेमचन्दजी के उपन्यासों और कहानियो ने इस विषय में जो प्रभाव डाला है, वह अनुपम है। यदि इतिहास गड़े मुर्दों को उखाड़ता है, तो साहित्य उनमे प्राण फूँकता है।

विज्ञान और साहित्य का सत्य

विज्ञानी पेड़-पत्तियो पर पड़ी हुई ओस को देख कर उस ओस का विश्लेषण करता है। वह यह जानना चाहता है कि ओस किस प्रकार बनी और उसमे क्या-क्या तत्त्व होते है, अथवा उसमें हाइड्रोजन और ऑक्सीजन कितनी मात्रा में रहते है। गगन-मण्डल में तारों को देख कर, वह यह जानना चाहता है कि अमुक नक्षत्र कितना बड़ा और पृथ्वी से कितनी दूर है, वहां के आदमी किस आकृति के है। किन्तु जिस प्रकार शिशु संसार की प्रत्येक वस्तु मे नवीनता और आकर्षण का अनुभव करता है, जिसके

कारण वह हर्षोल्लास से उछलता-कूदता है, उसी प्रकार कवि भी बाह्य तथा आभ्यन्तर जगत् की प्रतीति से प्रभावित हो कल्पना-विमान मे बैठ भाव-जगत् मे विचरण करने लगता है। फूल-पत्तियो पर प्रातःकालीन ओस को, अथवा रात्रि मे तारागण को देख कर वह आनन्द से विभोर हो जाता है और शब्दो के माध्यम से अपने आनन्दमय अनुभव का साधारणीकरण कर देता है। इसलिए वर्ड्सवर्थ ने कहा था कि मुझे तो तुच्छ से तुच्छ पुष्प भी जो विकसित होता और लहराता है, मेरे हृदय मे ऐसे भावों की उद्भावना करता है जो गम्भीर विचार के पश्चात् भी कठिनता से मन मे समा सकते है। डॉ० भागीरथ मिश्र के शब्दो मे 'कवि खोजे हुए सत्य के नग्न ढाँचे को लेकर उस पर रग एव रूप भरता है और उसे सरस एव सजीव बना देता है, यथार्थ के नीरस ठूँठ को वह कल्पनागत आदर्श से पल्लवित, पुष्पित, हरा-भरा एवं लहलहा कर देता है। दार्शनिक के सत्य, वैज्ञानिक के अन्वेषण एव इतिहास-वेत्ता की खोज को यथार्थ, उपयोगी एव आकर्षक बनाना कवि का ही काम है। इससे भी अधिक महत्त्व का कार्य कवि के लिए है सत्य को अपने मूल चारुत्व में ग्रहण कर उसको अपने सहज-सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्त करना।" विज्ञानी तो यह जानना चाहता है कि अमुक वस्तु वास्तव मे कैसी है, अतएव वह एतद् विषयक चिन्तन का विवरण अपने शब्दों मे देता है, किन्तु कवि उस बाह्य एव आभ्यन्तर वस्तु का वर्णन करता है जैसी वह उसको प्रतीत होती है। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है कि कवि किसी वस्तु का वर्णन नही करता, वह केवल उस प्रतीति और अनुभूति का वर्णन करता है, जिसका मूलाधार वह 'वस्तु' है। 'अग्नि पुराण' मे लिखा है : 'यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते' (३३९,१७), अर्थात् साहित्यकार ससार को ज्यो का त्यो स्वीकार नही कर लेता, वह तो अपनी रुचि के अनुसार विश्व को परिवर्त्तित कर लेता है। द्रष्टा की मानसिक दशा के कारण जो अन्तर किसी पदार्थ के वास्तविक रूप मे दिखायी देता है, उसे वैज्ञानिक स्वीकार नही करता, किन्तु कवि उसे बडे सम्मान के साथ अपनाता है। वह तो झूठ मे भी सत्य के दर्शन कर लेता है। यद्यपि कवि ऐतिहासिक नामो और तिथियो को महत्त्व नही देता, तथापि वह पूर्वापर क्रम से बँधा रहता है, इसी कारण वह न अकबर को औरगजेब का बेटा बताता है और न हुमायूँ को बाबर का पिता ही। कवि बाह्य प्रकृति का चित्रण करता है, किन्तु उसका काव्य प्रकृति की ज्यों की त्यों ऐसी नकल नही जैसी फोटो-कैमरे से सभव होती है। कवि का आधार प्राकृतिक सत्य है, किन्तु उसका काव्य उस पर आधृत (कल्पना-भाव-मिश्रित) अनुभूति की अभिव्यक्ति है।

कल्पना और कवि-सत्य

कवि, विज्ञानी और इतिहासकार ये सभी कल्पनाशील होते है। प्रत्न-वेत्ता

खेड़ा-खण्डहर का उत्खनन करके अपनी कल्पना से प्राचीन उपलब्धियो की व्याख्या करता है और विज्ञानी अपनी कल्पना की सहायता से अनेक आविष्कारो को जन्म देता है। उसी प्रकार कवि भी अपनी कल्पना से अनेक भावपूर्ण विचारो की उद्भूति करता है। डा० गणपतिचन्द्र के शब्दो मे "कल्पना के द्वारा साहित्य में उर्वरा शक्ति और रागात्मिका का सचार होना है, जिससे साहित्य, साहित्य बना रहता है अन्यथा कविता, विज्ञान तथा इतिहास मे कोई अन्तर ही न रहे। कवि की कल्पना इतिहास के सत्य मे कोई व्याघात नही पहुँचाती··· । कवि का सत्य कल्पित होते हुए भी त्रिकाल-सत्य होता है।" राम-कथा का सर्व प्रथम आधार 'वाल्मीकि रामायणम्' है, किन्तु उसी को तुलसी, केशव, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से गाया है। महाभारत में दुष्यन्त और शकुन्तला का जो आख्यान वर्णित है, उसी को किंचित् निजी कल्पना का रूप देकर कालिदास ने 'आभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक मे व्यक्त किया है। महाभारत में अँगूठी का उल्लेख नही, किन्तु कालिदास ने अँगूठी की वार्त्ता-सृष्टि करके नाटक मे अपूर्व कौशल का सन्निवेश कर दिया है।

कवि की निरंकुशता

कवियों को निरंकुश बताया गया है · 'निरकुशा· हि कवय ।' कला-वादियो का नारा है—कला-कला के लिए। कलावादी अथवा निरकुशतावादी, ऐसा प्रतीत होता है, कोरी कल्पना के रगीन हिंडोले मे झूलने का विफल प्रयाग करते है। लोकोक्ति है कि 'जहाँ न जाए रवि वहाँ जाए कवि।' इन सब उक्तियो का अभिप्राय केवल यह है कि कवि अबाध गति से कल्पना-जगत् मे विवरण करता हुआ काव्य-शास्त्र के नियमोपनियमों की अवहेलना करता है। यह कथन लगभग सोलहो आने ठीक है। फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि कवि की कल्पना अबाध है तथापि उसे प्राकृतिक सत्य के ऊपर कुछ न कुछ आश्रित रहना ही पडता है। वह न तो पहाड को नदी बता सकता है, और न वह गगा को उल्टी बहा सकता है; वह यह कहने का अधिकारी नही कि कश्मीर भारत के दक्षिण मे है और मद्रास भारत के उत्तर मे; वह यह नही कह सकता कि राजस्थान के निवासियो का मुख्य भोजन चावल है और बंगालियों का मुख्य भोजन बाजरा है। वह केशव की भाँति 'केसर' को जहाँ चाहे वहाँ नही उगा सकता, और वह यह नही कह सकता कि दशरथ राम के पुत्र थे अथवा लक्ष्मण चूडीदार पायजामा पहनते थे, अथवा महर्षि वशिष्ठ की वेष-भूषा कोट-पैंट थी। हाँ, इसमे सन्देह नही, जैसा कि डा० गुलाबराय कहते है—"कवि अपनी रुचि के अनुकूल चित्र के ब्योरे (डिटेल्ज) को उभार लाने के लिए वास्तविक संसार में काट-छाँट करता है और कूड़े-करकट को साफ़ कर असली स्वर्ण

को सामने लाता है।" प्राचीन कवियों को कवि-समयों (पोइटिक कनवैंशंज़) का अधिकार रहा है, जिनका विस्तृत उल्लेख राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में किया है, यथा. चकवा-चकवी का रात को अलग रहना, अशोक वृक्ष का किसी सुन्दरी के पदाघात से पुष्पित हो जाना, गगा-यमुना आदि नदियों मे कमलों का उगना, परन्तु अब इन कवि-समयों का विशेष आकर्षण नही रहा; क्योकि इनके प्रयोग से विचार-धारा-जन्य आनन्द को व्याघात पहुँचता है। कुछ भी हो, कवि को प्रकृति पर न्यूनाधिक निर्भर रहना होता ही है।

साहित्य और सौंदर्य

सौदर्य की परिभाषा देना कठिन है। बिहारी कहते हैं—

समै-समै सुन्दर सबै, रूप-कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय॥ ४३२॥

बिहारी का दृष्टिकोण विषयी-गत है, अर्थात् सुन्दरता की परख करने वाले की आँखों मे सुन्दरता का मानदण्ड होता है। वह उस सुन्दर व्यक्ति या वस्तु में नही, जिसकी परख की जाती है। परन्तु कुछ लोग सौन्दर्य को विषयगत मानते है। बिहारी ने भी लिखा है : 'रूप रिझावनहार वो ए नैना रिझवार।' ६८२। सुन्दर वस्तु किसी के कहने या मानने से सुन्दर नही होती, सुन्दरता तो वस्तु में निरक्षेप रूप से विद्यमान रहती है। ताजमहल सुन्दर है, भले ही उसे कोई असुन्दर कहना चाहे, उसे असुन्दर भी कौन कहना चाहेगा, जब कि सुन्दरता का निवास ताजमहल मे है, न कि द्रष्टा के मन में। कालिदास ने लिखा है : 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेवरूप रमणीयतायाः।' अर्थात् क्षण-क्षण मे जो नवीनता धारण करे, वही रमणीयता है। बिहारी कहते हैं कि नायिका का चित्र ठीक-ठीक नही बन पाता; क्योकि प्रथमत', चित्रकार गर्व धारण किये हुए है, द्वितीयत', नायिका का सौन्दर्य क्षण-क्षण मे नवीनता धारण कर लेता है :

लिखन बैठ जाकी छबी, गहि-गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत् के, चतुर चितेरे कूर॥

कालिदास और बिहारी के उक्त शब्दो मे प्रतीत होता है कि सौदर्य विषय-गत होता है।

सुन्दरता क्या है ?

भाव-सामञ्जस्य को सौदर्य कहा जा सकता है और विचार-सामञ्जस्य को सत्य। सौंदर्य मे वर्णाकृति का सामञ्जस्य होता है। आकृति के सामञ्जस्य को

'सिमेट्री' कहा जा सकता है। जिसका आधार बिन्दु-रेखाएँ है। बड़े-बड़े प्रासादों मे मुख्य कक्ष के दोनों ओर एक ही आकार के कमरे होते है और एक ही कमरे मे दरवाजे और खिडकियो के आकार-प्रकार में 'सिमेट्री' का ध्यान रखा जाता है। व्यक्ति-सौदर्य मे, शरीर-संस्थान और बाह्येन्द्रियो की 'सिमेट्री' पर आग्रह होता है। कोई नारी कितनी ही सुन्दर हो, यदि उसकी एक आँख छोटी और दूसरी बड़ी हो तो वह सुन्दर नही मानी जायगी। सौदर्य-निर्धारण मे 'आकृति' के अतिरिक्त 'वर्ण' की भी महत्ता है। किसी व्यक्ति का शरीर कितना ही सुडौल क्यों न हो, यदि उसका वर्ण कोकिलवत् काला हो तो उसे सुन्दर कहने मे सकोच होगा। 'सौन्दर्य (ब्यूटी) से सम्बद्ध 'माधुर्य' (ग्रेस) है। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण मे लिखा है : 'चित्त द्रवी-भावमयोऽह्लादो माधुर्यमुच्यते।' ८,२, अर्थात् चित्त के पिघलाने वाले आह्लाद को माधुर्य कहते है। आह्लाद, क्रूर और नृशस का भी हो सकता है : रोमन लोग निःशस्त्र मनुष्यो को लड़वाते थे और मुगलसम्राट् हाथियो की लड़ाइयो मे आह्लाद प्राप्त करते थे। वेश्या का सौदर्य अनेक भावुको के मन का अपहरण कर लेता है। काव्य का सौन्दर्य भावाभिव्यक्ति की सफलता, अर्थात् विभावादि के सयोग से रस की निष्पत्ति में निहित रहता है।

सत्य और शिव से सुन्दर का सम्बन्ध

'साहित्य की परिधि' नामक अध्याय में यह बताया जा चुका है कि जिस प्रकार प्रकृति त्रिगुणात्मक होती है और जिस प्रकार त्रिभुज मे तीन भुजाएँ होती है; उसी प्रकार सत्य, शिव, और सौन्दर्य की समष्टि होती है। त्रिभुज मे से किसी भुजा को निकाल दिया जाय, तो त्रिभुज की त्रिभुजता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार यदि काव्य के सत्यं, शिव, और सुन्दरम् मे से किसी एक को पृथक् कर दिया जाय तो काव्य की 'काव्यता' जाती रहती है, क्योकि बिना सत्य के सौन्दर्य और शिव नही रहते, बिना सौन्दर्य और शिव के सत्य नही रहता, उसी प्रकार बिना सत्य और शिव के सौन्दर्य नही रहता। विज्ञान, इतिहास और दर्शन में सत्य की भुजा शिव और सौन्दर्य की भुजाओं से बड़ी होती है, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, और राजनीति में शिव की भुजा सत्य और सुन्दर की भुजाओं से अधिक विशाल होती है। किन्तु काव्य मे सौन्दर्य-भुजा सत्य और शिव की भुजाओ से दीर्घ होती है। शिव तो सत्य और सौन्दर्य को मर्यादित, औचित्यपूर्ण एवं स्वस्थ बनाये रखता है। अतएव जॉन कीट्स ने लिखा :

Beauty is truth, truth beauty—that is all ye know on earth, and all ye need to know

(Ode on a Grecian Urn)

कभी-कभी सुन्दर और शिव में अन्तर करना कठिन हो जाता है, क्योंकि जो शिव है वह सुन्दर भी है, और जो सुन्दर है वह शिव भी है। एक कवि कहता है :

I slept and dreamt that life was beauty.
I woke and foundt that life was duty.

शिवता और सुन्दरता का अटूट सम्बन्ध है। कालिदासकृत 'कुमार-संभव' में भगवान् शिव पार्वती से कहते है—

"यदुच्यतेपार्वति पापवृत्तये, न रूपमित्यव्यभिचारितद्वचः।" ५३६

सौन्दर्य का मापदण्ड

सुन्दरता का मापदण्ड प्रत्येक युग के साथ बदलता है। कालिदास और तुलसीदास के अनुसार सुन्दरता के उपकरण और मापदण्ड वर्त्तमान युग मे कदाचित् उतने उपयुक्त न समझे जाएँ, जितने उन दिनो। हम जानते है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे आदि काल और भक्तिकाल के मापदण्ड रीतिकाल को अधिक न भाये, रीतिकाल की मान्यताएँ छायावादी युग मे अनुकूल प्रतीत नही हुई, और छायावादी युग की मान्यताएँ प्रगतिवादी एव नयी कविता के युग को बहुत अच्छी नहीं लगतीं। सौन्दर्य-भावना देशकाल से प्रभावित रहती है। रघुवश (१,१३) मे कालिदास ने दिलीप के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि दिलीप की छाती चौड़ी थी। कन्धे बैल के से थे और भुजाएँ शाल वृक्ष सी विशाल थी। डॉ० गुलाबराय के अनुसार दिलीप का यह सौन्दर्य क्षात्रधर्म के अनुकूल और उपयोगी है। अतएव सौन्दर्य का आधार विषय और विषयी दोनो है। विषयी उपयोगिता अथवा सुखदता की भावना से प्रेरित रहता है। बच्चे जिन रेखाओ और वर्णों को पसन्द करते है, वयस्क उनसे उतने प्रभावित नही होते।

सौन्दर्य और सुख

अभी हमने कहा कि कुछ रेखाएँ, वर्ण और चित्र सुखद अथवा दु.खद प्रतीत होते है, किन्तु इससे ऐसा नही समझ लेना चाहिए कि सौन्दर्य-प्रशस्ति और सुख-भुक्ति[1] एक ही बात है। किसी चित्र या राग मे करुणा अभिवृद्धि कर सकती है और यह स्पष्ट भी है कि किसी अभिनीत त्रासदी की प्रशस्ति मे सुख की स्थिति से कुछ और अधिक ही होना है। किन्तु यह बात बहुमत से स्वीकृत है कि सुन्दरता की भुक्ति का साहचर्य सुख की भुक्ति से होता है, और वर्ण, रेखा आदि के सम्बन्ध मे सुख-भाव की प्रधानता रहती है। पश्चिमी विद्वानो ने इस विषय में अनेक प्रयोग किये है और मनोवैज्ञानिकों ने जब ऐसे प्रयोग करते समय यह प्रश्न पूछा कि 'क्या

१. Appreciation of beauty and enjoyment of pleasure.

तुम इस वस्तु को सुन्दरता-युक्त समझते हो, और क्यो ?', तो 'सुन्दरता' शब्द का प्रयोग विवाद मे प्राय परिणत हो जाता था। किन्तु जब ऐसे प्रश्न किये जाते थे 'क्या आप इसे पसन्द करते है, और यदि पसन्द करते है तो क्यो ?, अथवा 'क्या आप इसे सुखद समझते है ?' तो ऐसे प्रश्नों से किसी विवाद की उत्पत्ति न होती थी।

क्रोचे ने अभिव्यक्ति को ही कला का सौन्दर्य माना है। वे 'अभिव्यक्ति' के साथ 'सफल' विशेषण को नहीं जोडना चाहते, क्योकि उनके अनुसार अभिव्यक्ति तो असफल मानी ही नही जा सकती। क्रोचे असुन्दर की श्रेणियाँ मानते है, सुन्दर की नहीं।

"वास्तव मे सत्य, शिव और सुन्दर भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे एक-दूसरे के अथवा अनेकता मे एकता के रूप है"। भगवद्गीता के अनुसार, सतोगुणी ज्ञान 'अविभक्त विभक्तेषु' (१८,) है, अर्थात् वह जो अनेक मे एक है। यह रही ज्ञान-क्षेत्र की बात। कर्म-क्षेत्र मे, अनेकता की एकता को शिव कहते है। वही काम कल्याणकारी समझा जाता है, जो अन्य कार्यों को भी साधता है और जो उनके सपादन मे बाधा उत्पन्न नही करता, प्रत्युत उनके सम्पादन में सहायता प्रदान करता है। धर्म वह तत्त्व है जो 'पकड़े रहता' अथवा मनुष्य को गिरने से बचाता है, अर्थात् उसे ऐसे कार्य करने से रोकता है, जिनसे उसकी अवनति हो। अग्रेजी शब्द 'wholesome' 'whole' से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है समग्र। कार्य वही हितकर है जो प्राणी को स्वस्थ और समग्र बनाये रखे। भावक्षेत्र की अनेकता मे एकता को सौन्दर्य कहते है। स्थापत्य के क्षेत्र मे भी 'अनेकता मे एकता' गोचर होती है। भवन क्या है ? ईटो का ढेर ? नही, वह बिखरी हुई ईटो का सामञ्जस्य है। वास्तु और चित्र मे वह विभिन्न अंगों की समष्टि है, सगीत मे विभिन्न सप्त स्वरो का सामञ्जस्य है, और काव्य मे वही शाब्दिक अभिव्यक्ति है—अर्थात् विचार, भाव, बुद्धि एवं शैली का सामञ्जस्य है।

———

आलोचना

(क) स्वरूप और उद्देश्य

व्युत्पत्ति और अर्थ

आलोचना = आ + लोच् + णिच् + ल्युट् । 'आ' उपसर्ग का अर्थ है 'चारो ओर से;' और 'लुच्' अथवा 'लोच' धातु का अर्थ है देखना । इस प्रकार समस्त शब्द का अर्थ हुआ चारों ओर से देखना अथवा परीक्षण करना । आलोचना के द्वारा किसी वस्तु अथवा रचना को देखकर उसके गुण-दोष का निर्धारण होता है, जिसे मूल्याकन कह सकते है । किसी पुस्तक को पढकर उसके गुण-दोषो का यह निश्चय किया जाता है कि वह (पुस्तक) पाठको के लिए किस दृष्टिकोण से कितने महत्त्व की है । विक्टर ह्यूगो के अनुसार कोई 'रचना सुन्दर है या असुन्दर' यह जानना ही आलोचना है, परन्तु यह परिभाषा अपूर्ण है, क्योंकि सुन्दरता का कोई वस्तुगत मापदड नही । डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दो मे, 'यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या माने, तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा ।' काव्यरूपी त्रिभुज की तीन भुजाएँ है—रचना, आस्वाद और आलोचना । इनमे से पहली भुजा कवि की, दूसरी पाठक की और तीसरी भावुक की है । साहित्य अथवा काव्य के सम्बन्ध मे बौद्धिक प्रश्नो का उपस्थापन ही समालोचना है । ये प्रश्न दो प्रकार के होते है – एक का सम्बन्ध काव्य-मात्र से और दूसरे का काव्य-विशेष से, अर्थात् पहले प्रश्न का सम्बन्ध काव्य-शास्त्र से है और दूसरे का सम्बन्ध किसी विशेष रचना से ।

अग्रेजी मे आलोचना को 'क्रिटिसिज्म' कहते है और आलोचक को 'क्रिटिक' । 'क्रिटिक' का शाब्दिक अर्थ है अलग-अलग करना । पाश्चात्य देशो में आलोचना का उद्देश्य है उन बातो को जानना और समाज को उन बातों का ज्ञान कराना, जिनका सम्बन्ध साहित्य से है । आलोचना किसी भी प्रकार की हो, उसका वास्तविक उद्देश्य है सभी दृष्टिकोणो से कविता का मूल्याकन करना, उन्हे पाठको के सम्मुख उपस्थित करके उनकी रुचि का परिष्कार करना और साथ ही काव्य के समसामयिक प्रवाह के मार्ग को निश्चित करना । मिडिल्टन मरि जीवन की सजगता को कला कहते है और कला की सजगता को आलोचना । वास्तव मे आलोचना के द्वारा जीवन मे कला को सर्वोच्च स्थान मिलता है ।

आलोचना का प्रादुर्भाव

यो तो काव्यशास्त्र का सूत्रपात भरतमुनि के नाट्यशास्त्र मे विद्यमान है, किन्तु आलोचना का प्रादुर्भाव राजशेखरकृत काव्य-मीमासा मे लक्षित होना है और क्षेमेन्द्र आदि औचित्यवादियो ने उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया। सुकरात ने कहा था कि 'कविलोग काव्य की रचना इस कारण नही करते कि वे बुद्धिमान् होते है, किन्तु उनमे एक प्रकार की प्रतिभा या शक्ति होती है, जो कि उत्साह के उत्पन्न करने मे समर्थ होती है' एडवर क्रॉम्बे के मत मे इस उद्धरण का तात्पर्य यह है कि काव्य का आस्वाद उसकी बौद्धिक आलोचना से भिन्न होता है। प्लेटो और अरस्तू ने काव्य के सम्बन्ध मे विचार किया, किन्तु यूनान मे आलोचना का प्रादुर्भाव पाँचवी शती से माना जाता है।

आलोच्य-विषय

काव्य के सभी रूपो की आलोचना हो सकती है—कविता, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, कहानी। आलोचक इन प्रकारो की कृति-विशेष को पढकर उसके गुण-दोषो की ओर पाठको को आकृष्ट कर सकता और उनके सम्मुख उसका उचित मूल्य उपस्थित कर देता है। उक्त प्रकारो की ही नही, आलोचना-ग्रन्थो की भी आलोचना हो सकती है। काव्य-शास्त्रियो ने स्वय अपने पूर्ववर्त्ती काव्य-शास्त्रियो के आलोचनात्मक ग्रन्थो का मूल्याकन अर्थात् उनका खडन-मडन अथवा सुधार किया है।

आलोचना का उद्देश्य

समालोचक किसी कृति की विस्तृत व्याख्या करता और उसके सम्बन्ध मे अपना मत स्थिर करता है। आलोचना का कार्य उन बातो को जानना है, जो श्रेष्ठ समझी गयी है और बदले मे उन्हे दूसरो को ज्ञात करा देना है। इस प्रकार सत्य और नवीन विचार की धारा उत्पन्न होती है। मैथ्यू आरनोल्ड के शब्द है Simply to know the best that is known and thought in the world, and in its turn making this known, to create a current of true and fresh ideas.[1] राजशेखर के अनुसार समालोचक की प्रतिभा कवि के श्रम और उसके अभिप्राय को व्यक्त करती है, वह कवि की कविता-लता को सफल बनाती है, इसके बिना कविता निष्फल रह जाती है। राजशेखर के शब्द है: 'भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवे. श्रममभिप्राय च भावयति;

१. Essays On Criticism, I (Page 18)

तया खलु फलित. कवेर्व्यापारतरुरन्यथा सोऽवकेशी स्यात् ।' स्पिनगार्न ने आलोचना का कर्त्तव्य द्विविध माना है, अर्थात् यह ज्ञान कि १—लेखक ने किस बात को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है और २—वह उसे व्यक्त करने में कहाँ तक सफल हुआ है। इसके अतिरिक्त एक जिज्ञासा और हो सकती है कि कवि का अभिव्यक्त विषय अभिव्यक्ति के योग्य था या नही। आलोचक उन बातों का मूल्य निर्धारण करता है जो कही जा चुकी है, वह उन बातो का निर्देश करता है जो कही नही गयी है, और दुहराई हुई बातो का विवेचन करता है। ऊपर कहा जा चुका है कि आलोचक का उद्देश्य कृति की विस्तृत व्याख्या और उसके सम्बन्ध में अपने मत को स्थिर करना है। पर क्या आलोचक को अपना मत स्थिर कर लेना चाहिए? डॉ० श्यामसुन्दरदास समझते है कि आलोचक को अपना मत स्थिर करना चाहिए? यह ठीक भी है, क्योकि जो आलोचक किसी निश्चित मत पर पहुँचता है उसके कथन का प्रभाव बहुत पडता है। किन्तु किसी कृति का पुन.पुन पाठ करने के अनन्तर आलोचक के मत में परिवर्त्तन होने की सभावना अवश्य रहती है, इसीलिए कुछ पश्चिमी विद्वान् समझते है कि आलोचक को अपना मत स्थिर नही करना चाहिए।

आलोचक के गुण

आलोचक के गुण दो प्रकार के होते है जन्मजात और अर्जित। बुद्धि और प्रतिभा जन्मजात है; किन्तु अध्ययनशीलता, मननशीलता, शास्त्रीय अध्ययन आदि अर्जित गुण है। पोप ने आलोचको को कवियो की भाँति जन्मसिद्ध, किन्तु लोंजाइनस ने आलोचक को अधिक परिश्रम का फल माना है। राजशेखर की 'काव्य-मीमासा' के चतुर्थ अध्याय मे लिखा है कि जो सत्कवि कविता के गुण और दोषो के तत्त्वों को स्वय समझता है, वह उसका आलोचक नही होता और यदि होता है तो वह मत्सरता से रहित नही होता। अतएव तत्त्वाभिनिवेशी विद्वान् भावुक तो सहस्रो में एक होता है। वह कवि के परिश्रम को जानता, शब्दों की रचना-विधि का भली-भाँति विवेचन करता, अनोखी सूझो से आह्लादित होता, काव्य के रसामृत का पान करता, और कवि-रचना के गूढ तात्पर्य को ढूँढ निकालना है। तत्त्वाभिनिवेशी के सम्बन्ध में राजशेखर के शब्द है :

शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनां मोदते सूक्तिभि :।
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।
पुण्यैः संघटते विवेकतृषिरहादन्तर्मुखं ताम्यतां।
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः॥

यह अत्यन्त आवश्यक है कि आलोचक विद्वान् और बुद्धिमान् हो, किन्तु साथ ही उसे उदार, गुण-ग्राही एवं निष्पक्ष होना चाहिए। डॉ० जॉनसन बडे विद्वान् थे, किन्तु वे पक्ष-पात पूर्ण भी थे। उन्हे राजनीतिक विरोध के कारण मिल्टन में और व्यक्तिगत द्वेष के कारण टॉमस ग्रे में, कुछ भी गुण दिखायी नही दिये। आलोचक को साहसी भी होना चाहिए और किसी प्रकार के राजनीतिक अथवा मैत्री-जन्य दबाव से मुक्त रहना चाहिए, क्योकि ऐसे दबाव के कारण आलोचक मिथ्या निन्दा-स्तुति का स्रष्टा बनता है, जिससे धार्मिक और नैतिक पतन की आशंका उत्पन्न हो जाती है। बड़े-से-बड़े आलोचक अपने युग की कृतियों की आलोचना भली-भाँति नहीं कर पाते, जिसके कारण उच्च कोटि की रचनाओ की उपेक्षा और निकृष्ट रचना की प्रशसा होने लगती है। अतएव समालोचक को चाहिए कि वह व्यक्तिगत, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक पूर्वाग्रह से, तथा साहस-हीनता और मत्सरता से, सर्वथा मुक्त रहे। आलोचक को इतना योग्य और भावुक होना चाहिए कि वह कवि की अनुभूति का अनुभव कर सके, नही तो एलफ्रेड टेनिसन कहेगे —

Vex not thou the poet's mind
With thy shallow wit;
Vex not the poet's mind
For thou canst not fathom it.

साहित्य-वृद्धि में बाधा ?

आलोचना के द्वारा पुराने ग्रन्थों के गुण और दोष दोनो प्रकट होते है। अतएव प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या आलोचना से नवीन साहित्य के सर्जन मे बाधा उत्पन्न नही होती ? ऐसी आशका संभव है कि दोष प्रकट होने के भय से कवि लोग अपने काव्य की सृष्टि बन्द कर दें, किन्तु यह आशका निर्मूल प्रतीत होती है। आलोचक तो अकुश तभी लगाता है, जब लेखक मनमाने ढग से कलम चलाता और ऊट-पटाँग लिखने लगता है। यदि आलोचना के कारण उच्छृंखल एव समाज-विरोधी लेखकों को नियन्त्रण मे लाकर साहित्य-सृष्टि मे कुछ बाधा उत्पन्न होती भी है, तो दूसरी ओर यह कहा जा सकता है कि आलोचना से सत् काव्य को प्रोत्साहन भी मिलता है। कभी-कभी एक आलोचना से दूसरी आलोचना का खण्डन हो जाता है, अर्थात् यदि कोई आलोचक किसी ग्रन्थ को अच्छा बताता है तो दूसरा उसको बुरा बता देता है। परस्पर विरोधी आलोचनाओं से आलोचना ही निरुद्देश्य हो जाती है, यह आशंका भी आशंका मात्र है, क्योकि आलोचक का निर्णय व्यक्तिगत तो होता है, पर वह न्यायाधीश का सा निर्णय नही होता। परस्पर विरोधी आलोचनाओ से तो विषय का मंथन भली-भाँति होता है और सार रूपी नवनीत ऊपर उभर आता है, जो अन्ततः हितकर ही है।

काव्य-श्रेष्ठता का प्रमाण

(क) **काव्यानन्द**— काव्य की श्रेष्ठता का सर्वोत्तम प्रमाण है काव्यानन्द। काव्य का मुख्य उद्देश्य मन को आनन्द देना है। जिस काव्य से जितने अधिक मनुष्यो को आनन्द मिले, वह उतना ही श्रेष्ठ होता है, जैसा कि वाल्टर स्कॉट की आलोचना करते हुए लॉर्ड जैफरी कहते है। भारतीय काव्य-शास्त्र मे, हम देख चुके है, काव्य की आत्मा रस है, जिसके द्वारा 'ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द' की प्राप्ति होती है, किन्तु काव्यानन्द की नापतोल कैसे हो ? यह कैसे जाना जाय कि अमुक काव्य अमुक से अधिक अच्छा है ? उदाहरण के लिए यह पूछा जा सकता है कि 'रामचरित-मानस' और 'विनय-पत्रिका' मे से, जो दोनो ही तुलसीदास जी के ग्रन्थ है, कौन-सा अधिक अच्छा है ? क्या इन ग्रन्थों की श्रेष्ठता का निर्णय मत-सख्या के आधार पर किया जा सकता है, और यदि ऐसा है तो मतदाता कौन हो और उनकी सख्या का निर्णय किस प्रकार हो ? विद्वज्जन 'विनय-पत्रिका' को कवित्व की दृष्टि से 'राम-चरित-मानस' की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान करते है, किन्तु इसमे सन्देह नही कि 'रामचरित-मानस' गोस्वामी तुलसीदास का अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। कोई अति-वादी कह सकता है कि 'तुलसीदास कृत रामचरित-मानस=शून्य'

(ख) **स्थायित्व**—इसके अतिरिक्त लोकप्रियता का मानदड क्या हो ? देवकी-नन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सतति' अथवा ठाकुर जगमोहनसिह के 'श्यामा-स्वप्न' इनमें से किसको अधिक अच्छा कहा जाय ? क्या उनको सस्करणो के अथवा बिक्री के आधार पर अच्छा बताया जाय ? कुछ ग्रन्थ अस्थायी महत्त्व के होते है, कुछ चिरन्तन महत्त्व के। किसी-किसी विद्वान् का मत है कि यदि किसी ग्रन्थ का अध्ययन साहित्य-जगत् मे बारह वर्ष से अधिक समय तक बना रहे तो उसकी गणना अच्छे काव्यो मे होनी चाहिए, किन्तु इस प्रकार की अथवा अन्य प्रकार की अवधि का निर्देश कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है; क्योकि किसी पुस्तक के प्रचार मे राजनीति, मैत्री, दबाव, धन-व्यय आदि अनेक कारण हो सकते है।

फिर भी जो ग्रन्थ वास्तव मे उत्कृष्ट एव उपादेय होते है, वे ससार में बच रहते है और जो ऐसे नही होते, वे ससार से शीघ्र लुप्त हो जाते है। कोई-कोई ग्रन्थ तो सैकडो और हजारों वर्षो के व्यतीत हो जाने पर भी बड़ी रुचि से पढे जाते है, यथा. वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, होमर, शेक्सपीयर, मिल्टन की कृतियाँ। ऐसे ग्रन्थ, काल के व्यतीत हो जाने पर, व्यक्तिगत आक्षेपो से रहित होकर, सर्वमान्य हो जाते हैं।

(ग) **नवनवोन्मेष**—लोकरुचि मे विचित्रता होती है। किसी ग्रन्थ के बार-बार पढने के अनन्तर ऐसी संभावना है कि आलोचक के दुराग्रह मे कमी हो जाय। एक विद्वान् का मत है . "यदि किसी ग्रन्थ को बार-बार पढने मे अधिकाधिक आनन्द आता रहे, यदि प्रत्येक बार के पारायण मे हमे उसकी कुछ विशेषताओ और उत्तमताओ का परिचय मिले, तो हमे समझ लेना चाहिए कि वह ग्रन्थ बहुत अच्छा और ध्यान-पूर्वक पढने के योग्य है। इसके विपरीत उसके दुबारा या तिबारा पढने मे कम या कुछ भी आनन्द न आवे, तो हमे समझ लेना चाहिए कि कम से कम हमारे लिए उस पुस्तक मे कोई सार की बात नही है।" लौजाइनस के अनुसार जो ग्रन्थ बार-बार परीक्षण करने पर सफल होता है वह महान् है, उससे प्रभावित न होना कठिन ही नही, असम्भव भी है। उसकी स्मृति और प्रभाव मिटाये नही मिटता, क्योकि उदात्त रचना सभी को और सदा आनन्द प्रदान करती है।

भावक (समालोचक) के प्रकार

जैन सट्टकवि मगल तथा आनार्य वामन के मत से भावकों के दो प्रकार के होते है—अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। किन्तु राजशेखर अपनी 'काव्य मीमांसा' (अध्याय, ४) में चार प्रकार के आलोचक मानते है—१. अरोचकी, २. सतृणाभ्यवहारी, ३. मत्सरी और ४. तत्त्वाभिनिवेशी।

१. **अरोचकी**—अरोचकी वे समालोचक होते है, जिन्हे किसी की अच्छी-से-अच्छी रचना भी पसन्द नही आती। अरुचि दो प्रकार की होती है—नैसर्गिकी और ज्ञानयोनि। जो आलोचक स्वभाव से अरोचकी होते है, उनकी आरोचकता तो सैकडो सस्कारो से भी दूर नही हो सकती। राँगे को कितनी ही बार औषधियो से शुद्ध किया जाय, फिर भी उसकी कालिमा दूर नही होती। परन्तु यदि अरोचकता ज्ञान-योनि (अर्थात् जान-बूझ कर) है, तो यह सभव है कि किसी अलौकिक एवं उत्कृष्ट रचना को पढकर रुचि उत्पन्न हो जाय। अरोचकता के इस द्विविध रूप की कल्पना राजशेखर की है। वे ठीक ही कहते है, क्योकि 'भिन्न रुचिर्हि लोक'। यदि किसी वैयाकरण को 'साहित्य' अच्छा नही लगता, तो किसी साहित्यिक को 'फक्किकाओं' का फाँकना अच्छा नही लगता।

२. **सतृणाभ्यवहारी**—सतृणाभ्यवहारी वे आलोचक होते है, जिन्हे सब-कुछ अच्छा लगता है। ससार में ऐसे मनुष्य होते है जो बात-बात मे मीन-मेष निकालते और दाल-साग में नमक के न्यूनाधिक होने पर ही थाली-लोटा फेक मारते है; और कुछ ऐसे भी होते है जो पत्नी के परोसे हुए अरस-विरस घास-पात को कान दबा कर

खा लिया करते है। दूसरी प्रकार के व्यक्ति काव्य-शास्त्र मे सतृणाभ्यवहारी कहलाते है। ये भावक नये होते और कुतूहल-वश सभी रचनाओ की प्रशसा कर देते हैं। वे प्राय विवेकरहित होते है, उनकी प्रतिभा गुण-दोषो का विभाजन ठीक-ठीक नहीं कर सकती। वे आलोच्य-रचना मे से बहुत कुछ छोड़ देते है, और बहुत कुछ को अपनी बुद्धि और विवेक के अनुसार इस प्रकार ग्रहण करते हैं, जिस प्रकार मधुभक्षिका मधु का संग्रह करती है। परन्तु अविवेक का न होना और यथार्थ को देखना कल्याणकारी है।

३. **मत्सरी**— मत्सरी आलोचक सतृणाभ्यवहारी के विलोम होते है। वे ईर्ष्या, द्वेष, दुराग्रह, पूर्वाग्रह, दबाव अथवा मिथ्याभिमान के कारण दूसरो मे दोप-दर्शन करते और कवि के गुणो को दोष ही समझ बैठते है। मत्सरी आलोचक देखते हुए भी आँख मूंद लेते है, क्योकि वे दूसरो के गुणो का वर्णन करने मे मौन रहना चाहते है। ऐसे आलोचक बिरले होते है जो गुणज्ञ हो, किन्तु मात्सर्य से रहित भी हो।

४. **तत्त्वाभिनिवेशी**—सच्चे आलोचक तत्त्वाभिनिवेशी होते है। वे कवि-श्रम के पारखी होते और शब्दो की रचना-विधि का भली-भाँति विवेचन करते है। जैसा कि कहा जा चुका है वे अनोखी सूझो से आह्लादित होते, काव्य के रसामृत का पान करते, और रचना के गुण-तात्पर्य को ढूंढ निकालते है। वे वास्तव मे नीर-क्षीर-विवेकी होते है।

राजशेखर कहते हैं कि कोई भावक शब्दो का, कोई भावो का, और कोई सात्त्विक तथा आङ्गिक अनुभवो का पारखी होता है। यदि कोई केवल गुणो का और कोई केवल दोपों का भावक होता है, तो कोई गुणग्राहक और दोप-त्यागी होता है।

वाग्भावको भवेत्कश्चित् कश्चित् हृदय भावकः।
सात्त्विकैराङ्गिकैः कश्चित् अनुभावैश्च भावकः।
गुणादानपरः कश्चित् दोषादानपरोऽपरः।
गुणदोषाहृतित्यागपरः कश्चन भावकः॥

अरसिक भावक बुरा होता है, इसी से कोई कवि ब्रह्मा जी से प्रार्थना करता है कि हे ब्रह्मन् किसी के भाग्य मे ऐसा कभी न लिखिए कि उसे अपना काव्य किसी अरसिक को निवेदन करना पड़े.

'अरसिकेषु कवित्व-निवेदनं शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख।

(ख) आलोचना के प्रकार

प्राक्कथन

भारतीय काव्य-शास्त्र मे आलोचना के प्रकारों का उल्लेख नहीं, यद्यपि वृत्ति,

टीका और भाष्य का उपयोग कवि की कृति को स्पष्ट करने के लिए होता था। सूत्र अथवा कारिका को स्पष्ट करने के लिए वृत्ति लिखी जाती थी। टीका की अपेक्षा वृत्ति छोटी होती है। कभी-कभी तो सूत्रकार और कारिकाकार भी अपने सूत्रों और कारिकाओं को स्वय स्पष्ट करते देखे गये है। 'काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति' मे आचार्य वामन के सूत्र हैं और उन पर उन्ही की वृत्ति भी है। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नाम की और भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनव भारती' नाम की मण्डनात्मक टीकाएँ लिखी है, जिनमे उनके स्वतन्त्र विचार भी निहित है। परन्तु रुय्यक ने महिम भट्ट के 'व्यक्तिविवेक' की टीका मे महिमभट्ट के अनुमानवाद का उपहास भी किया है। वादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' पर शंकराचार्य का 'शारीरिक भाष्य', रामानुजाचर्य का 'श्रीभाष्य', वल्लभाचार्य का 'अणुभाष्य' बहुत प्रसिद्ध है, किन्तु भाष्यकार विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचे है। भाष्य के नाम पर उन्होने दार्शनिक विचारों की स्वतन्त्र सृष्टि की है। पाणिनि के सूत्रों पर पतञ्जलि का महाभाष्य व्याकरण-जगत् मे परम प्रसिद्ध है।

प्रकार

आलोचना अनेक प्रकार की हो सकती है। किसी विषय या देश के आधार पर आलोचना का विभाजन हो सकता है, किन्तु ऐसे आधार पर आलोचना के प्रकारो का नामकरण इतना वैज्ञानिक और उपयुक्त नही समझा जाता जितना कि प्रणालियों के आधार पर। प्राचीन भारत और योरोप मे भी अनेक प्रणालियाँ प्रचलित रही है। हिन्दी-संसार मे तो कभी-कभी देशी-विदेशी दोनो का समन्वय उपलब्ध होता है।

परन्तु आलोचना के वर्गीकरण के दो आधार और भी अच्छे है १—काव्य-विशेष, और २—काव्य-शास्त्र। पहली के तीन प्रकार है · (क) आत्मप्रधान, (ख) निर्णयात्मक, और (ग) व्याख्यात्मक। इन तीनो प्रकार की आलोचना का सम्बन्ध किसी कवि की रचना-विशेष के गुण-दोष-विवेचन से, और दूसरी का अर्थात् काव्य-शास्त्रीय आलोचना का सम्बन्ध काव्य के रूप, आदर्श आदि के विवेचन से होता है।

(क) आत्मप्रधान आलोचना—

इसे प्रभावात्मक, प्रभाववादी अथवा प्रभावादिव्यञ्जक, (और अंग्रेजी मे इम्प्रेशनिस्ट अथवा सब्जेक्टिव) आलोचना कह सकते है। इस प्रकार की आलोचना के आधार है स्वछन्द व्यक्तिवाद और आत्मचेतना। किसी सुन्दर वस्तु को देख कर, अथवा किसी सुन्दर बात को पढ़-सुन कर, हमारे मन मे हर्षोल्लास (इंट्यूटिव रेस्पोंस) उत्पन्न होता है, और हम तुरन्त उस उल्लास को अहा, अहो, वाह-वाह, साधु-साधु आदि शब्दो से, अथवा किसी इगित, रोमाच, पुलक, करतल-ध्वनि से प्रकट कर देते हैं। किन्तु जब हम कभी किसी असुन्दर बात को देखते, पढ़ते,

या सुनते है तो छी-छी, थू-थू, आह, बत आदि शब्दो के द्वारा अपने मानसिक खेद को व्यक्त करने अथवा उस स्थान से उठ कर चले जाते है। नाट्य-शास्त्र मे भरत मुनि के शब्द हैं

स्मितार्धहासातिहसा साध्वहो कष्टमेव च।
प्रवृद्ध नादा च तथा ज्ञेया सिद्धिस्तु वाङ्मयी ॥ १७,४
पुलकैश्च सरोमाञ्चैरभ्युत्थानैस्तथैव च।
चेलदानागुलिक्षेपै शारीरी सिद्धिरिष्यते ॥ १७,५

प्रभाववादी आलोचक के मन मे इस प्रकार की भावना रहती है कि मेरा आनन्द स्वयं निर्णायक है। जब आलोचक का स्तर ऊँचा होता है तो उसकी आलोचना का मूल्य भी अधिक होता है और यदि वह विशेषज्ञ नही होता तो उसकी आलोचना का मूल्य भी नगण्य होता है। ऐसे आलोचक मे तीव्र सवेदन-शीलता, चित्त की गति-शीलता, भावानुभूति और कल्पना-शक्ति का होना आवश्यक है, क्योकि 'उल्लास के साधारणीकरण से आलोचना का मूल्य बढ़ जाता है' हिन्दी के आलोचना-जगत् मे मण्डित पद्मसिंह शर्मा को प्रभाववादी आलोचक समझा जाता है।

(ख) निर्णयात्मक आलोचना

अग्रेजी में निर्णयात्मक आलोचना को जुडिशल क्रिटिसिज्म' कहते है, क्योकि यह आलोचना कवियो और काव्यो की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में जज का सा निर्णय प्रदान करती है। इस निमित्त वह साहित्य-सम्बन्धी और कला-सम्बन्धी पूर्व-निर्दिष्ट नियमो का अनुसरण करती है। इस आलोचना का मुख्य लक्ष्य रचनाओ का मूल्याकन और पाठको की सहायता करना है। अमुक काव्य निकृष्ट है अथवा उत्कृष्ट, इस सम्बन्ध मे यह प्रणाली निर्णय देती है, किन्तु ऐसा करने मे वह कला-काव्य के नियमों पर निर्भर रहती है। इस प्रणाली का दोष यह है कि या तो यह रूढि से हटना नही चाहती, या परम्परागत सिद्धान्तो को पूर्णरूप से मान्यता प्रदान न कर सौदर्य-सिद्धान्तो को उपयोगी समझती है। यदि रूढि का और सुन्दरता-मूलक सिद्धान्तों का समन्वय किया जाय, तो ऐसी आशका हो सकती है कि ऐसा करने से भावक भटक जाय। निर्णयात्मक आलोचना को सैद्धान्तिक आलोचना का व्यावहारिक रूप कहा जाता है। निर्णयात्मक आलोचना की विशेषता यह है कि कवि मनमानी नही कर पाते, अर्थात् वे निरकुश नही हो पाते, पर साथ ही इसका दोष यह है कि कवियो की प्रतिभा कुण्ठित रह जाती है; और निर्णायक के सम्मुख कभी-कभी यह समस्या बनी रहती है कि वह काव्य-शास्त्र के विरोधी सिद्धान्तों मे से किसका आधार स्वीकार करे। तथापि यह प्रणाली आत्म-प्रधान आलोचना के दोषों से

रहित है। ऐसे आलोचको मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा मिश्रबन्धु प्रख्यात है।

(ग) व्याख्यात्मक आलोचना

व्याख्यात्मक आलोचना को अंग्रेजी मे 'इटरप्रिटेटिव क्रिटिसिज्म' कहते है। निर्णयात्मक आलोचक अपनी प्रेरणा काव्य-शास्त्र के किसी रूप से लेता है। काव्य-शास्त्र पर आत्यन्तिक निर्भरता रूढ़ि को जन्म देती है, और रूढि काव्य के प्रवाह मे बाधक होती है। किन्तु व्याख्यात्मक आलोचक रूढि-ग्रस्त नही होता, वह तो आलोचना के नियमो के बन्धन से मुक्त रहता है। आदर्श व्याख्याता रूढि, पूर्वाग्रह, निरोध, भावुकता, रीतिपरता, सैद्धान्तिक आसक्ति आदि के कालुष्य से बचने का प्रयत्न करता रहता है। कवि के आदर्शों को प्रधानता देता हुआ, वह यह जानना चाहता है कि अमुक कवि का उद्देश्य क्या था और उसने उसको किस प्रकार से निबाहा। अरस्तू के 'पैट्रिक' मे व्याख्या के सम्बन्ध मे विचार किया गया है। इग्लैंड मे यह मत कार्लायल और आरनॉल्ड के द्वारा लोक-प्रिय बना, वाल्टर पेटर ने उसका समर्थन, और मोल्टन ने विशेष प्रतिपादन किया। हिन्दी मे पण्डित रामचन्द्र शुक्ल इस पद्धति के आलोचक है।

किसी भी कलापूर्ण रचना मे तीन बाते प्रमुख होती है— प्रतिपाद्य विषय, प्रतिपादन और अनुभूतिजन्य अभिव्यक्ति। व्याख्याता को किसी कृति मे तल्लीन होकर कलाकार की उस अनुभूति का विश्लेषण करना पडता है, जिसकी अभिव्यक्ति हुई है। ऐसे विश्लेषण के निमित्त वैज्ञानिक आश्रय लिया जा सकता है अर्थात् मनोविज्ञान, मानवविज्ञान, विकासवाद, इतिहास, कवि परिचय आदि की सहायता का उपयोग किया जा सकता है। फ्रॉइड, एडलर, यग आदि मनोविश्लेषको ने मानव-मन का मथन कर साहित्य की प्रवृत्तियो पर प्रकाश डाला है। इतिहासकार हिपोलाइट एडोल्फ़ टेन ने साहित्य के इतिहास मे कार्य-कारण-सम्बन्ध को खोजने का प्रयत्न किया और आलोचना की वैज्ञानिक प्रणाली को जन्म दिया। किन्तु ऐसी सहायता ग्रहण करने से यह आशंका रहती है कि कही आलोचक के लिए साहित्य गौण हो न जाय और इतिहास अथवा विज्ञान-विशेष को प्रधानता न मिल जाय।

कवि-परिचय

किसी कवि के परिचय अथवा उसके जीवन-चरित्र का मूल्य क्या है? संसार मे तो घास-पात का भी मूल्य है; अतएव यदि कवि के परिचय अथवा उसके जीवन-चरित का भी मूल्य हो, तो आश्चर्य नही होना चाहिए। अधिक उपयुक्तता के साथ यह

प्रश्न इस प्रकार किया जा सकता है कि साहित्य में कवि-परिचय का क्या मूल्य है, अथवा काव्य मे उसका क्या स्थान है ?

साहित्य वह वाङ्मय है जो सत्य, शिव, सुन्दर की अथवा इनमे से किसी एक तत्त्व की, विशेष रूप से व्याख्या तथा रक्षा करता है। इतिहास, विज्ञान और दर्शन सत्य का अनुसंधान करते है। कवि-परिचय का घनिष्ठ सम्बन्ध इतिहास से है, अतएव सहृदय से भी। किसी साहित्य का इतिहास अपने दृष्टिकोण से उन कृतियो और प्रवृत्तियो का उपस्थापन एव अध्ययन करता है जो मानव के मन अथवा हृदय को प्रभावित कर चुकी है, अथवा जिनसे जन-साधारण का कल्याण हुआ या भविष्य मे होगा।

कवियो की रचनाओ को समझाने के लिये प्राय वृत्ति, टीका भाष्य अथवा वार्त्तिक का आविर्भाव होता है, किन्तु जब कोई वार्त्तिक, भाष्य आदि उपलब्ध नही होते तो हमें कवि-परिचय के द्वारा तत्कालीन परिस्थिति के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त कर लेने में सहायता मिलती है। भाष्य, वार्त्तिक आदि के रहते हुए भी, कवि का जीवन-चरित अपनी निजी विशेषता रखता है, क्योकि उसके द्वारा कवि के विचार-भाव हमारे सम्मुख स्पष्टतर रूप मे उपस्थित होते है।

कवि-परिचय का महत्त्व यह भी है कि उससे जिज्ञासा की शान्ति होती है। अमुक प्रख्यात कवि ने उस खिडकी पर अपना नाम उत्कीर्ण किया था, यह जानकर जिज्ञासु के मन मे अनिर्वचनीय अनुकूल वेदना का अनुभव अवश्य होता है। उदाहरणत, गोस्वामी तुलसीदास के जन्म-स्थान के सबंध मे जब यह पता चलता है कि गोस्वामी जी वास्तव में अमुक स्थान पर उत्पन्न हुए थे, तो कुछ आनन्द अवश्य मिलता है। कुछ लोगो ने तो उनसे अपने सम्बन्ध की अभिव्यक्ति भी की है, क्योकि ऐसा करने मे उन्हे (झूठे-सच्चे) गौरव से अद्भुत आनन्द की प्राप्ति हुई होगी।

कुछ महाशयो ने मुझसे कहा कि 'यदि तुलसीदास जी सोरो के थे तो क्या; यदि वे राजापुर के थे तो क्या, और यदि किसी अन्य स्थान के थे तो क्या ?' किसी साहित्यिक के मुख से ऐसी बात सुनकर आश्चर्य होता है। यदि तुलसीदास इस ससार मे न होते, तो क्या था ? क्या तुलसीदास के जन्म से पहले भारत मे लोगों को सत्यं, शिवं और सुन्दरं की प्राप्ति नहीं हुई थी ? क्या ससार के उन महाकवियों और महापुरुषों को काव्य-सौंदर्य की अनुभूति नही होती जो गोस्वामीजी के नाम से भी परिचित नही ? जो लोग यह कहते है कि 'तुलसीदास जी यहाँ के थे तो क्या ? और वहाँ के थे तो क्या ? हमे तो उनके ग्रन्थो से मतलब है,' उनसे यह निवेदन है कि इसमें सन्देह नही कि गोस्वामी जी की कृत्तियों का महत्त्व है, किन्तु यह भी ज्ञातव्य है

कि यदि निश्चित रूप से यह सिद्ध हो जाय कि तुलसीदासजी अमुक स्थान मे उत्पन्न हुए थे तो उनकी भाषा, कृतियो और विचारो के सम्बन्ध मे जो प्रवाद प्रचलित है, उनमें बहुत कुछ अन्तर पड़ जायगा तथा उनकी कृतियों के अब तक निर्दिष्ट काल-क्रम में विपर्यास हो जायगा। वे रामानन्दी अथवा विशिष्टाद्वैतवादी थे, इस धारणा मे परिवर्त्तन हो जायगा, उनके 'रामचरित-मानस' की भाषा अवधी है अथवा उनके जन्म-स्थान की भाषा व्रजावधी है, इस पर पर्याप्त विचार-विमर्श होने लगेगा। तुलसीदास के सम्बन्ध मे हम जिन सिद्धान्तो को अटल समझ बैठे है, उनमे परिवर्तन की आवश्यकता पड़ सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी कवि के जीवन-चरित और तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के ज्ञान से कवि-कृति को समझने मे बडी सहायता मिलती है। कवि के जीवन-चरित का सम्बन्ध, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, साहित्य से है, क्योकि वह कवि की कृतियों पर प्रकाश डालता है और क्योकि वह कभी-कभी जनसाधारण के जीवन का पथ-प्रदर्शन कर देता है। इसके अतिरिक्त 'भक्तमाल' और प्रियादास की टीका जैसे ग्रन्थों में जो कवित्त्व है, उससे सौदर्य की भी अनुभूति होती है, कवि-परिचय तो कुछ न कुछ मिल ही जाता है। इतिहास का यह साहित्यिक रूप समालोचना का एक आवश्यक अंग है। फ्रेडरिक श्लेगल ने तत्पश्चात् फ्रासीसी आलोचक हिपोलाइट अडोल्फ़ टेन ने अधिक विशदता से ऐतिहासिक आलोचना का सूत्रपात किया है। टेन के अनुसार कवि या लेखक अपनी जाति (रेस), परिस्थिति (मिल्यू) और काल (मोमैंट) की उपज होता है'।[1] परिस्थिति मे जल-वायु, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितिया सम्मिलित है और काल मे कवि-कालीन हार्द्र (स्प्रिट) और जातीय विकास। डॉ० गुलाबराय के शब्दो मे 'कवि और लेखक पर बहुत कुछ समय और परिस्थिति की छाप रहती है ..... वह अपने समय की उपज होता है ... . हमें कवि के अध्ययन में उस पर के बाहरी प्रभावो के साथ यह भी देखना चाहिए कि उसने समाज से क्या लिया और स्वयं उसने समाज को क्या दिया ... .. वीर गाथाकाल का साहित्य उस समय की परिस्थितियो का ही फल था। कबीर, जायसी आदि में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष और उसके शमन के उद्गारों की झलक है। सूर-तुलसी मे, मुस्लिम तथा नाथपन्थ द्वारा आयी हुई बौद्ध विचारधाराओ से पृथक्, हिन्दू-विचारधारा का निजत्व बनाये रखने की प्रवृत्ति है। रीतिकालीन कवियो मे तत्कालीन विलास-भावना और भक्तिकाल के धार्मिक प्रभाव की झलक है। भूषण मे महाराष्ट्र-जाग्रति की प्रतिध्वनि है'।[2]

---

१ द मेकिङ् ऑव लिट्रेचर, पृष्ठ २५३.

२. सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ३०१.

गणनात्मक[1] वैज्ञानिक-आलोचना की सफलता भी कवि परिचय पर कुछ न कुछ अवलम्बित है। कवि की मनोवृत्ति और उसके हस्तलेख आदि की परीक्षा मनोविज्ञानियो और लिपि विशेषज्ञो के द्वारा होती है। उदाहरणत तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की हस्तलिखित प्रतियाँ अनेक स्थानो से भिन्न-भिन्न कालो की मिलती है, उनमे पाठान्तर बहुत है। उन पाठान्तरो के क्रमबद्ध एव मनोवैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा यह ज्ञान संभव है कि तुलसीदास जी ने कौन से पाठ पहले रखे और उन्हे फिर कब और क्यो परिवर्त्तित कर दिया।

वास्तव मे, किसी कवि के परिचय से पाठक को वैसी ही आत्म-तुष्टि मिलती है जैसी किसी महापुरुष के जीवन-चरित से। इसके अतिरिक्त कवि-परिचय से कवि की भाषा, कृति, काल एव विचारधारा के प्रतिपादन, समालोचन अथवा निर्णय मे पर्याप्त सहायता मिलती है। हमे कवि की कृतियो को महत्ता प्रदान करते समय यह नही भूल जाना चाहिए कि कवि अपनी समस्त कृतियो से बडा है। उसकी कृतियाँ तो उसके व्यक्तित्व का अश मात्र है। कवि के अव्यक्त व्यक्तित्व का कुछ परिचय हमे उसकी रचनाओ से मिलता तो है, किन्तु उसके लिए, अत साक्ष्य के अतिरिक्त, भवन, जनश्रुति आदि बहि साक्ष्य की महती अपेक्षा रहती है। यह जान लेना बडा उपादेय है कि कवि के जीवन-काल मे उसके देश, समाज और शासन की अवस्था-व्यवस्था कैसी थी, अथवा उसके समकालीन कवियो ने, पत्नी ने तथा मित्रो ने उसके सम्बन्ध मे क्या लिखा। कभी-कभी कवि अथवा महापुरुष के सम्बन्ध मे छोटी-छोटी सूचनाएँ भी बडी मनोरम प्रतीत होती है। उदाहरणत, इस बात को जान लेने मे किसको उत्सुकता न होगी कि क्या वास्तव मे महात्मा ईसा मसीह सूली लगने के पूर्व और पश्चात् काश्मीर पधारे थे, अथवा हजरत मोहम्मद के विषय मे अमुक हदीस अमुक सूचना देती है। निस्सन्देह, साहित्य की अभिवृद्धि मे मैम्युअल जॉनसन के छाया-सहचर जेम्ज बॉसवैल जैसे अध्यवसायी का योगदान कम प्रशस्त नही।

व्याख्यात्मक आलोचना के सहायक

जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, व्याख्यात्मक आलोचक को इतिहास, मनोविज्ञान, विकासवाद, मानवविज्ञान एव तुलनात्मक अध्ययन से सहायता प्राप्त हो सकती है।

---

१. किसी कवि की सम्पूर्ण कृतियो की अथवा उसकी कृति-विशेष की शब्दानुक्रमणी से गिनकर यह बताया जा सकता है कि उसके काव्य मे अमुक शब्द का प्रयोग कितनी बार हुआ है और उस कवि की मनोवृत्ति क्या थी।

टेन ने ऐतिहासिक आलोचना पर आग्रह करते हुए कहा कि कवि पर उसकी (१) जाति (रेस), (२) परिस्थिति (मिल्यू) और (३) काल (मोमैट) का प्रभाव पडता है। 'जाति' के ज्ञान द्वारा परम्परागत मनोवृत्ति और स्वभाव का आभास मिलता है। डॉ० गुलाबराय उदाहरण देते है कि भारतीय धर्म भीरु होते है आयरिश आलसी, अमरीकी व्यवसायी और स्कॉटलैंड के लोग कजूस होते है।

'परिस्थिति' के अन्तर्गत जलवायु, राजनीति, समाज और वातावरण है। ये व्यक्ति के जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव डालते है। पानीपत और मुजफ्फरनगर के निवासी कुछ शब्दो को द्वित्व कर देते है, वे 'धोती' को 'धोत्ति', 'लोटा' को 'लुट्टा', 'चीनी' को चिन्नी' और 'बरेली' को 'ब्रेल्लि' बोलते है। कुछ विद्वानों के अनुसार वैदर्भी, गौडी, पाचाली और लाटी रीतियो का यह नामकरण देश के आधार पर ही हुआ है।

'काल' तो कवि-कालीन हार्द्र (स्प्रिट) और जातीय विकास का परिचय देता है। हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन इसी के आधार पर हुआ है, यथा वीरगाथा काल, भक्ति काल, रीतिकाल।

व्याख्यात्मक आलोचना मे विज्ञान भी सहायक है। इसके द्वारा यह विदित होता है कि अमुक कवि ने अमुक बात क्यो लिखी, वह अमुक शब्दों का प्रयोग अधिक क्यो करता है, उसके मन मे कौन-सी कुण्ठाएं थी, उसमे अमुक दोष क्यो विद्यमान था। इस विषय मे 'मनोविज्ञान' सहायक होता है, जो स्वयं आवश्यकतानुसार विकासवाद, जीवन-विज्ञान तथा मानव-विज्ञान से प्रेरणा ग्रहण करता है। सिग्मण्ड फ्रॉइड, एडलर और युङ् प्रसिद्ध मनोविज्ञानी है, जिन्होने कवियो और आलोचको को बहुत प्रभावित किया है। मनोवैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात जॉन लॉक से प्रभावित होकर एडिसन ने अठारहवी शती मे किया। एडमण्ड बर्क ने मनोवैज्ञानिक आधार को अपनाया। उन्नीसवी शती मे कवि और नाटककार इससे प्रभावित हुए, किन्तु बीसवी शती मे इसका प्रचलन सिग्मण्ड फ्रॉइड, एडलर, युङ् आदि मनोविज्ञानियों के प्रभाव से अधिक ही रहा है। हिन्दी-जगत् मे डॉ० नगेन्द्र इसके विशेष प्रतिपादक एवं पोषक है। प्रश्न हो सकता है कि मनोवैज्ञानिक छानबीन काव्य के रस और आनन्द मे कहाँ तक सहायक हो सकती है? किन्तु इसमे सन्देह नही कि यह छानबीन व्याख्यात्मक आलोचना मे कुछ कम सहायक नही। कुछ लोगो को कबीर की 'जुलाहेपन की सगर्व चेतना' मे, जायसी की 'कुरूपता' मे, तुलसी को पत्नी की 'फटकार' मे, एव सत्यनारायण की उक्ति 'अनचाहत को संग' मे हीनता की गूढ-ग्रन्थि के दर्शन होते है।

व्याख्यात्मक आलोचना मे 'तुलनात्मक विवेचन' भी सहायक हो सकता है। तुलना के द्वारा दो कवियों अथवा सम्प्रदायों की समताओ एव विषमताओ का परीक्षण होता है। प० कृष्णबिहारी मिश्र देव और बिहारी की तुलनात्मक आलोचना के लिए प्रसिद्ध है और पण्डित पद्मसिह शर्मा भी ऐसी आलोचना के लिए विख्यात है। दो कवियो के हस्तलेखो अथवा एक ही कवि के भिन्नकालीन हस्तलेखों की तुलनात्मक समीक्षा हो सकती है, ऐसा परीक्षण हस्तलेख-विशेषज्ञ के द्वारा समीचीन होता है। तुलना का आधार गणना भी हो सकती है। तुलसीदास, मलिक मुहम्मद जायसी और जयशकर प्रसाद के ग्रन्थो की शब्दानुक्रमणिकाएँ अथवा शब्द-कोष बने है, जिनसे यह पता शीघ्र चल जाता है कि अमुक कवि ने अमुक शब्द का प्रयोग किया अथवा नही, और यदि किया तो कितनी बार। ऐसा करने से यह विदित हो जाता है कि अमुक शब्द का प्रयोग कब से हुआ अथवा उसका प्रयोग किसी निर्दिष्ट काल मे होता था अथवा नही। अनुसधित्सुओ ने कतिपय कवियो के ऐसे शब्दों की सरणियाँ उपस्थित की है जो गत्यात्मक, चाक्षुष अथवा गान्धिक चित्रो का काल्पनिक निर्माण करते है। डॉ० गुलाबराय ने ऐसे चित्रो के कुछ उदाहरण इस प्रकार दिये है :

पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी—

साकेत। (गति और स्थिरता)

नूपुर कंकन किंकिन करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकहि सुर मुरली।
तैसिय मृदु-पद-पटकनि चटकनि कट तारन की।
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुण्डल हारन की।

रास पंचाध्यायी। (गति और ध्वनि)

उड़ती भीनी तैलाभ गन्ध।
फूली सरसों पीली-पीली।
लो, हरित धरा से झाँक रही।
नीलम की कलि, तीसी नीली।

आधुनिककविः २। (गध)

मखमली टमाटर हुए लाल,
मिरचों की बड़ी हरी थैली। (स्पर्श)

यदि एलेग्जेडर पोप मे ध्वनि-व्यजनाएँ, पी वी. शैलि मे घ्राणचित्र और जॉन कीट्स मे स्पर्श-चित्र हैं, तो डा० गुलाबराय के अनुसार, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला में काली वस्तु की ओर और सुमित्रानन्दन पन्त में श्वेत वस्तु की ओर प्रवृत्ति है।[1]

---

१. साहित्य और अध्ययन, पृ० ३०४-५

परन्तु टी एस. इलियट और जे. ई स्पिनगार्न का मत है कि उक्त सभी प्रकार के साहित्येतर आग्रह से इतिहास, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, नीतिशास्त्र, मानव-विज्ञान, भूगोलशास्त्र अथवा गणनात्मक चमत्कार मे आलोचना के विलीन हो जाने की आशंका रहती है। यद्यपि काव्य का सम्बन्ध प्राय: सभी शास्त्रों से है, फिर भी उसका निजी रूप है जो स्पष्ट रहना चाहिए।

निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचनाओं का भेद

इन दोनों आलोचनाओ मे तीन भेद है। वे ये हैं—प्रथमत:, निर्णयात्मक आलोचना के अनुसार काव्य की तीन-चार श्रेणियाँ की जा सकती है। पण्डित जगन्नाथ ने काव्य को उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम कहा है, यथा ध्वनि-काव्य उत्तमोत्तम है। व्याख्यात्मक आलोचना मे वर्गीकरण हो सकता है, किन्तु उस वर्गीकरण का आधार उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता नही, अर्थात् व्याख्यात्मक आलोचना में ऊँच-नीच का भेद-भाव नही। विज्ञान में ऊँच-नीच—भावना-रहित वर्ग भेद होता है, यथा: जन्तुओं के दो वर्ग, रीढवाले और रीढ-रहित, अथवा प्राणियो के चार वर्ग—उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज। द्वितीयत, निर्णयात्मक आलोचना मे काव्यशास्त्र के नियमों का पालन अधिकार के साथ कराया जाता है। यह अधिकार उसी प्रकार का होता है जैसा कि राजनियमों के पालन कराने में शासक का। जिस प्रकार स्वर्ण को कसौटी पर कस कर उसकी उत्कृष्टता के सम्बन्ध में निर्णय दिया जाता है, उसी प्रकार किसी रचना को काव्य-शास्त्रीय नियमो मे कसकर उसके गुणो की परीक्षा की जाती है। ऐसी अधिकार-भावना अथवा परीक्षा व्याख्यात्मक आलोचना में विद्यमान नही। व्याख्यात्मक आलोचना मे काव्यशास्त्र का अपरोक्ष बल प्राप्त किया जाता है, पर उस बल का प्रत्यक्ष प्रयोग नही किया जाता। व्याख्याता तो कवि या कलाकार की कृति की विशेषताओ को स्वीकार करता है और समझता है कि प्रत्येक कवि-कलाकार की रचना के नियम उसकी प्रकृति और परिस्थितियो के अनुकूल होंगे। तृतीयत, निर्णयात्मक आलोचना मे काव्य-शास्त्रीय नियम स्थिर और अपरिवर्तनशील समझे जाते है, पर व्याख्याता उनको परिवर्तनशील समझता और कवि की उस प्रतिभा का भी स्वागत कर लेता है, जो रूढ-नियमों का उल्लघन कर जाती है।

उक्त तीन भेदो के होते हुए भी निर्णयात्मक एवं व्याख्यात्मक आलोचनाएँ परस्पर निर्भर रहती है, क्योकि व्याख्या मे शास्त्रीय नियमों की सहायता लेनी पड़ती है और बिना व्याख्या के निर्णय मे यथार्थता नहीं आती।

(घ) सैद्धान्तिक आलोचना

इसे अंग्रेजी में स्पैक्युलेटिव क्रिटिसिज्म (अथवा लिट्रेचर इन जनरल) कहते

है, क्योकि इसका सम्बन्ध किसी ग्रन्थ-विशेष से नही, किन्तु स्वय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों से होता है। जिस प्रकार भाषा के उपरान्त व्याकरण का निर्माण होता है, उसी प्रकार लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर लक्षण ग्रन्थो का, अर्थात् महाकवियो की अमर कृतियो के आधार पर आलोचना के सिद्धान्तो की सृष्टि होती है। भारत मे काव्य-शास्त्र की चर्चा का प्रारम्भ भरत मुनि से हुआ। उनका 'नाट्य-शास्त्र' आज भी प्रकाश-स्तम्भ है। उनके पश्चात् काव्य-शास्त्र का विवेचन करने वाले अनेक विद्वान् हुए। भामह ने 'काव्यालकार', दण्डी ने 'काव्यादर्श', उद्भट ने 'काव्यालंकार-सार-सग्रह', वामन ने 'काव्यालकार सूत्रवृत्ति', रुद्रट ने 'काव्यालकार', आनन्द वर्द्धन ने 'ध्वन्यालोक', अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती टीका' और 'लोचन', राजशेखर ने 'काव्य-मीमासा', धनजय ने 'दशरूपक', कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित', महिमभट्ट ने 'व्यक्ति विवेक', भोज ने 'सरस्वती कठाभरण', क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा', मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश', रुय्यक से 'अलकार सर्वस्व', विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' और जगन्नाथ ने 'रस-गगाधर' लिखे। इन मे से भरत, वामन, आनन्द वर्द्धन, अभिनव गुप्त, महिमभट्ट और क्षेमेन्द्र असाधारण मौलिकता के परिचायक है। भोज, मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थ अपने विषय-प्रतिपादन के कारण आज भी पठन-पाठन के लिए विशेष प्रख्यात है। ये ग्रन्थ सस्कृत मे है।

हिन्दी-जगत् में देव के 'भाव-विलास' और 'शब्द-रसायन', पद्माकर का 'जगद्विनोद' और भिखारीदास का 'काव्य निर्णय' विशेष उल्लेखनीय है। यद्यपि मध्यकालीन हिन्दी-कवियों ने सस्कृत के ही आचार्यो का अनुसरण किया है, तथापि छन्द, अलकार और नायक-नायिका भेद के विषय मे उनके उन्मेष कम प्रशसनीय नही। वर्त्तमान युग मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य-शास्त्र की चर्चा की, किन्तु डॉ० श्यामसुन्दरदास और पडित रामचन्द्र शुक्ल ने काव्यशास्त्र सम्बन्धी जो विवेचन उपस्थित किए है, वे अभाव की पूर्त्ति ही नही करते, किन्तु इस विषय मे स्वतत्र रूप से विचार करने के लिए प्रेरणा भी देते है। उनका मूल्य चिरन्तन है। डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री की 'साहित्य-मीमासा' और लक्ष्मीनारायण सुधाशु का 'काव्य मे अभिव्यञ्जनवाद', रामदहिन मिश्र का 'काव्यालोक' और 'काव्य दर्पण' तथा डॉ० गुलाबराय के 'सिद्धान्त और अध्ययन' और 'काव्य के रूप' भी विशेष महत्त्व-पूर्ण है। डॉ नगेन्द्र ने काव्य-शास्त्र मे मौलिक योगदान दिया तथा उनकी प्रेरणा से इस विषय में जो प्रशस्त कार्य हुआ है उसका पूर्ण उल्लेख यहाँ अभीष्ट नही। डॉ० दशरथ ओझा, डॉ० ओ३म् प्रकाश, डॉ० सत्यदेव चौधरी के शोध अथवा अन्य ग्रंथ विचारोत्पादक है। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, डॉ० आशा गुप्ता, डॉ० सरोजिनी मिश्रा

आदि अनेक विद्वत्-विदुषियो ने काव्य-शास्त्र का सुन्दर प्रतिपादन किया है। इनके अतिरिक्त और भी विचारशील विद्वान् है, जिन्होने हिन्दी, बगाली, मराठी आदि भारतीय भाषाओ मे काव्य-सम्बन्धी उत्कृष्ट विवेचन किया है।

हिन्दी का काव्य-शास्त्र पश्चिमी विचार-धारा से प्रभावित हुआ है। यूनान में इसका सूत्रपात अरस्तू के 'पोइटिक्स' से होता है। होरस ने उनका अनुसरण किया और काव्य-सम्बन्धी नियमो का निर्धारण किया। उन्होने भाषा की तुलना पेड से की है और शब्दों की उसके पत्तो से : जिस प्रकार पुराने पत्ते गिर जाते और नये निकल आते है, उसी प्रकार पुराने शब्द नष्ट हो जाते और नये उनका स्थान ले लेते है, किन्तु पेड की भाँति भाषा वही बनी रहती है।' दान्ते ने काव्य की प्रकृति को रूपकात्मक समझा। फिलिप सिडनी ने काव्य के स्वातन्त्र्य पर आग्रह किया। बेकन ने कहा कि वस्तु-प्रतीति को मन की इच्छाओं के अधीन करने से काव्य-मन का उन्नयन होता है। इमैनुअल कैण्ट ने बताया कि काव्य अपना निजी विशिष्ट अभिप्राय रखे बिना ही वस्तुओं के साभिप्राय रूप को उपस्थित करता है। पी० बी० शैलि कहते है कि काव्य का प्रभाव नैतिक होता है, यद्यपि वह किसी नैतिकता-विशेष की सिफारिश नही करता। बेनेदेते क्रोचे समझते है कि शुद्धानुभूति की अभिव्यक्ति सहजानुभूति से सम्भव है। लौजाइनस ने शैली पर आग्रह करते हुए कहा कि 'शैली ही मनुष्य' है, यद्यपि उन्हे यह मानने में सकोच न था कि प्रतिभा ऐसे नियमोपनियमो के बन्धन मे नही रहती, जिनका निर्माण उन्होने किया था, किन्तु, उनके अनुसार, जिस प्रकार सम्पत्ति के उपभोग के लिए सन्मन्त्रणा की आवश्यकता होती है उसी प्रकार कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रकृति-प्रदत्त विषय का उपयोग करने मे कला को पथ-प्रदर्शन करने दे। बैन जॉनसन, एलेक्जैण्डर पोप, विलियम वर्ड्सवर्थ, एडमण्ड बर्क, लैसिङ्, मनजनी, मैथ्यू आरनॉल्ड, वाल्टरपेटर, स्पिनगार्न अनेक विद्वानो ने कला-काव्य पर ऐसे सुन्दर विचार उपस्थित किये है, जिन्होने समय समय पर आलोचना-शास्त्र को प्रभावित किया है।

जब काव्य शास्त्र के सिद्धान्तो का उपयोग किसी ग्रन्थ-विशेष की आलोचना के निमित्त किया जाता है, तब उसे निर्णयात्मक आलोचना कहते है। अतएव निर्णयात्मक आलोचना सैद्धान्तिक अथवा शास्त्रीय आलोचना का व्यावहारिक रूप है।

मूल्य-सम्बन्धिनी आलोचनाओ का समावेश सैद्धान्तिक आलोचना मे हो जाता है, क्योकि अन्ततः उनका आधार काव्य-प्रयोजन है। मूल्यवादी आलोचक यह जानना चाहता है कि अमुक काव्य ने समाज-कल्याण कहाँ तक किया है। आई० ए० रिचर्ड्स आन्तरिक वृत्तियों के सामञ्जस्य पर आग्रह करते है, यद्यपि वे काव्य के बाह्यपक्ष की

उपेक्षा नही करते। रामचन्द्र शुक्ल बाह्य और आन्तरिक के सामञ्जस्य पर बल देते हैं। रिचर्ड्स का आग्रह व्यक्तिगत अधिक है, तो शुक्ल का समाजगत।

मूल्य किस प्रकार का हो, इस सम्बन्ध मे विचार-धाराएँ विभिन्न दिशाओं की ओर प्रवाहित है। मार्क्सवादी आर्थिक मूल्यो को प्रधानता देते है, अतएव उनके अनुसार वह साहित्य अच्छा है, जो आर्थिक मूल्यो को सुलभ बनाता है। भारत मे प्रगतिवादी साहित्य इसी प्रकार का है और आर्थिक पद्धति को अपनाने वाले प्रमुख आलोचक है—शिवदानसिह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा। यह पद्धति जीवन-सम्पर्क पर विशेष आग्रह करती है, यह इसका महत्त्व है, पर इसका दोष यह है कि यह आर्थिक मूल्य पर इतना अधिक आग्रह करती है कि जीवन के अन्य सब आवश्यक मूल्य तिरोहित हो जाते है।

भारतीय काव्य-शास्त्र मे काव्य को अर्थ के अतिरिक्त मोक्ष, धर्म, काम, व्यवहार-ज्ञान और मधुर उपदेश का साधन माना गया है, जो सभी मानव-जीवन मे मूल्यवान् है।

यहाँ 'काम' का भी मूल्याङ्कन किया गया है। शृंगार को रसराज माना गया है। 'स्वान्तः सुख' में विश्वास रखने वाले तुलसीदास ने भी सीताराम मे अतुल सौन्दर्य को देखा है। सूर-तुलसी सौन्दर्य-मूल्य (ईस्थेटिक वेल्यूज) को समझते थे। प्राचीन यूनानी भी सौन्दर्य-भावना से ओत-प्रोत थे। जर्मनी के बौमगार्टन, लैसिङ्, कैण्ट, शिलर, हीगल, शोपनहौर ने अपने-अपने दृष्टिकोणो से सौन्दर्य का विवेचन किया है। कुछ विद्वानो के अनुसार सुन्दरता का निवास सामञ्जस्य, अनुपात और रग में होता है, तो दूसरो के अनुसार उसका निवास 'द्रष्टा के नेत्रों मे'।

लोक-संग्रह, समाज-कल्याण, राजनीतिक सुधार ये सभी भावनाएँ साहित्य के 'शिवं' से उद्भूत है। तुलसी का राम-राज्य, टॉमस मूर की यूटोपिया, प्रगतिवादी कविताएँ, प्रेमचन्द के उपन्यास सामाजिक श्रेय से प्रेरित है।

भारत मे काव्य का मूल्यांकन ऐसी साम्प्रदायिक धाराओ के अनुसार भी होता रहा है यथाः रीतिवाद, वक्रोक्तिवाद, ध्वनिवाद, रसवाद। यूरोप मे भी मूल्याङ्कन का मान दण्ड विभिन्न रहा है। अरस्तू और होरस की रचनाओ के फलस्वरूप आभिजात्य (क्लैसिकल), रोमाण्टिक, प्रेरणावादी, स्वातन्त्र्यवादी आदि अनेक धाराएँ प्रचलित रहीं, जिनके अनुसार रचनाओं के गुण-दोष निश्चित किये जाते रहे हैं। क्रोचे अपने अभिव्यजनावाद के लिए सुप्रसिद्ध है।

किसी सीमा तक वाल्टर पेटर, किन्तु अधिकतर ऑस्कर वाइल्ड, ए० सी० ब्रैडलि आदि आलोचक मूल्यो की उपेक्षा करते है, क्योकि उनके अनुसार जीवन का उद्देश्य क्रिया नही, ध्यान है और काव्य-कला मे इसकी उपलब्धि होती है।

काव्य के रूप

काव्य के रूपो का विभाजन भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों के आधार पर इस प्रकार किया जा सकता है।

(अ) भारतीय काव्य-विभाजन

प्राक्कथन

भारतीय परम्परा मे काव्य का विभाजन अनेक आधारो पर किया जा सकता है, यथा इन्द्रिय, आकार, और बन्ध। 'इन्द्रिय' के आधार पर काव्य का विभाजन द्विविध है—श्रव्यकाव्य अर्थात् वह काव्य जो कानों के द्वारा सुना जाय, और दृश्य-काव्य अर्थात् वह काव्य जो अभिनय के द्वारा देखा-सुना जाय। 'आकार' के आधार पर काव्य के तीन रूप होते है गद्य, पद्य और चम्पू। गद्य-पद्य मिश्रित काव्य को चम्पू कहते है. 'गद्य-पद्यमयी चम्पू.'। 'बन्ध' के आधार पर काव्य के दो रूप है—प्रबन्ध और मुनक, जिनका परिचय यथा-स्थान दिया जायगा।

प्राचीन भेद-प्रभेद

प्राचीन आचार्यों ने काव्य के निम्नलिखित भेद बताये है:

१. **मुक्तक**—इसमे एक निरपेक्ष श्लोक में ही चमत्कार की योजना की जाती है। इस श्लोक में आगे-पीछे के किसी श्लोक से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसके अनेक भेद होते है, जिनकी चर्चा आगे की जायेगी।

२ **संद्रानितक**—यह वहाँ होता है, जहाँ दो श्लोकों मे क्रिया का अन्वय दिखाया जाय।

३. **विशेषक**—यह वह है जहाँ तीन श्लोको मे क्रिया का अन्वय दिखाया जाय।

४. **कुलापक**—जहाँ चार श्लोको में किसी एक बात का वर्णन किया जाय।

५. **कुलंक**—वह जिसके पाँच श्लोकों में किसी बात का वर्णन किया जाय।

६. **पर्याय बन्ध**—जहाँ किसी एक विषय का थोडे से श्लोकों में वर्णन किया जाय।

७. **परिकथा**—बहुत से श्लोको मे कई कथाओं का एक साथ वर्णन।

८. **खण्डकाव्य**—किसी बडी कथा के एक अंग का सर्गहीन वर्णन।

९. **सकल कथा**—अर्थात् फल, पर्यन्त इतिवृत्त का वर्णन।

१०. **सर्गबद्ध**—अर्थात् महाकाव्य।

११. **अभिनेयार्थ**—यथा-रूपक।

१२. **आख्यायिका**—उच्छ्वास आदि मे विभाजित वक्ता, प्रतिवक्ता आदि से युक्त कथा।

१३. **कथा**—उच्छ्वास, वक्ता, प्रतिवक्ता आदि से रहित कथा।

आचार्यों के विभिन्न मत—भामह के अनुसार प्रतिपाद्य वस्तु के आधार पर काव्य के चार भेद है—१—देवादिवृत्त का निरूपक कलाश्रित काव्य—२. देवादि-वृत्त का निरूपक शास्त्राश्रित काव्य, ३—उत्पाद्य वस्तु का निरूपक कलाश्रित काव्य और ४—उत्पाद्य वस्तु का निरूपक शास्त्राश्रित काव्य। बन्ध की दृष्टि से काव्य के पाँच भेद होते है : १—सर्गबद्ध (महाकाव्य), २—अभिनेयार्थ (नाटक), ३—आख्यायिका, ४—कथा, ५—अनिबद्ध (मुक्तक)।

दण्डी के अनुसार काव्य-शरीर के तीन भाग है : पद्य (छन्दोबद्ध), गद्य (छन्द-रहित) तथा गद्य-पद्य-मिश्रित (चम्पू)। मुक्तक, कुलक, कोष, संघात आदि महाकाव्य के अवयवमात्र है। गद्य-काव्य के दो भेद है—आख्यायिका तथा कथा। नायक के द्वारा ही वर्णित काव्य को आख्यायिका कहते है, परन्तु कथा को केवल नायक या अन्य पात्र कह सकता है।

वामन काव्य के दो रूप मानते है—गद्य और पद्य। गद्य तीन प्रकार का होता है—१—वृत्तगंध, २—चूर्ण और ३—उत्कलिकाप्राय। लोकोक्ति है कि गद्य कवियो की कसौटी है : 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' (१,३,२१)। पद्य अनेक प्रकार के होते हैं—सम, अर्द्धसम और विषम। इसके दो भेद होते है—निबद्ध और अनिबद्ध। जिस प्रकार अग्नि का एक परमाणु स्वयं नही चमकता, उसी प्रकार अनिबद्ध (मुक्तक काव्य) प्रकाशित नही होता। संदर्भ काव्यों मे अर्थात् प्रबन्ध काव्यो मे नाटकादि दश रूपक उत्तम होते हैं। कथा, आख्यायिका और महाकाव्य दशरूपक के ही विस्तार-मात्र है, उनके लक्षण अधिक मनोरंजक नही, इसलिए वामन ने उनकी उपेक्षा की है।

धनञ्जय और धनिक ने रूपक के दस भेद बताये हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग।

मम्मट ने काव्य के तीन भेद किये है—१—ध्वनि काव्य, २—गुणीभूत व्यंग्य काव्य, ३—चित्र काव्य। इन तीनों मे से प्रथम श्रेष्ठ है और तृतीय निकृष्ट।

विश्वनाथ के अनुसार गद्य-पद्य ये दो प्रकार के श्रव्य काव्य होते है। छन्दोबद्ध काव्य को पद्य कहते है। दूसरे पद्य से निरपेक्षकाव्य को मुक्तक; मुक्तकद्वय को युग्मक, मुक्तक-त्रय को सन्दानितक (अथवा विशेषक), मुक्तक-चतुष्टय को कलापक, मुक्तक-पचक को कुलक। गद्यकाव्य चार प्रकार का होता है—मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक। पहले प्रकार में समास नहीं होते, दूसरे मे पद्य के कुछ अश रहते है, तीसरे मे लम्बे समास होते है और चौथे मे छोटे-छोटे समास रहते है।

'कथा' मे वस्तु गद्य के द्वारा सरस बनायी जाती है, इसमे कही-कही आर्या और कही वक्त्र तथा अपवक्त्र छन्द होते है; इसके प्रारम्भ मे पद्यमय नमस्कार और खलादिको का चरित्र निबद्ध होता है, जैसे 'कादम्बरी'। 'आख्यायिका' कथा के समान होती है, इसमे कविवंश-वर्णन होता है और अन्य कवियों के वृत्तान्त तथा पद्य भी कही-कही रहते है। कथा-भागो का नाम 'आश्वास' रखा जाता है। आर्या, वक्त्र या अपवक्त्र छन्द के द्वारा, आश्वास के आरभ मे अन्योक्ति से अगली कथा की सूचना दी जाती है, जैसे 'हर्ष-चरित' मे।

जगन्नाथ पण्डितराज काव्य के चार प्रकार मानते है, उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम। 'उत्तमोत्तम' काव्य मे शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण बनाकर किसी चमत्कार-जनक अर्थ को व्यजना-वृत्ति से अभिव्यक्त करते है। 'उत्तम' काव्य मे व्यग्य अप्रधान होता हुआ भी चमत्कार-जनक होता है। 'मध्यम' काव्य मे वाच्यार्थ का चमत्कार व्यग्यार्थ के चमत्कार के साथ नही रहता (उसमे व्यग्य के चमत्कार की अपेक्षा वाच्य का चमत्कार अधिक स्पष्ट और उत्कृष्ट होता है)। 'अधम' काव्य मे अर्थ का चमत्कार शब्द के चमत्कार को शोभित करने के लिए होता है, अतएव उसमे शब्द चमत्कार की प्रधानता रहती है।

आधुनिक वर्गीकरण

प्राचीन परिपाटी के आधार पर एव पाश्चात्य पद्धति से प्रभावित होकर हिन्दी के विद्वानो ने काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :

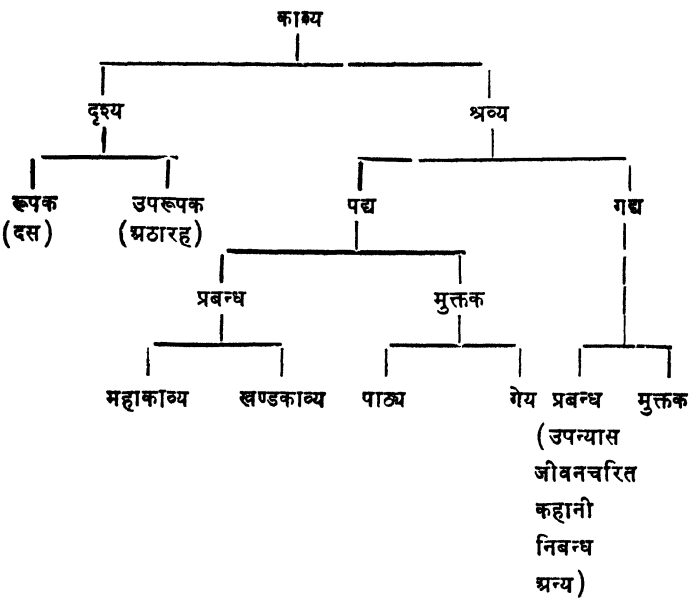
काव्य के दो मुख्य प्रकार है—दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। दृश्य काव्य को रूपक कहते है, जो दस प्रकार का होता है, रूपको के अठारह उपरूप भी होते है।

श्रव्य काव्य का अभिनय नही होता; वे केवल पढ़ने, सुनने या सुनाने के लिए होते है। इसके दो भेद है—पद्य और गद्य। पद्य के भी दो भेद है—प्रबन्ध

और मुक्तक। 'प्रबन्ध' में जैसा कि स्वय शब्द से स्पष्ट है, पूर्वापर सम्बन्ध होता है, अर्थात् इसमें विचार और भाव आगे-पीछे की रचना से बँधे रहते है, किन्तु मुक्तक स्वतः पूर्ण होता है। उसमें पूर्वापर सम्बन्ध नही होता। इसके दो भेद है . पाठ्य और गेय। प्रबन्ध काव्य दो प्रकार का होता है—महाकाव्य और खंडकाव्य, जिनकी चर्चा आगे की जायगी।

गद्य के भी दो भेद होते है—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध के अन्तर्गत है—उपन्यास, जीवन-चरित, कहानी, निबन्ध तथा अन्य (यथा. संस्मरण, रिपोर्टाज, आलोचना)।

काव्य का यह विभाजन मानचित्र के द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—



(आ) पाश्चात्य काव्य-विभाजन

काव्य-विभाजन की कोई निश्चित रेखा नही हो सकती। डब्ल्यू० एच० हडसन ने काव्य का द्विविध विभाजन किया है . (अ) विषयीगत अथवा व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव अथवा पर्सनल) एवं (आ) विषयगत अथवा वस्तुनिष्ठ (ऑब्जैक्टिव अथवा इम्पर्सनल)।

विषयीगत के रूप है. (क) गीति (लिरिक) जिसमे देशभक्ति, धर्म, संवेग अथवा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है; (ख) विचारात्मक, चिन्तनात्मक अथवा दार्शनिक काव्य, उल्लास-गीत (ओड), (ग) करुण गीत (एलिजि); (घ) पद्य-पत्र (एपिसिल)। (आ) विषयगत काव्य के दो प्रधान रूप हैं: (क) वर्णन अथवा समाख्यान (नेरेशन) और (ख) रूपक (ड्रामा)। वर्णनात्मक काव्य के कुछ रूप ये है—१. पद्यात्मक वीरगाथा (बैलड)। २. महाकाव्य (एपिक) जो दो प्रकार का होता है: जातीय (ओथेटिक) और साहित्यिक (लिट्रेरी) अथवा प्राक्कालीन (प्रिमिटिव) और उत्तरकालीन (लेटर) ३ – छन्दोबद्ध रोमास (प्रेम काव्य), ४. निम्न-जीवन-वर्णन। रूपक के तीन भेद है (क) नाट्य-गीति (ड्रैमेटिक लिरिक) जो संवाद, पशुचारण, आत्मकथा परक हो सकते है, (ख) नाट्य-कथा (ड्रैमेटिक स्टोरी), और (ग) नाट्य-स्वगत (ड्रैमेटिक मोनोलौग)। नाटक अभिनेय और अनभिनेय दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

(क) महाकाव्य

महाकाव्योन्मुख प्रबन्ध

प्रबन्ध काव्य के दो भेद माने गये है – महाकाव्य और खण्डकाव्य। डॉ० त्रिगुणायत इनके अतिरिक्त काव्य का एक तीसरा रूप 'प्रबन्ध पद्य' सुझाते है, जिसे वे महाकाव्योन्मुख प्रबन्ध काव्य कहते है, क्योंकि उनके अनुसार, "समस्त प्रबन्ध रचनाएँ इन दोनों विभागो के अन्तर्गत नही आ पाती। बहुत से ऐसे प्रबन्ध काव्य शेष रह जाते है, जिनमे न तो महाकाव्य के वैधानिक लक्षण मिलते है और न खण्डकाव्य की विशेषताएँ ही उपलब्ध होती है। ऐसे प्रबन्ध अधिकतर लिखे तो महाकाव्य की रचना की दृष्टि से जाते है, किन्तु किन्ही कारणों से सफल महाकाव्य नही होते।"

भारतीय महाकाव्य की परिभाषा

भामह ने महाकाव्य की सर्वप्रथम परिभाषा प्रदान की, किन्तु दण्डी ने उसकी साग परिभाषा उपस्थित की। रुद्रट ने भी उसकी विस्तृत परिभाषा दी है, किन्तु विश्वनाथ ने जो परिभाषा दी है, वह उल्लेखनीय है। विशेषताएँ इस प्रकार है:

१—महाकाव्य सर्ग बद्ध होता है, किन्तु,

(क) सर्ग न छोटे होने चाहिए और न बडे।

(ख) सर्ग आठ से अधिक होने चाहिएँ, किन्तु वे 'ईबान संहिता' के अनुसार तीस से अधिक भी न होने चाहिएँ. 'अष्टसर्गान्नतु न्यूनं, त्रिंशत्सर्गाच्च नाधिकम्'।

(ग) सर्ग के अन्त मे भावी कथा की सूचना रहती है।

(घ) सर्ग के अन्त में छन्द का परिवर्त्तन आवश्यक है।

(ङ) एक ही सर्ग मे कई छन्दों का प्रयोग कभी-कभी हो सकता है। सर्ग का नामकरण भी होना चाहिए।

२. नायक मे निम्नलिखित गुण आवश्यक है. (क) शूरवीर, (ख) सद्वशज, (ग) क्षत्रिय, (घ) धीर, उदात्त आदि गुणो से युक्त।

३. रस—महाकाव्य में शृगार, वीर और शान्त, इनमें से कोई एक रस अगीरस रूप से प्रतिष्ठित होना चाहिए, और उक्त रसो के अतिरिक्त अन्य रसों को अगरस के रूप मे अपनाना चाहिए।

४. वृत्त इसका ऐतिहासिक एव सदाश्रित होना आवश्यक है।

५. फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष मे से किसी एक की प्रतिष्ठा आवश्यक है।

६. वस्तु का सघटन और नाटक की सधियो और संध्यङ्गियों का नियोजन आवश्यक है।

७. मंगलाचरण—ग्रन्थ के आरम्भ मे नमस्क्रिया अथवा वस्तु-निर्देश आवश्यक है।

८. कही-कही सज्जन-प्रशंसा और खल-निन्दा की आवश्यकता है।

९. प्रकृति-वर्णन—सध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि का नियोजन एव जीवन के प्रसंगो की रमणीय योजना होनी चाहिए।

सस्कृत मे वाल्मीकि रामायण और महाभारत प्रसिद्ध और उत्कृष्ट महाकाव्य समझे जाते है। हिन्दी में चन्दवरदाई का 'पृथ्वीराज रासो', गो० तुलसीदास का 'रामचरित-मानस', स्व० जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी', डॉ० रामानन्द तिवारी की 'पार्वती', श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत', स्व० अयोध्यासिह उपाध्याय का 'प्रियप्रवास' उत्कृष्ट महाकाव्य है। इनके अतिरिक्त और भी है, जो विवादास्पद है।

पाश्चात्य महाकाव्य

प्राक्कथन

अनेक विद्वानो ने महाकाव्य के रूप पर अपने-अपने मत प्रकट किये है। एबर क्राम्बि के अनुसार केवल वृहत् आकार के वर्णनात्मक प्रबन्ध को महाकाव्य नही कहना चाहिए; उसमें कोई भी ऐसी बात नही होनी चाहिए जो गंभीरता और महत्ता से रहित हो। महाकाव्य उसी प्रबन्ध को कहना चाहिए, जिसकी शैली महाकाव्य के उचित हो और कवि की कल्पना और विचार भी उदात्त हो। अरस्तू ने महाकाव्य

की कोई परिभाषा नही दी, पर उनकी व्याख्या उपलब्ध व्याख्याओ मे प्राचीनतम और श्रेष्ठ है, अतएव उसका कुछ दिग्दर्शन अभीष्ट है।

अरस्तू-प्रदत्त व्याख्या

इसके अनुसार महाकाव्य की विशेषताएँ ये है :

१. महाकाव्य मे अनुकरण होना चाहिए और यह अनुकरण समाख्यानात्मक होना चाहिए, क्योकि महाकाव्य मे कथा प्रस्तुत की जाती है।

२. उसमें छ पद वाले वीर-छन्द का प्रयोग होना चाहिए, क्योकि वह सबसे अधिक भव्य और गरिमामय होता है।

३. उसकी कथा-वस्तु में अन्वितियो का सघटन रहना चाहिए। कार्य की अन्विति का संघटन (यूनिटी ऑव एक्शन) तो नितान्त आवश्यक है। अतएव कथा-वस्तु का आदि, मध्य और अन्त सुस्पष्ट और सुसम्बद्ध होना चाहिए।

४. उसमे अवान्तर कथाओं का प्रयोग हो सकता है, किन्तु उनसे मुख्य कथा का पोषण होना चाहिए। उनके कारण एकतानता भी दूर होती है।

५. कथानक को इतिहास से ग्रहण करना चाहिए, परन्तु उस कथानक को इतिहास का रूप नही देना चाहिए। क्योंकि इतिहास मे तो अनेक व्यक्तियों और अनेक (कभी-कभी असम्बद्ध) घटनाओं का वर्णन रहता है, पर महाकाव्य मे एक व्यक्ति के जीवन की घटनाओं का उल्लेख होता है और ये व्यक्तिगत घटनाएँ ऐसी हो जो हमारे सवेदन को प्रबुद्ध कर सके। अतएव 'महाकाव्य' में ऐतिहासिकता के साथ कल्पना का भी प्रचुर पुट रहता है।

६. महाकाव्य मे अनेक वस्तुओ, परिस्थितियो और भावों के विस्तृत वर्णन विद्यमान रह सकते है, पर ऐसे सभी वर्णनो में स्वाभाविकता सदा बनी रहनी चाहिए। अतएव यह आवश्यक है कि कवि असंभव घटनाओ के वर्णन से दूर ही रहे।

७ महाकाव्य मे जीवन के विविध चित्र होते है, क्योकि वह सम्पूर्ण जीवन की रोचक झाँकी है।

८. महाकाव्य सरल अथवा जटिल शैली मे लिखा जा सकता है। "जहाँ कार्य की गति रुक जाय और विचार या चरित्र का अभिव्यजन न हो, वहाँ भाषा अलंकृत होनी चाहिए; इसके विपरीत अत्यधिक कान्तिमयी पदावली चरित्र और विचार को ही आच्छन्न कर लेती है।"

९. महाकाव्य के पात्र महान् होने चाहिए। उनमे अद्भुत तत्त्व के लिए अधिक अवकाश रहता है।

१०. महाकाव्य का लक्ष्य या उद्देश्य श्रोता का मनोरंजन है और इसका कारण कलात्मक अनुकृति है।

पूर्वी-पश्चिमी दृष्टिकोणों की तुलना

महाकाव्य के भारतीय और पाश्चात्य लक्षणों में पर्याप्त साम्य लक्षित होता है, किन्तु इनमे कुछ अन्तर भी है। प्रथमत:, भारतीय काव्य शास्त्र में महाकाव्य का अगीरस शृगार, वीर और शान्त मे से कोई एक हो सकता है, किन्तु पाश्चात्य धारणा मे वीर रस को प्रधानता दी गयी है। द्वितीयत, पाश्चात्य महाकाव्य मे इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि उसमे जातीय भावना का समावेश हो; परन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र में ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश है, यह अविदित है। तृतीयत:, पाश्चात्य महाकाव्य मे एक ही प्रकार के छन्द का आद्यन्त प्रयोग उचित समझा गया है, किन्तु भारतीय महाकाव्य मे विविध छन्दो के प्रयोग के लिए विधान है।

(ख) खण्ड-काव्य

भामह और दण्डी ने खण्ड-काव्य का उल्लेख नही किया। रुद्रट ने प्रबन्ध को दो भागो मे विभाजित किया : महाकाव्य और लघुकाव्य (खण्ड काव्य) आनन्द वर्द्धन और हेमचन्द्र ने भी खण्डकाव्य के सम्बन्ध मे कुछ नही लिखा। आचार्य विश्वनाथ ने अवश्य यह लिखा है कि कोई सर्गबद्ध पद्य-ग्रन्थ, जिसमें नाटक की सभी संधियाँ विद्यमान न हो और जिसमे एक ही कथा का वर्णन हो, वह काव्य कहलाता है और काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला खण्ड काव्य होता है। साहित्य-दर्पण मे विश्वनाथ के शब्द है "भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुत्थितं एकार्थप्रवणैः पद्यैः संधिसामग्र्यवर्जित। खण्डकाव्य भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च। ६,३२८-३२९)"

साधारणत आठ या आठ से अधिक सर्ग वाले प्रबन्ध काव्यो को महाकाव्य और आठ से कम सर्ग वालो को खण्ड-काव्य कहते है, किन्तु वास्तव में महाकाव्य वही है, जिसका उद्देश्य महान् और चरित्र महान् हों, जिसमे युग-जीवन का चित्रण हो और जिसकी शैली उदात्त और गरिमामयी हो। ये लक्षण जिन प्रबन्ध काव्यों में नहीं मिलते, उन्हें महाकाव्य नहीं मानना चाहिए।

हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध खण्डकाव्य ये है :—नरोत्तम कविकृत' सुदामा-चरित', मैथिलीशरण गुप्त कृत, 'जयद्रथ-वध', 'वक-संहार', 'सैरन्ध्री' और 'पंचवटी'; रामनरेश त्रिपाठिकृत 'पथिक' और 'मिलन'।

(ग) मुक्तक

परिभाषा

'मुक्त' शब्द मे 'कन्' प्रत्यय लगने से 'मुक्तक' शब्द बना है। इसका अर्थ है वह जो पूर्वापर सम्बन्धो से मुक्त अर्थात् स्वतंत्र अथवा स्वत पूर्ण हो। प्रबन्धहीन स्फुट पद्य (कभी-कभी गद्य) रचना को मुक्तक कहा जाता है। विषय और रूप के आधार पर इसके अनेक भेद हुए है, जिनमे से हिन्दी के विद्वानों ने कुछ को अपनाया और कुछ नये रूप सुझाये है।

विभाजन

मुक्तकों का विभाजन कुछ आधुनिक विद्वानो के द्वारा इस प्रकार है—

१—संख्यावाचक मुक्तक, यथा मुक्तक (एक श्लोकी), युग्म (द्विश्लोकी), सन्दानितक (त्रिश्लोकी), विशेषक (चतुश्लोकी), कुलक (पचश्लोकी) अथवा अधिक श्लोक वाला। षट्क, सप्तक, अष्टक, दशक, बत्तीसी, बावनी, शतक, हजारा।

२—वर्णमालाश्रित : मातृका, कक्क, ककहरा, बारहखड़ी। यथा जायसी का अखरावट।

३—छन्दाश्रित : चौपाई, चौपई यथा दोहावली, छप्पय, कुण्डलियाँ, कवितावली, बरवैरामायण।

४—रागाश्रित · सूरसागर, गीतावली, लावनी, पद।

५—ऋतु और उत्सव मूलक · फाग, होली, बारहमासा, षड्ऋतु, मगल, सोहर, बधावे।

६—धर्माश्रित . श्लोक, भजन, स्तुति, रमैनी, साखी, शब्द, उलटवाँसी।

७—लोकाश्रित : पहेलियाँ, कहावत, कहमुकरी।

८—साहित्याश्रित · छन्द, रस, ध्वनि, नायक-नायिका भेद के छन्दोबद्ध लक्षण और उदाहरण।

९—फुटकर काव्य : अष्टयाम, दूतकाव्य, संदेशकाव्य, नखशिख, संवाद।

१० —विदेशी रूप गजल, रुबाइयाँ, द्विपदी, चतुर्दशपदी, गीत, प्रगीत, शोक गीत, सबोधन गीत।

श्री बलदेव उपाध्याय ने मुक्तक के दो भेद किये है—प्रबन्ध मुक्तक और स्फुट मुक्तक। प्रबन्ध मुक्तक वे है, जो अपने आप मे पूर्ण होते है और उनका कुछ-न-कुछ पूर्वापर सम्बन्ध होता है, यथा कालिदास कृत 'मेघदूत' और 'ऋतु-सहार', तुलसीदासकृत 'गीतावली' और 'कवितावली।' स्फुट मुक्तको का सम्बन्ध आगे-पीछे के अन्य पदों से नही होता, यथा. स्तुति, भजन, गीत।

मुक्तकों का एक और विभाजन हो सकता है—पाठ्य और गेय। 'पाठ्य' मुक्तक केवल पढने के लिये होते है और 'गेय' गाने के लिये होते है। 'सूरसागर', 'गीतावली' और मीरा के पद गेय है, वृन्द, बिहारी, रहीम आदि के दोहे पढ़ने के निमित्त है। पाठ्य मुक्तको मे नीति, उपदेश अथवा शृ गार की अभिव्यक्ति होती है; किन्तु गेय मुक्तको मे संगीत की प्रधानता रहती हैं। इनके विषय है मनोभाव प्रार्थना, स्तुति, सकीर्त्तन, बधाई, उत्सव आदि।

राजशेखर के अनुसार काव्य के दो प्रकार होते है—प्रबन्ध और मुक्तक, और मुक्तक के पाँच भेद होते है—शुद्ध, चित्र, कथोत्थ, सविधानकभू और आख्यानवान्। शुद्ध मुक्तक मे इतिहास या इतिवृत्त की प्रतिष्ठा नही होती, यथा. नीतिपरक सूक्तियां। चित्र मुक्तक मे इतिहास रहित किसी सामान्य घटना या वस्तु का चित्रण होता है, यथा. बिहारी के दोहे। कथोत्थ मुक्तक मे किसी इतिहास या कथा का सकेत रहता है, यथा सूर के पद। सविधानक मे कोई घटना संभावित होती है यथा: भूषण के छन्द। आख्यानवान् मुक्तक मे इतिहास की कल्पना सन्निहित रहती है, यथा. तुलसी की 'कवितावली' और 'गीतावली', जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर का 'उद्धवशतक'।

डॉ० त्रिगुणायत के अनुसार मुक्तक के तीन वर्ग ये है—१—रीतिकाव्य। रीतिमुक्तको मे फुटकर पदो के द्वारा लक्ष्य-लक्षण शैली मे काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है। २—नीति काव्य कान्ता-सम्मित शैली मे नीति और उपदेश प्रधान रचनाएँ। नीतिमुक्तको मे कभी-कभी कान्ता सम्मित शैली को नही अपनाया गया। नीति साहित्य के कतिपय उदाहरण ये है—गोरखनाथ के फुटकल पद, कबीर के पद और साखी, गग के फुटकर पद, तुलसी, रत्नावली, रहीम और वृन्द के दोहे, गिरधर की कुण्डलियाँ, दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ, रामचरित उपाध्याय की सूक्तियाँ।

(घ) गीतिकाव्य

गीतिकाव्य का विवेचन पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानो ने किया है।

(क) पाश्चात्य

हरबर्ट रीड कहते है कि गीत का मूल अर्थ तो लुप्त हो गया है, किन्तु उसका व्यावहारिक पक्ष प्रचार मे आ गया है। अब गीति से उस रचना का बोध होता है, जिसमे सूक्ष्म अनुभूतियाँ (अथवा उन अनुभूतियों की प्रतिक्रियाएँ) हो जो एकान्त आनन्द से प्रबुद्ध होती है। इस प्रकार रीड महोदय गीतिकाव्य को अधिकतर भावात्मक मानते है।

अरनैस्ट राइस कहते है कि वस्तुतः गीत वही है जिसमे भाषा के द्वारा भाव या भावात्मक विचार का विस्फोट हो, जिसके पद ललित और मधुर हों और जिससे सगीतमयी ध्वनि प्रवाहित हो।

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, राइस महोदय-प्रदत्त गीतिकाव्य की परिभाषा का विश्लेषण करने पर इस निर्णय पर पहुँचे है कि गीतिकाव्य मे ये छः तत्त्व होते हैं—भावात्मकता, शब्द और लय का सामञ्जस्य, सगीतात्मकता, माधुर्य, प्रवाह और स्पष्टता।

(ख) भारतीय

डॉ० श्यामसुन्दरदास के अनुसार गीतिकाव्य मे ये विशेषताएँ होती है—आत्माभिव्यंजन, भावमयता, गेयता, मधुरता, शब्दचयन, संगीतात्मकता और सुकोमल भावना। महादेवी वर्मा भावातिरेकता और गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना पर आग्रह करती है। डॉ० रामकुमार वर्मा आत्माभिव्यक्ति, सगीतात्मकता, संक्षिप्तता और विचारो की एकरूपता को गीतिकाव्य की विशेषताएँ मानते है।

गीति की विशेषताएँ

डॉ० त्रिगुणायत उपर्युक्त देशी-विदेशी मतो की पृष्ठ-भूमि मे गीति-काव्य की निम्नलिखित विशेषताओ को उपस्थित करते है—

१. **अन्तर्वृत्ति-प्रधानता** : पश्चिमी विचारधारा के अनुसार काव्य दो प्रकार के होते है—बाह्यार्थ-परक और अन्तर्वृत्ति-परक। गीतिकाव्य अन्तर्वृत्ति-परक है, क्योंकि उसमे कवि के सुख, दु ख, राग, द्वेष, अन्तर्दर्शन एवं अन्य मनोभावो की सरस अभिव्यक्ति होती है।

२. **संगीतात्मकता** : सगीत और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है, संगीत मन को मुग्ध और सम्पूर्ण चेतना को रस-धारा से आप्लावित कर देता है।

३. **निरपेक्षता** : इस काव्य मे एक घटना, एक परिस्थिति अथवा एक अनुभूति का ऐसा वर्णन होता है, जिसमे आत्मानुभूति की प्रधानता रहती है। वह स्वतः पूर्ण होता है। अतएव उसे पूर्वापर सम्बन्ध की अपेक्षा नही रहती।

४. **रसात्मकता** : इस काव्य मे कथावस्तु की अधिकता नही रहती, अतएव इसके अङ्गो की अभिव्यक्ति भली भाँति नही हो पाती। उक्ति की विचित्रता, वाणी-चातुर्य अथवा किसी अन्य चमत्कार से इसमे रोचकता लायी जा सकती है।

५. **भावातिरेक** : सुकोमल भावनाओ का प्रचण्ड वेग श्रोता को ऐसा प्रभावित करता है कि वह आनन्द-सागर मे निमग्न हो जाता है।

६. **शब्दचयन और चित्रात्मकता** : विस्तार के अभाव से गीतिकार को कलात्मक शब्दचयन और चित्रविधान की शरण लेनी पड़ती है। उसकी सार्थकता के निमित्त उसे लक्षणा, व्यञ्जना और प्रतीको का उपयोग करना होता है।

७. **समाहित प्रभाव** : गीत मे यह प्रभाव जितना व्यापक और मार्मिक होता है, गीत उतना ही उत्कृष्ट होता है।

८ **मार्मिकता** . यह गीतिकाव्य की सबसे बडी विशेषता है जो भाव, विचार और शैली मे व्यंजना के द्वारा उपलब्ध होती है।

९. **संक्षिप्तता** · अर्थात् थोडे शब्दो मे भावाभिव्यक्ति।

मेरी विनीत सम्मति मे चौथी और पाँचवी विशेषता का समावेश पहली में, आठवीं का सातवी में और नवी का तीसरी मे हो सकता है। अतएव मुक्तक की मुख्य विशेषताएँ हैं : भावातिरेक, सगीतता, निरपेक्षता, चित्र-प्रतीक-परता और प्रभावोत्पादकता।

गीतिकाव्य के भेद

डॉ० त्रिगुणायत ने गीतों के ये एकादश भेद सुझाये है ·

१. वीर गीत, यथा 'बढे चलो बढे चलो' प्रयाण-गीत। २. करुण गीत (शोक गीत), यथा टॉमस ग्रे की 'एलिजी', जयशकरप्रसाद का 'आँसू'। ३. व्यंग्य गीत (कटाक्षपूर्ण गीत), यथा 'कुकुर मुत्ता'। ४. उपालम्भ गीत, यथा सूरदास का भ्रमर गीत। ५. गीति-नाट्य (गीति-काव्य + नाटक + नाट्य) यथा जयशकरप्रसाद का 'करुणालय'। ६. रूपक गीत, अर्थात् रूपको के प्रयोग से भावना की अभिव्यक्ति, यथा छायावादी गीत। ७. विचारात्मक गीत, यथा सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का 'तुम और मैं'। ८. सम्बोधन गीत, यथा सुमित्रानन्दन पन्त कृत 'छाया'; अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'पवनदूत'; कालिदास का 'मेघदूत'। ९. चतुर्दशपदी गीत (सॉनेट), १०. सामाजिक गीत यथा नखच्छेद, यज्ञोपवीत तथा शुभ अवसरों पर गाने योग्य सोहर अथवा मङ्गल, ११ अन्य प्रकार, यथा चारण गीत, पत्र-गीत, प्रणय-गीत। परन्तु गीति-काव्य के इस विभाजन का कोई एक विभाजन-सिद्धान्त नहीं।

———

उपन्यास

व्युत्पत्ति

उपन्यास शब्द 'उप' और 'नि' इन दो उपसर्गों, 'अस्' धातु और 'घञ्' प्रत्यय के सयोग से व्युत्पन्न है। 'उप' का अर्थ है 'समीप' अथवा 'निकट' और 'न्यास' का अर्थ है 'रखना'। सम्पूर्ण शब्द का अर्थ है, वह वस्तु जो निकट रखी हुई है, अर्थात् डॉ० देवराज उपाध्याय के शब्दो मे 'वह कृति जिसको पढकर ऐसा लगे कि यह हमारी ही कथा हमारी ही भाषा मे कही गयी है। यह शब्द प्राचीन संस्कृत-साहित्य मे विद्यमान है, पर उसका अर्थ उस प्रकार का नही था जैसा कि आजकल। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र मे इसे प्रतिमुख सधि का एक वह उपभेद माना है जो किसी अर्थ को युक्ति-पूर्ण ढग से उपस्थित करता तथा प्रसन्नता देता है, 'उपपत्ति कृतो योऽर्थ उपन्यास्तु स स्मृतः।'२१,८३। तथापि इस शब्द के प्राचीन और अर्वाचीन अर्थों मे बडा अन्तर है। किचित् अर्थ-भेद से इसके अग्रेजी पर्याय है—रोमांस, फ़िक्शन और नॉविल, जिसे गुजराती मे 'नवलकथा' और बंगाली मे 'उपन्यास' कहते है।

डॉ० देवराज उपाध्याय लिखते है कि "उपन्यास आधुनिक युग की उपज है ·· इसमें मदोन्मत्त साहसिकों की कथा रह सकती है तथा पूरे समाज की कथा भी रह सकती है। कथानक न भी हो तो कोई परवाह नही, कब्र से उठकर भी मनुष्य आ सकते हैं···इसमे एक दिन की, एक घण्टे की तथा एक युग की कथा रह सकती है, एक या अनेक पात्र रह सकते है, उपन्यास में केवल घटनाएँ-ही-घटनाएँ या केवल दृश्य-ही-दृश्य हो सकते है। कथा एक सर्वज्ञ, तटस्थ, ईश्वर की भाँति कही जा सकती है। उत्तमपुरुषात्मक रूप से कही जा सकती है अथवा एक या एकाधिक पात्रों के सीमित दृष्टिकोण से कही जा सकती है। साहित्य के जितने रूप-विधान हो सकते है, उनमें उपन्यास का रूप-विधान सबसे लचीला होता है और वह परिस्थिति के अनुसार कोई भी रूप धारण कर ले सकता है।"

घटनाएँ किसी भी प्रकार की हो, उनमे एक-सूत्रता होनी चाहिए, भले ही उनका सम्बन्ध इस लोक से, परलोक से, आकाश-पाताल से हो, अर्थात् बाह्य जगत् के किसी रूप से हो; अथवा उनका सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तर्जगत् से हो, पर उन सबमें यह आवश्यक है कि वे घटनाएँ कार्य-कारण की शृंखला में बँधी हों। उपन्यासों मे

पशु-पक्षी, वृक्ष और प्रस्तर भी पात्र रूप से वर्ण्य हो सकते है, परन्तु उनकी प्रतिक्रियाएँ मानव-हृदय की सी होती है।

परिभाषा

यद्यपि 'उपन्यास' की परिभाषा देना संभव नही, तथापि उसका कुछ आभास तो दिया जा सकता है। प्रेमचन्द कहते है कि 'मै उपन्यास को मानव-जीवन का चित्र-मात्र समझता हूँ, मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही इसका मूल तत्त्व है'। 'न्यू इगलिश डिक्शनरी' के अनुसार, 'उपन्यास वह बडे आकार का गद्यमय आख्यान या वृत्तान्त है, जिसके कथानक मे ऐसे पात्र और कार्य चित्रित होते है, जो वास्तविक जीवन के प्रतिनिधि होने का दावा करते है'। डॉ० श्यामसुन्दरदास के अनुसार 'उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है'। एक अग्रेज आलोचक का मत है कि उपन्यास एक लम्बे आकार की काल्पनिक कथा या प्रकथन है, जिसके द्वारा कार्य-कारण शृंखला मे बँधे हुए कथानक मे वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रो और कार्यों का चित्रण किया गया हो[1]। डॉ० गुलाबराय के शब्दो मे 'उपन्यास कार्य-कारण शृंखला मे बँधा हुआ वह गद्यात्मक कथानक है, जिसमे अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियो से सम्बन्धित वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है'। डॉ० देवराज उपाध्याय कहते है कि उपन्यास 'गद्य साहित्य का अन्यतम रूप है जिसका आधार कथा है --चाहे वह सीधे मनुष्यों की हो या मनुष्येतर जीव और निर्जीव प्रकृति की, चाहे वह सच्ची हो या कल्पित'। उपन्यास मे कल्पना, रोचकता, और गरिमा अभीष्ट है, रोचकता तो कुतूहल की सृष्टि और मनोवेगो के उद्दीपन से और गरिमा किसी नीति या सिद्धान्त के विचारों के उत्तेजन से संभव है।

रोमांस और नॉविल

जीवन में और साहित्य मे भी चार प्रकार के सम्बन्ध हो सकते है—असंभव, दुर्लभ, संभव और सुलभ। रोमांस के आधार प्रथम दो सम्बन्ध है—असंभव और दुर्लभ, किन्तु नॉविल ने सभव और सुलभ केवल इन दोनों को और विशेषतः 'सुलभ' को स्वीकार किया है। 'प्रोग्रैस ऑव रोमास' में रोमांस और नॉवेल के भेद को इस

1. A ficticious prose tale or narrative of considerable length, in which characters and actions professing to represent those of real life are portraved in a plot

प्रकार उपस्थित किया गया है, 'उपन्यास अपने युग का चित्रण करता है, किन्तु रोमास ऐसी बातो का वर्णन करता है जो न हुई है और न हो रही है और ऐसे वर्णन का माध्यम उदात्त भाषा होती है।' नॉविल के द्वारा ऐसी घटनाओ की अभिव्यक्ति होती है, जो हमारे अथवा हमारे मित्रो के जीवन मे सभव हो। वही उपन्यास सफल है जिसमें सरलता और स्वाभाविकता के साथ कथावस्तु को उपस्थित किया जाय और उसे इतना समान बना दिया जाय कि उसकी वास्तविकता मे ऐसा विश्वास उत्पन्न हो जो कम-से-कम तब तक बना रहे जब तक हम उसे पढते रहे और पात्रो के सुख-दु खो को अपना समझते रहे। नॉविल आधुनिक युग का साहित्य है और रोमांस प्राचीन काल का। कुछ भारतीय विद्वान् साम्य के आधार पर रोमास शब्द को रोमाञ्च शब्द से व्युत्पन्न समझते है, अतएव वे रोमाचकारी कथा को रोमास कहना पसन्द करते है।

उपन्यास के तत्त्व

उपन्यास के छः तत्त्व होते है कथावस्तु, पात्र, सवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य। इनके अतिरिक्त संघर्ष (काफिलक्ट) और कुतूहल (सस्पैस) को भी कुछ लोगो ने तत्त्व माना है, किन्तु इन्हे रचना-कौशल का अग मानना अधिक उपयुक्त होगा।

१. **कथावस्तु** : वे उपकरण जिनका उपयोग उपन्यासकार यथावश्यकता करता है कथावस्तु कहलाते है। वे उपकरण है : कथा-सूत्र (थीम), मुख्य कथानक (प्लॉट), प्रासगिक कथाएँ (एपिसोड), उपकथानक (अण्डर प्लॉट), पत्र, समाचार, प्रामाणिक लेख (डॉकुमैट्स), डायरी के पन्ने, इत्यादि।

उपन्यासकार कथावस्तु अर्थात् कथानक का निर्माण करता है। इसके निमित्त वह जीवन की नाना घटनाओ से अपने अभिप्राय के अनुसार कुछ को चुनकर कल्पना के सहारे उनमे एक-सूत्रता स्थापित करता है। भय और विस्मय अथवा प्रेम और घृणा ये ही दो मुख्य भाव है, जिनके आधार पर उपन्यासकार कथानकों की कल्पना करता और उनकी रोचकता में भव्यता की उत्पत्ति करता है। कथावस्तु के सघटन और विन्यास में कार्य-कारण-सम्बन्ध, मनोवैज्ञानिक क्षण (साइकोलोजिकल मोमैंट), उत्कंठा, संघर्ष, भविष्य-संकेत, चरमोत्कर्ष और सत्याभास का होना साधारण रूप से आवश्यक है। ऐसे उपन्यास विद्यमान है जिनमें असभव घटनाओं का वर्णन है और उन घटनाओ के द्वारा किसी उच्च सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रतीकात्मक ढग से किया गया है; परन्तु घटनाओं की सत्यता-प्रतीति करा देना साधारणतया आवश्यक है। वह प्रतीति घटनाओं में कार्य-कारण-सम्बन्ध को प्रकट करने से उत्पन्न होती है। इस कार्य-कारण-सम्बन्ध के आधार पर पाठक के मन में किसी घटना के द्वारा प्रबल आशा को

जाग्रत करना तथा उसके तत्क्षण घटित होने का वर्णन करना मनोवैज्ञानिक क्षण कहलाता है। मनोवैज्ञानिक क्षण के वर्णन से उत्सुकतापूर्ण प्रत्याशा जाग्रत होती है। घटनाओं के घात-प्रतिघात से सघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है और यह स्थिति अपनी पराकाष्ठा के द्वारा चरम उत्कर्ष को उत्पन्न करती है।

२. **पात्र** : उपन्यास में चरित्र-चित्रण का कौशल उक्त प्रथम तत्व से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। पात्रो की सजीवता और यथार्थता के द्वारा कथानक मे आकर्षण उत्पन्न किया जाता है। चरित्र-चित्रण ऐसा होना चाहिए जिससे विभिन्न पात्रों का परिचय सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाय। सफल उपन्यासकार पात्रो को देशकाल के अनुसार चित्रित करते है, फिर भी वे अपने कौशल से उन्हे इस रूप मे उपस्थित करते है कि सब लोग उन्हे सदा पसन्द करे। चरित्र दो प्रकार के होते है : १—सामान्य (वर्गगत अथवा प्रतिनिधि) यथा प्रेमचन्द का 'होरी' ; २—गतिशील या स्थिर।

३. **कथोपकथन** : चरित्र-चित्रण में सवादो से बडी सहायता मिलती है, क्योकि उनके कारण पात्रो मे सजीवता आ जाती है और सवादो के द्वारा नाटकीयता के समावेश से कथानक प्रभावशाली बन जाता है।

४. **वातावरण** : स्थान और समय का चित्रण पात्रो को सजीव बना देता है और कथानक में सत्य का आभास मिलने लगता है। भूगोल, इतिहास, समाज और संस्कृति के वर्णन द्वारा जीवन का समग्र परिचय होता है। प्राचीन यूनान के पात्रों को अचकन और चूडीदार पायजामे में चित्रित करना उपहासास्पद होगा। अतएव उनकी वेशभूषा और भाषा उनके देशकाल के अनुरूप होनी उचित है।

५. **शैली** : साहित्य की सभी विधाओ मे शैली का महत्त्व है, अतएव उपन्यास में भी। लेखक की अपनी निजी शैली होती है, जिसके द्वारा वह अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करता है। कोई व्याख्यात्मक (विश्लेषणात्मक) शैली को अंगीकार करता है, कोई अभिनयात्मक (नाटकीय) को। आधुनिक काल में अभिव्यक्ति के निमित्त व्यंजना, संकेत, प्रतीक और रूपक का प्रयोग अधिकतर होता है, पर इसमे सन्देह नही कि उपन्यास मे प्रसाद गुण की महती आवश्यकता है। स्थान-विशेष पर ओज और माधुर्य भी आवश्यक हो सकते है। शैली के और भी रूप हो सकते है। उदाहरणत देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' मे वर्णनात्मक शैली को अपनाया है ; विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक ने 'मां' मे संभाषणात्मक शैली को, इलाचन्द्र जोशी ने 'घृणामयी' मे आत्मकथानक शैली को; बेचन शर्मा उग्र ने 'चन्द हसीनों के खुतूत' मे पत्रात्मक शैली को और 'शोणित तर्पण' में डायरी शैली को अपनाया गया है।

६. उद्देश्य : लेखक के जीवन में अनेक भाव और विचारो की अनुभूति होती है, जिनमे से कुछ की वह श्लाघा करता है। यदि वह अपने आदर्श और जीवन-दर्शन के द्वारा पाठकों पर प्रभाव डाल सकता है तो उपन्यासकार सफल कहलाएगा। प्राचीन काल में कथा और उपन्यास केवल मनोरंजन के साधन थे, किन्तु अब सफल उपन्यासकार अपनी दार्शनिक अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति से पाठको का मनोरंजन और उपकार दोनों करते है। हा, यदि आदर्श-प्रदर्शन मे प्रचार या उपदेश की गन्ध आ जाती है, तो उपन्यासकार का प्रभाव अभीष्ट रूप से नही पड़ पाता।

उपन्यास के भेद

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने उपन्यास के चार प्रकार माने है, वे है : (क) घटना-प्रधान अर्थात् वे उपन्यास जिनमे कुतूहल उत्पन्न करने वाली कथा उपलब्ध होती है। गोदान और रगभूमि प्रेमचन्द जी के ये दोनो उपन्यास घटना-प्रधान कहे जा सकते है। जासूसी, तिलस्मी उपन्यास भी इसी कोटि के है। (ख) सामाजिक अथवा व्यवहार-सम्बन्धी उपन्यास। इनके द्वारा जो धार्मिक, राजनीतिक एव सामाजिक समस्याएँ उपन्यासकार के मन मे निहित रहती है वे प्रकाश मे आती है, जैसे भारतेन्दु जी की 'चन्द्रप्रभा' मे वृद्ध-विवाह की समस्या। प्रेमचन्द जी के गोदान मे स्त्रियो के समान अधिकार, स्त्री-शिक्षा और मुक्त-प्रेम की अभिव्यक्ति है। इस युग मे मज़दूर, पूँजीपति, किसान-जमीदार के संघर्ष, अछूतोद्धार, अनमेल विवाह आदि अनेक समस्याओं को ध्यान मे रखकर उपन्यास लिखे गये है। (ग) अन्तरग जीवन के उपन्यास। इनमे घटना और पात्रों की न्यूनता, किन्तु चिन्तन और भावनाओ की अधिकता होती है। इस कोटि मे प्रवाहवादी और मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का समावेश हो सकता है। हिन्दी में प्रभाकर माचवे, जैनेन्द्र कुमार, भगवतीप्रसाद वाजपेयी और अज्ञेय के उपन्यासों मे प्रवाहवादी पद्धति का उपयोग है। योरोप मे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के प्रणेता जेम्ज जौयस, वरजीनिया वुल्फ, आदि है ; हिन्दी में प्रेमचन्द, अज्ञेय प्रभाकर माचवे, नरोत्तम नागर अधिक प्रसिद्ध है। (घ) देशकाल साक्षेप और निरपेक्ष। ऐतिहासिक उपन्यासों में देशकाल का विशेष ध्यान रखा जाता है। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास ऐतिहासिक है।

उपन्यास और जीवन-चरित : अन्तर

प्रथमतः, उपन्यास और जीवन-चरित दोनों में कथा होती है, पहले में काल्पनिक तो दूसरे में वास्तविक।

द्वितीयतः, 'उपन्यास में नामो और तिथियो के अतिरिक्त और सब बाते सत्य होती है और इतिहास में नामो के अतिरिक्त और कोई बात सत्य नही होती'। इस कथन में सत्यांश है, क्योंकि उपन्यासकार अपने पात्रों का कथाकार होता है और उनका स्रष्टा भी; पर जीवनचरित का लेखक अपने पात्रो का कथाकार होता है, स्रष्टा नहीं।

तृतीयत., जीवनीकार पात्रों को उतना ही जान पाता है, जितना ऐतिहासिक आधार उसके पास होता है, अतएव पात्र का प्रमाणहीन व्यक्तित्व उसके लिए रहस्यमय रहता है। पर उपन्यासकार अपने पात्रो का स्रष्टा होता है, अतएव वह उनको भली प्रकार जानता है।

चतुर्थत', उपन्यासकार के लिए व्यक्ति सब कुछ है, किन्तु इतिहासकार या जीवनीकार के लिए स्वदेश या राष्ट्र की मुख्यता रहती है। जीवनीकार अपने पात्र को महापुरुष सिद्ध करना चाहता है, किन्तु उपन्यासकार मे इस प्रकार का कोई पूर्वाग्रह नही होता। वह किसी को छोटा-बडा सिद्ध नही करना चाहता। उसके लिए राजा भोज और गंगा तेली बराबर है। अतः वह अपने पात्रो के गुण-दोष का वर्णन पक्षपात और पूर्वाग्रह से रहित होकर करता है। जीवनचरितकार के लिए कल्पना वर्जित है, किन्तु उपन्यासकार के लिए कल्पना ग्राह्य और आवश्यक है, जिसके कारण वह मौलिक समझा जाता है।

उपन्यास और नाटक

साम्य

हडसन ने लिखा है कि नाटक और उपन्यास में एक ही प्रकार की सामग्री होती है और इस प्रकार दोनो विधाएँ समान है। मैरियन फॉक्स ने भी उपन्यास को जेबी नाटक (पॉकिट थियेटर) बताया है। इन दोनों लेखको के कथन से उपन्यास और नाटक में साम्य की प्रतीति होती है, किन्तु उनकी विषमताएँ भी विषम है, वे ये है—

प्रथमत., उपन्यास श्रव्य काव्य है और नाटक दृश्य काव्य। यद्यपि दोनों का ही रूप शब्दात्मक है, तथापि नाटक को पढ़ने-सुनने के साथ यह इच्छा होती है कि उसका अभिनय भी रगमंच पर हो।

द्वितीयतः, कवि अपनी रचना के द्वारा अपने जीवन-दर्शन को व्यक्त करता है; किन्तु ऐसा करने के लिए नाटक में उसे कई प्रकार के साधन उपलब्ध रहते है, जिनके द्वारा नाटक मे स्वाभाविकता और सजीवता लायी जा सकती है यथा सजे-सजाये पात्र, देशकाल और परिस्थिति के अनुसार दृश्यपटों से सुसज्जित रंगमंच।

उपन्यास मे ये सुविधाएँ उपलब्ध नही होती । वहाँ केवल एक साधन उपलब्ध होता है । यह साधन शब्द है, जिसकी सहायता से वह पात्रो की आकृति, हाव-भाव, वेश-भूषा, क्रिया-प्रतिक्रिया आदि के चित्रों का निर्माण करता है। उपन्यास को 'पॉकिट थियेटर' इसलिए कह दिया जाता है कि उसका रंगमंच और उसके पात्र सब कवि के हृदय में विद्यमान रहते है, बाहर नहीं।

तृतीयतः, नाटककार की अपेक्षा उपन्यासकार अपनी अभिव्यक्ति मे अधिक स्वतन्त्र होता है । नाटककार को अधिकार नही कि वह अपने व्यक्तिगत विचारो को स्पष्ट रूप मे घोषित करे, क्योकि वह रगमच पर प्रेक्षको के सामने नही आ सकता । चतुर नाटककार अपने विचारो की अभिव्यक्ति अपने पात्रों के वार्त्तालापो और सवादों के द्वारा कर देता है, पर उपन्यासकार प्रत्यक्ष-परोक्ष किसी भी विधि से अपने हृदय के भावों और विचारों को पाठको के समक्ष उपस्थित कर देता है । इसीलिए प्राय. नाटक के पात्रों का चरित्र उतनी सफलता से चित्रित नही हो पाता, जितनी सफलता से उपन्यास के पात्रों का ।

चतुर्थतः, नाटककार पर समय और आकार का प्रतिबन्ध रहता है, क्योंकि उसके नाटक का अभिनय किसी निर्दिष्ट समय में समाप्त हो जाना चाहिए । प्रेक्षकों के पास इतना समय नहीं होता कि वे कई दिन-रात तक किसी अभिनय को देखते रहे, ऐसा करने से मानव मन ऊब भी जाता है । आधुनिक युग में सिनेमा या थियेटर के प्रबन्धक दिन मे कई प्रदर्शन (शो) धन की लिप्सा से करना चाहते है, और काम-काजी व्यवसायी नागरिको के पास इतना अवकाश भी नही कि दो-ढाई घण्टे से अधिक समय मनोरजन के लिए निकाल सके । उपन्यास का पाठ तो यथावकाश कई सप्ताहों तक चल सकता है । नाटक जितना नियमोपनियमों के अधीन रहता है, उपन्यास उतना ही स्वतन्त्र रहता है । इस कारण सुदूर भविष्य मे नाटक की अपेक्षा, जैसा कि हडसन कहते है, उपन्यास के विकास की अधिक सभावना है । हमारे समकालीन युग में नाटकों के लिए उत्साह कुछ कम हो गया है, कुछ तो साक्षरता में अभिवृद्धि के कारण और कुछ चलचित्रों और रेडियो-रूपकों के प्रचार के कारण ।

महाकाव्य और उपन्यास

साम्य

महाकाव्य और उपन्यास मे वस्तु-सम्बन्धी साम्य है, क्योकि दोनों का वर्ण्य विषय मानव का सम्पूर्ण जीवन होता है । इस साम्य को छोड़ कर, दोनों में कुछ विषमताएँ ये हैं—

प्रथमतः, इन दोनों मे अभिव्यक्ति का भेद है। महाकाव्य पद्य में, तो उपन्यास गद्य में लिखा जाता है। उपन्यास मे नाटकीयता की, किन्तु महाकाव्य में वर्णन की प्रधानता होती है। इसी कारण एफ० आर० लेवी ने उपन्यास को नाटकीय गद्य-काव्य बताया है और फील्डिङ् ने अपने एक उपन्यास को 'गद्यमय सुखान्त महाकाव्य' कह दिया है। हार्डी की भी ऐसी ही धारणा थी।

द्वितीयतः, महाकाव्य में परम्परागत ऐतिहासिक घटनाओं का प्रायः वर्णन रहता है, किन्तु उपन्यासकार अपने अनुभव के आधार पर जीवन के किसी पक्ष का कल्पनाधृत समर्थन करता है।

तृतीयतः, उपन्यास और महाकाव्य दोनों के अपने-अपने रचना-विधान है, पर महाकवि की अपेक्षा उपन्यासकार अपनी अभिव्यक्ति मे अधिक स्वतन्त्र होता है। इस नियन्त्रित स्वतन्त्रता के कारण महाकाव्य मे किसी वर्ग के चरित्र का चित्रण तो हो पाता है, किन्तु व्यक्ति के चरित्र का विकास उतना अधिक नही हो पाता।

चतुर्थतः, महाकाव्य और उपन्यास मे उद्देश्य का अन्तर है। महाकाव्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मे से किसी एक की स्थापना है, और पश्चिमी महाकाव्यो मे महाकार्य, महोद्देश्य और महाफल, महती प्रेरणा आदि प्रयोजन रहते है, किन्तु उपन्यास मे इनके लिए कोई विशेष स्थान नही। अतएव यदि महाकाव्य आदर्श-प्रधान है, तो उपन्यास यथार्थ-प्रधान।

———

कहानी

कहानी के पर्याय

कहानी के अनेक पर्याय है—आख्यान, उपाख्यान, आख्यायिका, कथानक, कथा, गल्प, गाथा। किन्तु इन सभी में अर्थ-भेद भी है। 'आख्यानं पूर्ववृत्तोक्ति' इस वचन के अनुसार आख्यान को पुरावृत्त-कथन, ऐतिहासिक कहानी अथवा पौराणिक कथा कह सकते है। ऋग्वेद मे सुपर्ण और पुरुरवा के आख्यान मिलते है। मनुस्मृति (३, २३२) में 'आख्यान' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसकी टीका मे कुल्लूक भट्ट ने लिखा है 'आख्यानानि सौपर्णमैत्रावरुणादीनि'। महाभारत के रामोपाख्यान और नलोपाख्यान प्रसिद्ध है। आख्यायिका वह कहानी है, जिसका विषय ज्ञात या सत्य हो, यथा हर्षचरित। अमरकोष के अनुसार कथा को प्रबन्ध-कल्पना कहा जा सकता है (१,६,६)[1]। अतएव कथा का विषय काल्पनिक होता है, जिसमे सत्य अल्प होता है, यथा कादम्बरी। पुराणो मे अनेक कथाएँ हैं, यथा सत्यनारायण-व्रत-कथा, अनन्त चतुर्दशी-व्रत-कथा। साहित्यदर्पण मे लिखा है :

आख्यायिका कथावत् स्यात्, कवेर्वंशानुकीर्त्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च, वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित्॥ ६,३४॥

अर्थात् आख्यायिका कथा के समान होती है, उसमे कवि तथा अन्य कवियों के पद्यात्मक वृत्त होते है। उक्त ग्रन्थ में कथा का लक्षण इस प्रकार है—

कथायां सरसं वस्तु, गद्यैरेव विनिर्मितम्॥ ६, ३३२॥
क्वचिदत्र भवेदार्या, क्वचिद् वक्त्रापवक्त्रके।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः, खलादेर्वृत्त-कीर्तनम्॥ ६, ३३३॥

आचार्य दण्डी ने आख्यायिका और कथा को एक ही माना है और उन्होंने हर्ष-चरित, कादम्बरी, पंचतंत्र, हितोपदेश आदि मे कोई भेद नही किया, ऐसा प्रतीत होता है। शैली की दृष्टि से गद्य के चार भेद मान लिये गये है—वृत्त, गन्ध, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक। 'कथानक' 'कथा' से व्युत्पन्न है। यह कथा का छोटा रूप या सारांश है। "लोकगाथा, महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी का वह तत्त्व जो उनमें वर्णित, कालक्रम से शृंखलित घटनाओं को रीढ़ की हड्डी की भाँति दृढ़ता देकर

गति देता है और जिसके चारों ओर घटनाएँ बेल की भाँति उगती, घटती और बढती रहती है[1]"। 'गल्प बंगला की छोटी कहानियो की संज्ञा से प्राप्त शब्द है और छोटी कहानी अंग्रेजी के शॉर्ट स्टोरी शब्द से', जैसा कि डा० लक्ष्मीनारायण लाल समझते है। 'गाथा' लोक-साहित्य का वह प्रकार है,जिसमे कथानक की प्रधानता रहती है, किन्तु साथ गेयता की भी। अर्थात् कथात्मक लोकगीत को गाथा कहा जाता है। इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है। जातकों मे भी श्लोक-बद्ध रचना को गाथा कहा गया है, यथा गाथा-सप्तशती। भोजपुरी मे गाथा का अर्थ है : कथा। यह वह छन्दोबद्ध रचना है, जिसमे कथा की प्रधानता रहती है, यथा. आल्हा, ढोला-मारू। इनके अतिरिक्त दृष्टान्त, चुटकुले, परियों की कहानियाँ, (तोता-मैना के) किस्से, (अकबर-बीरबल) विनोद, पहेलियाँ आदि कहानी के अन्य रूप है।

परिभाषा

'कहानी' गद्य-साहित्य का एक छोटा, अत्यन्त सुसंघटित तथा अपने मे पूर्ण कथात्मक रूप है। डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार 'आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर लिखा गया नाटकीय आख्यान है'। कहानी के इस लक्षण को डा० गुलाबराय कुछ विस्तार इस प्रकार देते है—'छोटी कहानी एक स्वतन्त्र पूर्ण रचना है, जिसमे एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्तिकेन्द्रित घटना या घटनाओ के आवश्यक, परन्तु कुछ अप्रत्याशित ढंग से उत्थान-पतन और मोड के साथ पात्रो के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला कौतूहलपूर्ण वर्णन हो'।

पाश्चात्य आलोचकों और कहानीलेखको ने अपने-अपने दृष्टिकोणो से कहानी की परिभाषाएँ उपस्थित की है। एच० जी० वैल्स ने कहानी की परिभाषा मे केवल उसके आकार पर आग्रह किया है, क्योकि उनके अनुसार कहानी वह है, जो एक घण्टे मे पढी जा सके. 'फिक्शन दैट कैन बी रैड इन एन आवर'। एडगर एलन पो यह समझते है कि कहानी वह कथनात्मक लघुकथा है जो एक बैठक मे पढ़ी जा सके और जो पाठक पर अपने ऐसे प्रभाव की छाप लगा दे जो पूर्ण और अन्तिम हो। वे कहते है. 'ए शॉर्ट स्टोरी इज ए नैरेटिव शॉर्ट इनफ टु बी रैड इन ए सिंगिल सिटिङ्, रिटिन टु मेक एन इम्प्रेशन ऑन द रीडर, एक्सक्लूडिङ् ऑल दैट डज नॉट फॉर्वर्ड दैट इम्प्रैशन, कम्प्लीट एण्ड फाइनल इन इटसैल्फ।' सर हफ वाल्पोल कहते है कि 'कहानी कहानी होनी चाहिए, अर्थात् उसमें घटित होनेवाली वस्तुओं का ऐसा लेखा-जोखा होना चाहिए जो घटना और आकस्मिकता से परिपूर्ण हो, उसमें क्षिप्र गति का ऐसा अप्रत्याशित विकास हो जो कुतूहल के द्वारा सार और सन्तोष को पूर्ण अवस्था तक

१. हिन्दी-साहित्य कोश, पृष्ठ, १८४।

ले जाय'। ए शार्ट स्टोरी शुड बी ए स्टोरी, ए रैकर्ड आव थिङ्ज फुल ऑव इंसिडेंट् एक्सीडेंट, स्विफ्ट मूवमैंट, अनएक्सपैक्टैड डैवलपमैंट लीडिङ् थुरु सस्पैंस टु ए क्लाइमैक्स एण्ड ए सैटिस्फाइङ् डिनाउंसमैंट।

कहानी के तत्त्व

कहानी के छः तत्त्व माने जाते है—वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, वातावरण, उद्देश्य और शैली। वे इस प्रकार है—

१. **कथावस्तु** कहानी की कथावस्तु अत्यन्त सक्षिप्त होती है। उसमें घटनाओं का परस्पर सम्बन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है, पर अनावश्यक घटनाओं का समावेश वर्जित है, क्योंकि अनावश्यक घटनाएँ पारस्परिक सम्बद्धता में व्याघात पहुँचाती है। आवश्यक घटनाएँ भी परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध होनी चाहिए कि कुतूहल बना रहे। कहानी का कथानक प्रारम्भ होकर किसी न किसी प्रकार के सघर्षद्वारा उत्थान की ओर अग्रसर होता हुआ चरम स्थिति को पहुँच जाता है। कहानी मे कितनी ही घटनाओ का समावेश किया जा सकता है, किन्तु उनमे अन्विति अपरिहार्य है। अतएव कहानीकार के लिए आवश्यक है कि वह कार्य, स्थल, और कार्य की अन्वितियो का पालन करे, और यदि स्थल और कार्य की अन्विति के उल्लंघन की अत्यन्त आवश्यकता हो तो वह उल्लघन इस प्रकार अलक्षित हो कि पाठक का ध्यान उसकी ओर न जाय।

२. **चरित्र-चित्रण** : वर्त्तमान युग मे चरित्र-चित्रण कहानी का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कहानी मे कम से कम पात्रो की सख्या स्पृहणीय है। जैनेद्रकुमार जी की 'खेल' नामक कहानी मे केवल दो पात्र है। कहानी मे पात्रो के चरित्र का विकास क्रमबद्ध नही होता, उसके द्वारा तो चरित्र के ऐसे अश पर प्रकाश पड़ता है, जिससे पात्र का व्यक्तित्व झलक उठे। अतएव कहानी के पात्रों को सजीव और व्यक्तित्व पूर्ण होना चाहिए।

चरित्र-चित्रण दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष (अथवा विश्लेषणात्मक), एवं परोक्ष (अथवा नाटकीय)। प्रेमचन्द जी की कहानियों मे प्रथम प्रकार का चरित्र-चित्रण और जयशंकर प्रसाद जी की कहानियों मे प्रायः द्वितीय प्रकार का देखने मे आता है। प्रत्यक्ष अथवा विश्लेषणात्मक रूप मे लेखक किसी पात्र के द्वारा सीधे या सकेत से टीका-टिप्पणी करा देता है, किन्तु परोक्ष अथवा नाटकीय चरित्र-चित्रण में लेखक अपनी ओर से कुछ नही कहता। पात्रो के वार्त्तालाप और कार्य-कलाप के

द्वारा चरित्र की परोक्ष अभिव्यक्ति होती है, जैसी कि 'ताई' में विश्वम्भरनाथ कौशिक जी के द्वारा और 'शखनाद' में प्रेमचन्द जी के द्वारा हुई है।

३. **कथोपकथन** : चरित्र-चित्रण का आधार है कथोपकथन। कथोपकथन के द्वारा पात्रों के चरित्र का परिचय मिलता है और कथानक में सजीवता आती है। अतएव कथोपकथन के लिए यह आवश्यक है कि वह सजीव, सगत, चमत्कार-पूर्ण और परिस्थिति के अनुकूल हो। सजीवता लाने के निमित्त कभी-कभी दो-चार इधर-उधर की बातो का समावेश हो सकता है।

४. **वातावरण** : वातावरण के द्वारा देश और काल स्पष्ट होता है, और वह दो प्रकार का होता है—भौतिक और मानसिक। भौतिक वातावरण पात्रो की मानसिक स्थिति की व्याख्या करने मे प्राय. सहायक होता है। भौतिक वातावरण हैं : वन, नदी, पर्वत, उद्यान, सरोवर, प्रासाद आदि स्थान तथा प्रातः, सायं, मध्याह्न, रात्रि, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि काल।

५. **उद्देश्य** : कहानी मनोरंजन तो करती ही है, किन्तु उसका उद्देश्य जीवन-सम्बन्धी कुछ तथ्यो का विश्लेषण करना या मानव-मन का निकट परिचय देना भी है। यह उद्देश्य कभी स्पष्ट रूप से प्रकाश में आता है, यथा सुदर्शन जी की 'अलबम' नामक कहानी मे, जिसका उद्देश्य है याचक के स्वाभामिान को बिना चोट पहुँचाये उसकी सहायता करना, कभी उद्देश्य कहानी मे गूढ रहता है; और कभी यह उद्देश्य अन्तिम वाक्य मे सूक्ति-रूप से विद्यमान रहता है, यथा अज्ञेय जी की 'शत्रु' नामक कहानी का यह अन्तिम वाक्य : "जीवन की सबसे बडी कठिनाई यही है," इत्यादि। कहानी का उद्देश्य यह नही कि वह हमारी समस्याओं को सुलझाये; उसके लिए यह पर्याप्त है कि वह हमारी समस्याओ के हल का मार्ग-दर्शन करा दे।

६. **शैली** : शैली का सम्बन्ध कहानी के सभी तत्त्वो से है। शैली के दो रूप प्रधान है—मुहावरेदार भाषा, अथवा अलंकृत और तत्सम-प्रधान भाषा। प्रेमचन्दजी की भाषा मुहावरेदार, सरल एवं प्रसाद-गुण-सम्पन्न है। जयशंकर प्रसाद और चण्डीप्रसाद हृदयेश की भाषा तत्सम-प्रधान और ओजपूर्ण है। शैली मे शब्द-चयन, पद-मैत्री. सुसंघटित वाक्य-विन्यास, प्रवाह, अलकार और लक्षणा-व्यंजना आदि के पुट की महत्ता है। भाषा सौष्ठव के साथ कहानी के गुण है—संगति और प्रभाव की एकता। शैली के कारण कहानी मे रोचकता बनी रहती है।

कहानी की चार मुख्य शैलियाँ है—ऐतिहासिक शैली, चरित शैली, पत्रात्मक शैली, और डायरी शैली। प्राचीनकाल की शैली इतिवृत्तात्मक शैली थी, क्योकि

कहानी का प्रारम्भ प्राय कुछ इस प्रकार किया जाता था—'एक राजा था'। यह शैली ऐतिहासिक शैली है। बंगला के प्रभाव से राधिकारमणसिह ने हिन्दी मे इसका विकास किया। नाटकीय तत्त्वो के सम्मिश्रण से उनकी शैली अधिक आकर्षक हो गई है। इस शैली की सर्वप्रथम कहानी है, 'कानो में कगना'। चरित-शैली का निर्वाह उत्तम पुरुष में होता है। इसकी सफलता दो-तीन पात्रो तक रहती है, पर पात्रो की बहुलता से वह कलुषित हो जाती है; क्योकि कथानक जटिल और अरोचक हो जाता है और पात्रो के चरित्र का चित्रण भी सुचारु रूप से नही हो पाता। 'ब्रह्म का स्वाँग' और 'कवि की स्त्री' ये दोनो कहानियाँ चरितशैली के अच्छे उदाहरण है। पत्रात्मक और इसी से मिलती-जुलती 'डायरी शैली' का विकास अधिक नही हुआ। इन शैलियो मे बहुत कम कहानियाँ लिखी गयी है।

कहानी-विस्तार

कहते है कि कहानी इतनी लम्बी हो कि एक बैठक अर्थात् आधे घण्टे मे पढी जा सके। परन्तु कहानी को एक पाठक त्वरित गति से पढता है और दूसरा मन्द गति से। अतएव कहानी की लम्बाई का मान शब्द-सख्या के द्वारा बताया जाता है, अर्थात् २५०० से १०००० शब्दो तक का। २५०० से कम शब्दो की कहानी छोटी कहानी, लघु कथा अथवा शॉर्ट स्टोरी कहलाती है। दस हजार से अधिक शब्दो की कहानी बडी कहानी अथवा 'लॉग शॉर्ट स्टोरी' कही जाती है। यदि किसी कहानी में बीस हजार शब्दो से अधिक हो, तो उसे लघु उपन्यास, उपन्यासिका अथवा नौवलिट कहना चाहिए, तो पाँचसौ शब्दो से कम की और बीस हजार शब्दो से अधिक की कहानियाँ भी विद्यमान् है, जिन्हे साधारणत. कहानी कहते है।

कहानी का वर्गीकरण

कहानी के चार वर्ग किये गये है, यथा कथा-प्रधान, वातावरण प्रधान, प्रभाव प्रधान और विविध। कथा-प्रधान कहानी के तीन उपभेद है—चरित्र-प्रधान, घटना-प्रधान और कार्य-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानियो के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक कहानियाँ है, क्योकि उनमे चरित्र-चित्रण को प्रधानता दी जाती है यथा जैनेन्द्रकुमार जी की 'जायजेब'। घटना प्रधान कहानियाँ वे है जिनके आधार है—दैवी घटना और आकस्मिक सयोग यथा कौशिकजी की 'रक्षा-बन्धन' और ज्वालाप्रसाद मिश्र की 'अनाथ बालिका', किन्तु इस प्रकार की कहानियाँ आजकल उच्च कोटि की नही मानी जाती। कार्य-प्रधान कहानियाँ ऐसे वर्णन को उपस्थित करती है, जिसमे किसी रहस्य का उद्घाटन अथवा किसी साहसपूर्ण, अद्भुत या किसी वैज्ञानिक कार्य की अभिव्यक्ति हो। वातावरण-प्रधान कहानियो में कथानक के विकास का कारण कोई मुख्य भावना होती है, यथा:

प्रेमचन्द की कहानी 'शतरज के खिलाड़ी', जयशकर प्रसाद का 'आकाश-दीप'। प्रभाव-प्रधान कहानियो मे किसी सामयिक सत्य की अभिव्यक्ति होती है, यथा 'काम काज' और 'रोज' नामक कहानियो में। 'विविध' के अन्तर्गत ऐसी कहानियो के अनेक भेद है, जो विषय के आधार पर होते है, यथा हास्यपूर्ण, ऐतिहासिक, यथार्थवादी, प्रतीकवादी। हास्यपूर्ण कहानियों मे ऐसी कम होती है, जिनमे हास्य उच्च कोटि का मिले। वृन्दावन लाल वर्मा की कहानियाँ इतिहास-पूर्ण है। यथार्थवादी कहानियो मे सत्य, सौन्दर्य, चरित्र-चित्रण और शैली की रमणीयता होती है, यथा: बेचन शर्मा उग्र और चतुरसेन शास्त्री की, किन्तु ऐसी कहानियो मे कुरुचि और अकल्याण की आशका भी रहती है। हिन्दी मे प्रतीकवादी कहानियाँ बहुत कम है, यथा राय कृष्णदास की 'कला और कृत्रिमता' तथा जयशंकर प्रसाद की 'कला'।

कहानी और अन्य काव्य

कहानी काव्य है, किन्तु यह काव्य के अन्य रूपो से भिन्न है। इसका प्रधान उद्देश्य मनोरजन है। अतएव इसमे गुरुत्व, गाभीर्य अथवा महत्ता की उतनी मात्रा नही होती, जितनी महाकाव्य मे। कहानी के पात्र महान् और आदर्श नही होते। अत. इसके नायक धीरललित, धीर प्रशान्त अथवा निम्नस्तर के भी हो सकते है।

कहानी का उद्गम

कहानी कहने की प्रवृत्ति प्राचीन काल से है। ऋग्वेद मे पुरुरवा-सुपर्ण के आख्यान, यम-यमी, सरमा, पणिस के संवाद मिलते है। रामायण मे अहल्या, बाली, दुदुभी तथा रावण के वृतान्त, और 'महाभारत' मे गंगावतरण, नहुष, ययाति, शकुन्तला, नल आदि उपाख्यान है। इनके अतिरिक्त अनेक पुराणो मे अनेक मार्मिक उपाख्यान और कथानक उपलब्ध होते है।

परवर्ती कथाओं मे सबसे प्राचीन गुणाढ्य की वृहत्कथा है, जो अब प्राप्य नही, किन्तु बुधस्वामी के वृहत्कथा श्लोकसंग्रह में, क्षेमेन्द्र की वृहत्कथा मजरी मे और सोमदेव के 'कथासरित्सार' मे उसका आभास मिलता है। उसका प्रभाव दण्डी के 'दशकुमार चरित', बाणभट्ट की 'कादम्बरी', सुबन्धु की 'वासवदत्ता', धनपाल की 'तिलक मंजरी' और सोमदेव के 'यश तिलक' पर भी प्रतीत होता है। 'मालतीमाधव', 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय', 'रत्नावली', 'मृच्छकटिक' ये सभी काव्य कथात्मक है। 'पंचतन्त्र' ने कहानी साहित्य को बड़ी प्रेरणा दी। इसकी परम्परा ने 'तन्त्राख्यायिका', 'कथासरित्सागर', नारायणकृत 'हितोपदेश', जैन सिद्धार्थ का 'उपमिति', 'भावप्रपंच कथा', हेमचन्द्र का 'त्रिषष्ठी शलाका पुरुष चरित' आदि

ग्रन्थ हैं। बौद्धो के अवदान और जातक बहुत प्रसिद्ध हैं। 'बेताल पचविंशति', 'शालिवाहन कथा', 'कथार्णव', 'सिंहासनद्वात्रिंशिका', 'शुक सप्तशती', 'भोज प्रबन्ध' आदि अनेक ग्रन्थ कहानियो से ओत-प्रोत है।

'पचतन्त्र' ने विश्व-ख्याति प्राप्त की है। छठी शती मे खुसरो नौशेरवाँ ने पहलवी भाषा मे उसका सर्वप्रथम अनुवाद कराया; और ईसाई पादरी बुद ने इसका अनुवाद सीरियन भाषा मे किया। सातवी-आठवी शताब्दियो मे सीरियन भाषा से अरबी मे पंचतन्त्र के कई अनुवाद हुए और अरबी से इसकी कहानियों के कई अनुवाद लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रैंच, अग्रेजी आदि योरुप की अनेक भाषाओं मे हुए। सोलहवी शताब्दी तक तो इसके कई अनुवाद हो चुके थे। इस प्रकार 'पंचतन्त्र' की कहानियो ने ससार के कहानी-साहित्य को बड़ी प्रेरणा प्रदान की। भारत की भाँति प्राचीन यूनान मे भी गद्य-पद्यात्मक कथाएँ प्राप्त है। 'बाइबिल' कहानी-बहुल है और अरबी का 'अलिफ़ लैला' अत्यन्त मनोरजक है।

अपभ्रंश मे भी राजाओ के आख्यान और चरित लिखे गये है। भारत मे मुसलमानो के स्थापित हो जाने पर 'लैला मजनूँ', 'शीरी फरहाद', 'युसुफ जुलेखा' आदि विदेशी कथाओं का भारत मे प्रचार हुआ। प्रेम-मार्गी सूफी कवियो के प्रेमाख्यान बड़े मनोरजक है, किन्तु ये उडन-खटोला और उड़ाकू घोड़ा, देवी-देवता, राक्षस देव और अप्सरा-प्रेम के चमत्कारो से अतिलौकिक और अस्वाभाविक हो गये है। अकबर-वीरबल-विनोद-सम्बन्धी चुटकलो मे व्यग्य और हास्य दोनों ही है। 'वैष्णव वार्ताओ' मे वैष्णवो के जीवन-चरित दिये गये है। रीतिकाल के मुक्तक राधाकृष्ण की कथाओं पर आश्रित है।

योरुप के मध्ययुग में चौसर की 'केंटरबरी टेल्ज' और बोकेशियो की 'डीकैमरां' नाम के कहानी-सग्रह है। सत्रहवी और अठारहवी शताब्दी मे भी कहानियाँ लिखी गयी, जिनमे से कुछ तो आजकल की सी है। अठारहवी शती तक उपन्यास की अधिक मान्यता रही, किन्तु उन्नीसवी शती के प्रारंभ से आधुनिक कहानियो का सूत्रपात हुआ।

जर्मनी में ई० टी० डब्ल्यू हॉफ-मैन के कहानी-संग्रह प्रकाश में आये। जैकब और विलहैल्म ग्रिम की परियो की कथाएँ और पुराण-सग्रह प्रकाशित हुए। इगलैंड मे वाशिङ्टन इरविन, नैथलीन हॉथॉर्न और एडगर एलिन पो ने कहानियाँ लिखीं। रूस में एलेग्जैंडर पुशकिन और निकोलाइ गोगोल ने कहानियाँ लिखी। फ्रांस मे प्रोस्पर मैरी मी, थियोफलि ग्रोतिये और बालज़क की कहानियाँ लिखी गयीं। आधुनिक कहानी का प्रारंभ उन्नीसवी शताब्दी में हुआ। जर्मनी, इंग्लैंड, रूस और फ्रांस

में कहानियाँ लिखी गयीं। इंग्लैंड के वाशिङ्टन इरविन कहानी-कला के आदर्श कहे जाते है, यद्यपि इनमे गतिशीलता और नाटकीय का अभाव है। रूस के निकोलाइ गोगोल के विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि वे अपनी कहानी को दोषरहित रखने के लिए आठ-आठ बार तक लिखते थे। एडगर एलनगो ने कहानीकला के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और तत्सम्बन्धी नियम बनाये, पर उन्होंने कहानी को नियमों से इतना जकड दिया कि उसमें गतिरोध आ गया, लेकिन फ्रास के गाई द मोपासा ने कहानी को नियमों की कठोरता से मुक्त कर दिया। उनकी कहानियाँ बहुत है और अच्छी है। चेखव ने कहानी को स्वतन्त्रता, अवसाद, आकर्षण और सुषमा से परिपूर्ण किया। अमेरिका के ओ हैनरी कहानी का अन्त प्रस्तुत करने मे अत्यन्त कुशल है; उसमे वाक्चतुरता है। डिकिंस की कहानियों मे स्वच्छन्दता, मानवता और प्रभावोत्पादकता मिलती है।

कहानी का विकास

आधुनिक काल की हिन्दी-कहानी का प्रारम्भ इंशा अल्लाह खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' से होता है। लल्लूलाल की 'सिहासन बत्तीसी,' 'वैताल पच्चीसी,' 'माधवानल कामकन्दला', 'शकुन्तला', प्रेमसागर'; सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान', जटमल की 'गोरा-बादल की कथा', राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का 'राजा भोज का सपना' इस काल की प्रसिद्ध कहानियो मे है। इस काल की कहानियों मे से कुछ का स्रोत तो संस्कृत कथाएँ अथवा लौकिक कथाएँ है और कुछ का स्रोत उर्दू-फारसी की कहानियाँ है। शुक बहत्तरी, किस्सा तोता-मैना, किस्सा साढे तीन यार, किस्सये चार यार ये कहानियाँ पहले प्रकार के स्रोत पर आधृत है और बागो-बहार, किस्सा हातमताई, चहार दरवेश, दास्ताने अमीर हमजा, तिलस्मे होशरुबा ये कहानियाँ दूसरे स्रोत पर आधृत है। ये सभी कहानियाँ कुतूहल, वासना, जादू आदि से परिपूर्ण है।

आधुनिक कहानी पर भौतिक विज्ञान, राष्ट्रीय जाग्रति, सास्कृतिक आन्दोलन, गद्य-प्रचार, मुद्रण-सुविधा और हिन्दी पत्रो के आविर्भाव का प्रभाव पड़ा। 'हिन्दी प्रदीप,' 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' मे अनेक कहानियाँ प्रकाशित हुई। किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती', जो 'सरस्वती' मे १९०० ई० में प्रकाशित हुई, शिल्प की दृष्टि से नवीन थी। बंगला से कहानियो का अनुवाद करने वालों मे प्रमुख थे गिरिजा-कुमार घोष और लाला पार्वतीनन्दन। 'जम्बुकी न्याय,' 'निन्नानवे का फेर,' 'नकली किला,' 'कुलीन पाडे,' 'विद्याविहार' ऐसी कहानियों के उदाहरण है जो छन्दोबद्ध है, किन्तु वे न तो शैली और न विषय के दृष्टिकोण से उत्कृष्ट है। १९०७ तक बहुत सी कहानियाँ प्रकाशित हुई, किन्तु वे अत्यन्त साधारण है।

१९०७ में 'बंगमहिला' की 'दुलाई वाली' कहानी सरस्वती में प्रकाशित हुई थी, जो हिन्दी की प्रथम मौलिक आधुनिक कहानी मानी जाती है। दूसरी है १९११ मे 'इन्दु' में प्रकाशित जयशंकर प्रसाद की कहानी 'ग्राम'। तीसरी है चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'सुखमय जीवन' जो 'भारतमित्र' मे उसी वर्ष प्रकाशित हुई। अन्य उल्लेखनीय कहानियाँ जी० पी० श्रीवास्तव, ज्वालादत्त शर्मा, चतुरसेन शास्त्री, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, राधिकारमणसिंह, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, गोपालराम गहमरी, राय कृष्णदास, बेचन शर्मा 'उग्र', वृन्दावनलाल वर्मा, दुर्गाप्रसाद खत्री आदि की है, जो चरित्र-प्रधान, वातावरण प्रधान, कथानक-प्रधान, जासूसी, विज्ञान प्रधान, मनोवैज्ञानिक, अन्तर्द्वन्द्व-विश्लेषण-प्रधान, कार्य-प्रधान, तर्क-प्रधान, प्रतीक-प्रधान, इतिहास-प्रधान अथवा-प्रकृति प्रधान है और वर्णनात्मक, संलापात्मक, आत्मचरितात्मक अथवा पत्रात्मक शैली मे व्यक्त हुई है।

कहानी के भेद

भेद के आधार अनेक हो सकते है, जिनमे से दो मुख्य है, तत्त्व और विषय। तत्त्व-प्रधानता के आधार पर कहानी के चार भेद है—घटना-प्रधान (अथवा कथानक-प्रधान), चरित्र-प्रधान, वातावरण-प्रधान, भाव-प्रधान।

(क) घटना-प्रधान कहानी के तीन रूप होते है—घटना-प्रधान, कार्य-प्रधान और चरित्र-प्रधान। घटनाप्रधान मे घटनाएँ ही कथानक के निर्माण मे मुख्य होती है, किन्तु ऐसी कहानियाँ अत्यन्त साधारण समझी जाती है, क्योकि इनमे दैवी घटना और संयोग का विशेष सहारा लिया जाता है। कार्यप्रधान कहानी घटनाप्रधान कहानी का विकसित रूप है, यथा जासूसी, रहस्यपूर्ण तथा अद्भुत कहानियाँ। गोपालराम गहमरी और दुर्गाप्रसाद खत्री ऐसी कहानियो के विख्यात लेखक है।

(ख) चरित्र-प्रधान कहानियों का मुख्य लक्ष्य चरित्र का चित्रण अथवा उसका विश्लेषण करना है। इसलिए कहा जा सकता है कि ऐसी कहानियों का आधार मनोविज्ञान है, यथा प्रेमचन्द की 'बूढी काकी,' गुलेरी जी की 'उसने कहा था', जैनेन्द्र जी की 'एक रात'। इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, अश्क, अज्ञेय भी इस दिशा में सिद्ध लेखक है।

(ग) वातावरण-प्रधानः परिवेश और वातावरण हमारे दैनिक जीवन को प्रभावित करता है। ऐसे प्रभाव की प्रेरणा से कहानी वातावरण-प्रधान बन जाती है। ऐसी कहानी में प्रकृति-चित्रण और रूप-चित्रण की मुख्यता रहती है। सामाजिक कहानियों के वातावरण का निर्माण जयशकर प्रसाद की 'बिसाती' में और प्रेमचन्द की 'गुल्ली-डण्डा' में सफलतापूर्वक हुआ है। ऐतिहासिक कहानियो का प्राण तो वाता-

वरण ही है। जयशंकर प्रसाद की 'सालवती' और 'आकाशदीप' इनके सफल उदाहरण है। इन कहानियो की मुख्य विशेषताएँ है कवित्वपूर्ण भावना, कलात्मक अभिव्यक्ति, नाटकीय स्थितियों की अवतारणा और चरित्रों के संघर्ष।

(घ) भाव-प्रधान कहानी मे चरित्र, घटना या कार्य-व्यापार पर विशेष आग्रह नही किया जाता, बल्कि भाव-विशेष पर बल दिया जाता है। जैनेन्द्र जी की 'नीलम देश की राजकन्या', अज्ञेय जी की 'कोठरी की बात' इस दिशा में सफल कहानिया है। प्रायः भाव-प्रधान कहानियाँ अपने भाव-चित्रों को प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त करती हैं। ये कहानियाँ सूक्ष्म तथ्यों एवं भावनाओ को मूर्त्त करने मे और अमूर्त्त विषयो को तथा मानसिक सघर्षो को प्रतीको के द्वारा उपस्थित करने में सफल होती हैं, यथा जैनेन्द्र का 'लाल सरोवर' और अज्ञेय का 'चिडियाघर'।

विषय की दृष्टि से कहानियों के अनेक भेद हो सकते है, यथा. ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणात्मक, साहसिक, रोमासिक, जासूसी।

सफल कहानी

सफल कहानी संक्षिप्त, सरल और स्वाभाविक होती है। उसमे न तो व्यर्थ का वर्णन होता है और न किसी नये लोक की माया या चमत्कार का उल्लेख ही। ऐसी कहानी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधृत रहती है।

कहानी की सरलता से हमारा अभिप्राय उसकी भाषा की सरलता से है और उन विचारों की सरलता से भी जो उसमे निहित रहते है। भाषापाश मे आबद्ध होकर पाठक लेखक के विचारो तक नही पहुँच पाता। इस कारण वह कहानी पढने का आनन्द खो बैठता है और कहानी के ध्येय से दूर रहता है। कहानी मे गभीर दर्शन की व्याख्या तथा राजनैतिक अथवा सामाजिक समस्याओ के लिये स्थान नही। उसकी सफलता इस बात पर है कि श्रोता अथवा पाठक उसे उत्सुकतापूर्वक सुने और उसकी उत्सुकता कहानी के साथ-साथ बढती चले।

यद्यपि कहानी में उत्सुकता, कुतूहल और विलक्षणता की आवश्यकता है, तथापि उसमें अस्वाभाविकता का अभाव वाछनीय है। वर्त्तमान युग की कहानियो में तिलस्म, परी, अप्सरा तथा जादूगर के लिये आकर्षण नही। पुरानी कहानी उपदेश अथवा किसी आचार-तत्त्व के स्पष्टीकरण का साधन थी, किन्तु आज की कहानी प्रचार का साधन है, यथा विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, समाजवाद, साम्यवाद आदि। पुरानी कहानी को पढकर किसी बात का उत्तर मिल जाता और पाठक को संतोष हो जाता था, किन्तु आज की कहानी का उद्देश्य कथा नही। इसीलिए लेखक कथा

का अन्त नही दिखाता (यथा 'उसने कहा था')। कहानी की लोकप्रियता के लिए यह आवश्यक है कि 'उसका आरम्भ उत्सुकता से और अन्त कल्पना मे हो'।[1]

पुरानी और नयी कहानी

प्राचीन और नयी कहानियो मे अन्तर है। प्राचीन कहानियो में कल्पना और प्रेम की प्रधानता है। इनका रूप नाटक, प्रेमाख्यान, खण्डकाव्य आदि मे उपलब्ध है। पर आधुनिक कहानी मे मानवीय प्रेम, करुणा, विनोद, हास्य, व्यंग्य, विस्मय, यथार्थ परिस्थितियो के घात-प्रतिघात आदि भावो की उद्भूति है। विषय और वातावरण के दृष्टिकोण से प्राचीन कहानियो मे राजा, राजकुमार, राजकुमारी आदि की प्रेम-कथाओ की अधिकता है। मानव के बाह्य कार्य और स्वभाव का वर्णन है। आकस्मिक घटनाओ के सयोग से कुतूहल, आश्चर्य और जिज्ञासा को शान्त करने की प्रवृत्ति और बातो को बढा-बढ़ाकर कहने की प्रवृत्ति है, परन्तु आधुनिक कहानी के विषय है मनुष्य की अन्तः प्रकृति का चित्रण, सामाजिक समानता, साधारण मनुष्यों के व्यक्तिगत जीवन की घटनाओ का वर्णन। इसमे मानवीय प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक चित्रण, जीवन के तथ्यो और शाश्वत सत्यों का आभास दिया जाता है। शैली के दृष्टिकोण से प्राचीन कहानी का आरम्भ नियमित और व्यवस्थित ढग से होता था, पर आधुनिक कहानी का उपक्रम कथानक के किसी स्थल से हो सकता है। प्राचीन कहानी वर्णन-प्रधान होती थी, किन्तु आधुनिक कहानी रूपकों और प्रतीकों के द्वारा कलात्मक एव विकासशीला है।

सस्कृत-साहित्य मे कथा और आख्यायिकाएँ पद्यबद्ध भी होती थी, किन्तु हिन्दी मे वे प्रायः गद्यात्मक होती है। युग-परिवर्त्तन के अनुसार कहानी के रूप और विषय में भी परिवर्त्तन होता है। जैसा कि सकेत किया जा चुका है, प्राचीन काल की कहानियो के पात्र अधिकतर राजा-रानी या उच्चकुलीन व्यक्ति होते थे, किन्तु आधुनिक कहानी मे कवि, क्लार्क, किसान, भंगी और चमार जैसे साधारण जन कहानी के पात्र बन जाते है। यदि प्राचीनकाल मे कहानी की कथावस्तु पर आग्रह था, तो आजकल चरित्र-चित्रण पर। प्राचीनकाल की कहानियो का उद्देश्य किसी गभीर विषय का विवेचन अथवा नीति-धर्म का शिक्षण होता था। बहुत कम कहानियाँ मनोरजन के लिए लिखी गई थी। साहित्यिक कहानियों मे शब्द-जाल अधिक था, रोचकता कम। आधुनिक कहानियों मे मनोरजन और रोचकता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। मुसलमानकालीन प्रेमाख्यानो मे प्रेम की कल्पना-पूर्ण उछल कूद

१. 'It is the start and finish that count most.

अधिक थी। आज की कहानी में वह उछल-कूद भाव-पूर्ण है। प्राचीन कहानी मे दैवी घटना और संयोगो के द्वारा कथानक का विकास होता था। आज की कहानी मे इस प्रकार के साधनो का उपयोग बहुत कम हो गया है। आधुनिक कहानियों में मानव-जीवन के आभ्यन्तर पक्ष के रहस्यो का उद्‌घाटन किया जाता है।

प्राचीनकाल की कहानी कल्पना के पख लगा कर परी-लोक मे विचरण करती थी, किन्तु आज की कहानी हृदय-सरोवर मे भावशय्या पर लेट कर विहार करती है।

उपन्यास और कहानी का अन्तर

'कहानी' और 'उपन्यास' के तत्त्व समान है। अतएव इस साम्य से प्रभावित होकर कुछ व्यक्ति कहानी को उपन्यास का लघु संस्करण अथवा उपन्यास को कहानी का वृहत् सस्करण कह देते है। किन्तु यह धारणा सबल नही, क्योकि उपन्यास और कहानी में अन्तर स्पष्ट है।

प्रथम तो, कथानक के सम्बन्ध मे ही मतभेद है। उपन्यास में कथानक होता है; किन्तु कहानी मे वह अनिवार्य नही। कहानी मे कथानक हो सकता है और नही भी हो सकता। चरित्र-प्रधान कहानी मे उसका लक्ष्य चरित्र-चित्रण होता है और वातावरण-प्रधान मे किसी विशेष वातावरण का चित्रण होता है। हडसन के अनुसार 'कहानी का प्रेरक कोई एक ही मार्मिक विचार होता है'। उपन्यास के कई पहलू होते है, यथा पात्रो का चरित्र-चित्रण और चरित्र-विकास, स्थानीय वातावरण-निर्माण, भावनाओ का घात-प्रतिघात और सघर्ष। किन्तु कहानी मे इनमे से किसी एक दृष्टिकोण को अपनाया जाता है। उसमे इन विविध बातो मे से एक को चुना जाता है, किन्तु उपन्यास मे ये सभी बाते सुचारु रूप से उपस्थित की जा सकती है। उपन्यास की अपेक्षा कहानी का वर्ण्यक्षेत्र कही अधिक सकुचित होता है।

दूसरे, जिस प्रकार महाकाव्य मे जीवन को समग्र रूप में चित्रित किया जाता है उसी प्रकार उपन्यास मे भी, किन्तु कहानी मे जीवन या जगत् के किसी एक अंश पर ही प्रकाश डाला जाता है। हडसन कहते है, "कहानी मे हम पात्रों से कुछ क्षणों के लिए ही मिलते है और उन्हे कुछ ही सम्बन्धों और परिस्थितियो मे देख पाते है; किन्तु उपन्यास में पात्रों के सम्पूर्ण जीवन की झलक मिलती है"। लघुकथा, स्टिवेसन के अनुसार, जीवन की प्रतिलिपि नही, किन्तु उसके किसी एक पक्ष का सरलीकरण है।

तीसरे, उपन्यास और छोटी कहानी मे आकार का भी अन्तर है। उपन्यास कितना बड़ा हो, इसके लिए कोई रोक नही, वह सैकड़ो और सहस्रों पृष्ठों का हो

सकता है, उसकी अनेक जिल्दे हो सकती है, किन्तु कहानी के लिए यह आवश्यक है कि वह एक बैठक में समाप्त हो जाय। वस्तुत: कहानी और उपन्यास का वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि गीति और महाकाव्य का, अथवा एकाकी और नाटक का। अतएव कला की दृष्टि से कहानी को उपन्यास का लघुरूपमात्र कह देना अनुचित है।

चौथे, कहानी और उपन्यास दोनों ही हमारे ऊपर प्रभाव डालते है, किन्तु दोनो के प्रभावों मे अन्तर है। कहानी मे, 'स्थान-स्थान पर उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रभाव' सिमटते और एक दूसरे से सयुक्त हो जाते है, जिससे उनका सम्मिलित रूप अन्त मे प्रभावोत्पादक होता है। डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के शब्दों में, "कहानी यदि अपने एकोन्मुख समष्टि प्रभाव के माध्यम से हमारे चित्त को पूर्णतया झंकृत और आन्दोलित करके हमें अनुमान, कल्पना और जिज्ञासा के उन्मुक्त द्वार पर ला खड़ा कर देती है, तो उपन्यास जीवन के विविध क्षेत्रो की झाँकी देकर सारे रहस्य और वस्तु-स्थितियो से परिचित कराकर हमारे भीतर एक पूर्णता-विधायक सन्तुष्टि उत्पन्न करता है।"

पाँचवे, कहानी के लिखने में स्मृति की अपेक्षा विस्मृति की सहायता लेनी पड़ती है, अर्थात् कहानीकार को उन विवरणो में से बहुत कुछ छोड़ देना पड़ता है, जिन्होंने उसे कहानी लिखने के लिए प्रेरित किया था। प्रत्यक्षानुभूति ही स्मृति का आधार होती है, वे ही बाते स्मृत रहती है, जिनमें हमारी रुचि होती है अथवा जिन्होंने हमारे जीवन को विशेष रूप से प्रभावित किया है। इसलिए कहानी-लेखन में पुनरुत्पादिका कल्पना और रचनात्मक कल्पना के सयमन की आवश्यकता पड़ती है। उपन्यास वृहदाकार होता है, उसमे कल्पना के अबाध क्रीड़ा-कौशल के लिए कहानी की अपेक्षा बहुत अवकाश रहता है। अतएव कहानी के लिए कल्पना-चयन में विशेष विवेक की अपेक्षा रहती है।

छठे, कहानी मे मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व-चित्रण के लिए स्थान-संकोच होता है, किन्तु उपन्यास मे इसके लिए अवकाश का अभाव नही। चरित्र-चित्रण का महत्त्व दोनो मे है, परन्तु दोनो के रूपों मे अन्तर है। हडसन ने कहा है : "कहानी में चरित्र का उद्घाटन होता है, परन्तु उपन्यास में चरित्र को विकास दिया जाता है। अतएव कहानी में चरित्र-चित्रण की अभिनयात्मक शैली को और उपन्यास में विश्लेषणात्मक शैली को अपनाया जाता है"। प्रेमचन्द जी ने भी कहा है, "कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुजाइश नही होती। यहाँ पर हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नही होता, उसके चरित्र का एक अंग दिखाना होता है"।

सातवें, महाकाव्य की भाँति उपन्यास मे दोनों प्रकार के विवरण मिलते है—रसात्मक और इतिवृत्तात्मक, परन्तु कहानी में दूसरे प्रकार के विवरण को स्थान नही, अतएव उसमे व्यंजना और प्रतिध्वनि से परिपूर्ण रसात्मकता का महत्त्व अधिक है। कथोपकथन के दृष्टिकोणों मे भी अन्तर रहता है। उपन्यास में लम्बे-चौड़े व्याख्यान और दार्शनिक-चर्चाओ के लिए अवकाश मिल जाता है, पर कहानी मे तो त्वराबुद्धिजन्य तर्कमय रोचक संवाद के लिए संक्षिप्तता एव सकेतात्मकता की अपेक्षा रहती है।

———

निबन्ध

व्युत्पत्ति और अर्थ

'निबन्ध' शब्द मे 'नि' उपसर्ग, 'बन्ध्' धातु और 'घञ्' प्रत्यय है। इसका अर्थ है बाँधना। निबन्ध के पर्याय है —ऐस्से (Essay) लेख (आर्टिकल), सदर्भ (ट्रीटिज़), रचना (कम्पोजिशन), शोध-प्रबन्ध (थीसिस)। तुलसीदास जी ने 'निबन्ध' का प्रयोग 'प्रबन्ध' के लिए किया है. 'भाषा निबन्धमतिमंजुलमातनोति'। विद्वानो की ऐसी कल्पना है कि प्राचीनकाल मे कागज़ के अभाव मे भोजपत्र अथवा ताड़पत्र लिखने के काम में आते थे और जब पुस्तक पूर्ण हो जाती थी तो उसको बस्ते मे लपेट कर रखा जाता था। इसके अतिरिक्त ऐसी पुस्तके भी है, जिनके पृष्ठों के बीचो-बीच छेद करके उन्हे डोरे से पिरो दिया जाता था, जिससे वे पन्ने अलग न हो सके और गाँठ लगा दी जाती थी। जिल्द-साजी प्राचीन कला है। मुगल-कालीन ग्रन्थ जुजबन्दी जिल्द मे उपलब्ध होते है। विदेशियों का अनुमान है कि 'ग्रन्थ' शब्द इस बात का द्योतक है कि रचनाओ मे ग्रन्थि अथवा गाँठ लगाकर उन्हे सुरक्षित रखा जाता था। 'प्रबन्ध', 'निबन्ध' और 'ग्रन्थ' सभी मे ग्रन्थि-बन्धन की क्रिया की ओर सकेत है। अस्तु। मेरे विनम्र मत से 'निबन्ध' वह क्रिया है जो बिखरे हुए विचारों को किसी एक विषय पर बाँधती है। जब हम किसी बालक को 'गाय' पर निबन्ध लिखने के लिए देते है तो वह उस पशु के बारे मे अनेक प्रकार की बाते सोचता और अपने अध्ययन एव प्रतिभा के अनुसार विचारों को एकत्र कर क्रम-बद्ध करता है।

निवन्ध का अग्रेजी पर्याय 'ऐस्से' है। इसकी व्युत्पत्ति लैटिन के 'एक्सेजियर' शब्द से है, जिसका अर्थ है 'प्रयत्न करना'। इसमे कोई सन्देह नही कि निबन्ध-लेखक को किसी निर्दिष्ट विषय पर 'ऐस्से' अर्थात् प्रयत्न करना पड़ता है। हमारे अनुभव मे ऐसा हुआ है कि हम महीनो तक एक पक्ति भी न लिख सके, यद्यपि मन मे कतिपय विचार अभीष्ट विषय के सम्बन्ध मे उठते थे, क्योकि कभी-कभी कल्पना को धक्का सा लगता था और उसकी गति मे बाधा उत्पन्न होती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि निबन्ध लिखते समय विचारो के एकत्र करने और बाँधने मे प्रयत्न और श्रम होता है।

परिभाषा

निबन्ध की कोई सर्वसम्मत परिभाषा उपलब्ध नही। विद्वानो ने समस्याओं पर सदैव अपने-अपने दृष्टिकोणो से विचार किया है। डॉ० जॉनसन ने निबन्ध को 'मस्तिष्क की स्वच्छन्द उद्भावना तथा अनियमित एवं असम्बद्ध रचना'[1] कहा है। इस कथन से स्पष्ट है कि वे उसे नियमबद्ध एवं व्यवस्थित कृति नही मानते। किन्तु बेकन ने ऐसे निबन्ध लिखे है, जिनमे व्यवस्था और बुद्धि तत्त्व की प्रधानता है, अर्थात् उनके निबन्ध नियमित और शृखलाबद्ध है। मरि के अनुसार निबन्ध किसी विषय-विशेष पर अथवा उसकी किसी शाखा पर ऐसी रचना है जो न अधिक विस्तृत हो और न अधिक संक्षिप्त ही।

जॉनसन ने निबन्ध को, जैसा कि हम ऊपर कह चुके है, 'लूज सैली आव द माइंड' अर्थात् मस्तिष्क का अनियमित और उन्मुक्त धावन बताया है। किन्तु यह तो पहले की बात है। अब तो, जैसा कि मरि की परिभाषा मे सकेत है, उसमे सीमा-बद्धता आवश्यक है। यह सीमाबद्धता विषय और विस्तार दोनों की ही होती है।[2] यह वह गुण है जो उसे महाकाव्य का रूप धारण करने से बचाता है।

डॉ० गुलाबराय के शब्दो मे 'निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते है, जिसमे एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो'।

लक्षण

निबन्ध में आत्माभिव्यंजन की प्रधानता होती है। उसमे ऐसे विषयों पर भी रचना हो सकती है, यथा. क्यो ?, कुछ नहीं (नथिङ्), आँसू, दु:ख, सुख। अतएव निबन्ध में असीम विविधता हो सकती है। आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त उसमे वैज्ञानिक तटस्थता से किसी विषय का बौद्धिक विवेचन भी हो सकता है। अतएव निबन्ध गम्भीर हो सकता है और उथला भी। निबन्ध-लेखन मे समास शक्ति की, (अर्थात्

---

१. A loose sally of mind, an irregular indigested piece, not a regular and orderly performance.

२. A composition of immoderate length on any particular subject or branch of subject originally implying want of finish, 'an irregular indigested piece', but now said of a composition more

बड़ी बात को थोडे शब्दों मे कहने की कुशलता की) आवश्यकता पडती है, जिसके कारण पाठक को आह्लाद प्राप्त होता है। यदि लेखक को अपने विषय पर अधिकार है तो वह अपने निबन्ध मे सघति (कॉम्पैक्टनैस) और परिपूर्णता (थोरोनैस) के सुचारु संयोग का परिचय दे सकता है।

जब पाठक किसी संक्षिप्त निबन्ध को पढ़ता है तो उसके मन मे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि लेखक ने अपने निबन्ध को इतने संक्षिप्त रूप में क्यो उपस्थित किया—क्या उसका विषय-ज्ञान सीमित है ? अथवा क्या वह अपने विस्तीर्ण ज्ञान को सक्षेप से कह देने मे कुशल है ? अतएव निबन्धकार के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी बात को सक्षेप मे व्यक्त करे, किन्तु साथ ही उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि पाठक को यह आभास न हो कि लेखक का विषय-ज्ञान सीमित है। निबन्ध लिखना 'गागर में सागर को भरना' है।

ऊपर कहा जा चुका है कि निबन्ध मे आत्माभिव्यक्ति होती है और वैज्ञानिक विवेचन भी। प्रगीत मे आत्मतत्त्व की उन्मुक्त अभिव्यंजना रहती है, इसी प्रकार की आत्माभिव्यंजना निबन्ध की भी विशेषता हो सकती है। किन्तु निबन्ध वस्तु-परक भी हो सकता है।

अतएव निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि प्रथमतः, निबन्ध साधारणतः गद्य में और अपेक्षाकृत छोटे आकार का होता है। यह आवश्यक नही कि वह गद्य मे ही हो, क्योकि एलेग्जेण्डर पोप का 'ऐस्से ऑन मैन' और महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'हे कविते' पद्यात्मक निबन्ध है। द्वितीयतः, निबन्ध मे वैयक्तिकता की छाप रहती है। तृतीयतः, वह छोटे आकार का होते हुए भी स्वतः पूर्ण, और चतुर्थतः साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक सजीव होता है।[1]

कहानी और निबन्ध

निबन्ध मे विचार की अभिव्यक्ति सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, काव्य के अन्य तत्त्व उसके सहायक अथवा पोषक रूप से उपस्थित रहते है। कहानी मे भी विचार का संप्रेषण रहता है, किन्तु वह सप्रेषण भाव और सरलता के माध्यम से होता है। निबन्ध और कहानी दोनों मे ही नुकीलापन (पॉइंटैडनैस) होता है, अर्थात् इन दोनों में किसी एक प्रमुख बात की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति होती है। निबन्ध मे लेखक वस्तु का विश्लेषण करता है, अर्थात् वह किसी एक वस्तु के अंग-प्रत्यंगों का विशद और गंभीर विवेचन उपस्थित करता है। परन्तु कहानी में कहानीकार सौदर्य-सर्जन के लिए

१. काव्य के रूप, पृष्ठ २३४-३५

संश्लेषण का उपयोग और विभिन्न प्रतीतियो मे सामञ्जस्य की उत्पत्ति करता है। कहानी और निबन्ध की समस्याएँ समान हो सकती है, यथा समाज-सुधार सम्बन्धी अभिव्यक्ति तर्क-निष्ठ निबन्ध के द्वारा अथवा मनोहारिणी कहानी के द्वारा सभव है। कुतूहल को बनाए रखना कहानी-कला का आवश्यक गुण है, इसके कारण वह लोक-प्रिय बनती है, और यह गुण निबन्ध के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि अच्छे-से-अच्छा तर्कपूर्ण निबन्ध इस गुण के बिना नीरस, अतएव अनाकर्षक लगता है।

तत्त्व

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि कहानी के तीन विशेष तत्त्व है—अन्विति, आत्माभिव्यक्ति और कलात्मकता।

१ **अन्विति**—ऊपर कहा जा चुका है कि निबन्ध मे विश्लेषण होता है, अर्थात् गुणो को खण्डश. देखा जाता है। हम ताजमहल को दूर से समग्र-रूप में देखते, तदनन्तर उसकी छत, दिवाल, गुम्बद, मीनार आदि का खण्डश परीक्षण करते और अन्त में खण्ड-परीक्षण के पश्चात् विदा होते समय ताजगहल का पुन. दर्शन कर लेते है। यही बात निबन्ध मे होती है। निबन्ध-लेखक को अपने विषय पर अधिकार होता है। वह उस समष्टि का विश्लेषण खण्डशः करता और अन्त मे उन खण्डानुभूतियो का (अथवा तत्सम्बन्धी खण्डाभिव्यक्तियो का) समन्वय उपस्थित करता है। गीता मे उस ज्ञान को सतोगुणी बताया है, जो विभक्तों मे अविभक्त का दर्शन करता है—'अविभक्त विभक्तेषु'। एकसूत्रता के छिन्न-भिन्न हो जाने से विषय बिखर जाता है और वह असम्बद्ध घटाटोप-सा प्रतीत होता है।

२. **आत्माभिव्यंजना**—निबन्ध मे आत्मतत्त्व की प्रधानता है। अतएव निबन्ध-लेखक की रचना मे उसके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप विद्यमान रहती है। क्या भाषा-शैली, क्या भाव-प्रवणता सभी पर उसकी मुद्रा लगी होती है। यदि पाठक को यह न बताया जाय कि अमुक गद्य- खड पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का है अथवा डॉ० श्याम-सुन्दरदास का, तो भी वह पाठक जो इन दोनों की शैलियो से तनिक भी परिचित है तुरन्त बता देगा कि अमुक पक्तियाँ आचार्य शुक्ल की है और अमुक पक्तियाँ डॉ० दास की है। व्यक्तित्व क्या है ? मनोविज्ञान की दृष्टि से सवेदन, सवेग, सकल्प, अभ्यास, चरित्र, बुद्धि आदि की समष्टि को व्यक्तित्व अथवा पर्सनैलिटी कहते है। लेखक की क्या अनुभूतियाँ है, जीवन और जगत् के प्रति इसका क्या दृष्टिकोण है ? कौन-सी बाते उसे अच्छी लगती है ? किन-किन बातों से उसे घृणा है ? वह हँसमुख है या मोहर्रमी ? बातचीत करने का उसका क्या ढग है ? उसका शब्द-चयन कैसा है अर्थात्

कौन-से शब्द उसे अधिक प्रिय है ? आदि सभी बाते किसी लेखक के व्यक्तित्व की ओर इंगित करती है । यद्यपि वह अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त तो सदा करता रहता है, तथापि उसको गाता नही डोलता; वह तो आत्मविभोर होकर पाठक से आत्मीयता स्थापित करता है । अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबन्धकार चार्ल्स लैम ने एक जगह लिखा है कि मै तो अपने पाठकों से बातचीत करता हूँ । निबन्धकार और पाठक मे प्रत्यक्षता (डाइरेक्टनैस) वह सामान्य तत्त्व है जो निबन्ध को अन्य गद्य-साहित्य से पृथक् करता है । इसे निबन्ध का व्यावर्त्तक गुण (डिफ्रेशिया) समझना चाहिए ।

३. **कलात्मकता**—निबन्ध का तीसरा गुण कलात्मकता है । निबन्ध-लेखन कला है, क्योकि निबन्ध काव्य है और काव्य कला है । अतः निबन्ध में वे सभी विशेषताएँ होनी चाहिए जो काव्य-कला मे होती है । यह छोटे से कलेवर में ही पाठक को रस मग्न कर देता है ।

प्रकार

निबन्ध के विषय अनेक प्रकार के और अगणित हो सकते है । अतएव उनके भेद-प्रभेद भी अगणित है । व्यावहारिक दृष्टिकोण से निबन्ध तीन प्रकार के माने जा सकते है—१. विचारात्मक, २. भावात्मक, ३ वर्णनात्मक । काव्य के तीन तत्त्व होते है—बुद्धि, भाव, और कल्पना । इन्ही के तारतम्य से उपर्युक्त त्रिविध विभाजन समीचीन प्रतीत होता है । दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि विचारात्मक निबन्धो मे बुद्धि के अतिरिक्त भाव और कल्पना भी होगे, किन्तु अपेक्षाकृत कम । इसी भाति भावात्मक प्रकार मे भाव की अधिकता होगी, किन्तु विचार और कल्पना की अपेक्षाकृत न्यूनता, और वर्णनात्मक प्रकार मे कल्पना की अधिकता तथा विचार-भाव की अपेक्षाकृत न्यूनता होती है । काव्य का चौथा तत्त्व है शैली, जो सभी प्रकारो मे सामान्य रूप से विद्यमान रहता है ।

१—**विचारात्मक** (रिफ्लेक्टिव)—विचारात्मक निबन्ध का विषय कोई ऐसी समस्या होती है जिसका सम्बन्ध समाज, धर्म, राजनीति, सस्कृति या साहित्य से होता है । निबन्धकार किसी समस्या पर अपने विचार अपने दृष्टिकोण के अनुरूप तर्कयुक्त एवं क्रमबद्ध ढंग से प्रस्तुत करता है । विचारात्मक निबन्ध का विषय प्राय. गम्भीर होता है और विषय की गम्भीरता के कारण भाषा भी गंभीर (अर्थात् क्लिष्ट और कठिन) हो जाती है । ऐसा होना स्वाभाविक ही है, क्योकि सरल विषयों की अभिव्यक्ति सरल और क्लिष्ट विषयो की भाषा कठिन होती है । विचारात्मक निबन्ध कई प्रकार के होते है, यथा आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, विवेचनात्मक । विचारात्मक निबन्ध ऐसे व्यक्तियो के लिए लिखे जाते है, जिनका बौद्धिक स्तर इतना

ऊँचा हो कि वे प्रतिपादित विषय को सागोपाग समझ सके। निबन्ध का यह प्रकार विश्लेषण-प्रधान है। अतएव उसमे सरसता का बनाये रखना दुष्कर होता है। हलका साहित्य (लाइट लिट्रेचर) पढ़ने वाले उसमे रुचि नही लेते। इसलिए यह आवश्यक है कि निबन्ध मे शब्दो का शुद्ध प्रयोग हो और एकरूपता आद्यन्त उपस्थित रहे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल विचारात्मक निबन्ध लिखने के लिए अत्यन्त विख्यात है, उनके अनुसार 'शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का उत्कर्ष वही कहा जा सकता है, जहाँ एक-एक पैराग्राफ मे विचार दबा-दबाकर कसे गये हो और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड के लिए हो'।

२—**भावात्मक** (इमोशनल)—भावात्मक निबन्धो मे भाव की महत्ता और विचार की गौणता होती है। लेखक चाहता है कि वह अपनी सरस अनुभूति को पाठक के मन तक पहुँचादे। भावातिरेक के कारण मनोवेगो मे तीव्रता और बुद्धि नियंत्रण मे शिथिलता उत्पन्न होती है। भावातिरेक के कारण वाक्यो मे वह सहति नही रहती, जो विचारात्मक निबन्धो मे आवश्यक है। आज का युग बुद्धि-प्रधान है, इसलिए भावात्मक निबन्ध उतने अधिक लोक-प्रिय नही हो पाते।

३—**वर्णनात्मक** (डिस्क्रिप्टिव)—ये निबन्ध कल्पना-प्रधान होते है। इनमे वर्णन की अधिकता रहती है। यह वर्णन किसका है—वस्तु, व्यक्ति या व्यापार का ? इतिवृत्तात्मक होने के कारण इसमे नीरसता की आशका रहती है। कुछ विद्वानो ने 'विवरणात्मक' (नैरेटिव) नाम का एक अन्य निबन्ध-प्रकार सुझाया है, किन्तु वस्तुतः 'वर्णनात्मक' और 'विवरणात्मक' मे कोई अन्तर नही, यदि है भी तो केवल इतना कि वर्णनात्मक में जो वर्णन होता है उसका रूप अपेक्षाकृत स्थिर, और विवरणात्मक वर्णन का रूप गतिशील होता है। यदि पहले मे वस्तु, व्यक्ति या व्यापार का वर्णन होता है तो दूसरे मे यात्रा आदि का। निबन्ध को रुचिकर बनाने के लिए यह उचित प्रतीत होता है कि लेखक अपने वर्णन को सजीव और सागोपांग बनाये और उसे इस रूप मे उपस्थित करे कि उसके द्वारा पाठक के ज्ञान की वृद्धि हो और साथ ही वर्ण्य-विषय उसकी कल्पना के सम्मुख सजीव होकर नृत्य करने लगे। वर्णन करते समय क्या ग्रहण करना चाहिए, क्या छोड देना चाहिए, इस बात का ज्ञान लेखक को होना चाहिए और उसमें ऐसी समझ भी होनी चाहिए कि वह अपनी रचना में उन्ही बातो का समावेश करे जो पाठक को आकृष्ट कर सके। इस निमित्त निबन्धकार प्रवाह-शैली का उपयोग कर सकता है। कुछ विद्वानों ने 'कथात्मक' नाम का एक और निबन्ध-प्रकार सुझाया है। किन्तु वह भी वस्तुतः वर्णनात्मक है, क्योकि उसमे लेखक युद्ध, शिकार अथवा अन्य किसी मनोरंजक आपबीती या परबीती घटना का वर्णन

करता है। ऐसे वर्णन मे विश्लेषण के स्थान पर कथात्मकता रहती है, और आलकारिक भाषा के उपयोग से वर्णन सुन्दर और कहानी-जैसा सरस हो जाता है।

शैली

निबन्ध में शैली की बड़ी आवश्यकता है। इसकी महत्ता इस कारण है कि निबन्ध में विषय का बहुत महत्त्व नही होता। उसका विषय छोटे से लेकर बड़े तक हो सकता है—चीटी से लेकर हाथी तक। चाकू, कलम, भैसा-गाडी आदि से लेकर चन्द्रलोक की यात्रा, गगन-मण्डल आदि विषय हो सकते है। यदि निबन्ध में विषय की महत्ता नही, तो किसकी है? इस प्रश्न का उत्तर है कि कथन की, वर्णन की, अभिव्यक्ति की अर्थात् शैली की। शैली साहित्य का कलापक्ष है। वह उसका बाह्य-रूप है। सुन्दरता उसका परिधान है। वाक्य-रचना, शब्दावली और विचारधारा पर निबन्धकार की निजी छाप होती है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति मे नाक, कान, आँख, हाथ और पैर समान होते हुए भी भिन्न होते है (और जिस विभिन्नता के कारण एक व्यक्ति दूसरे से पहचान लिया जाता है), उसी प्रकार प्रत्येक निबन्धकार कुछ न कुछ निजी विचारों, शब्दो और वाक्यों का प्रयोग करता है। यदि इस प्रयोग पर निबन्धकार की निजी छाप नही, तो वह निबन्धकार कुशल नही कहलायगा। इसीलिये कहा जाता है कि 'स्टाइल इज द मैन' अर्थात् शैली ही व्यक्ति है।

शैलियाँ दो प्रकार की होती है—समास-शैली और व्यास-शैली। समास-शैली मे कथन संक्षिप्त, किन्तु प्रभावशाली होता है। यह शैली विचारात्मक निबन्धो के लिए अधिक उपयुक्त है, यद्यपि व्यास-शैली मे भी इस प्रकार के निबन्ध लिखे गये है। समास-शैली का प्रयोग करते समय लेखक यह मान लेता है कि पाठक का बौद्धिक स्तर मेरे ही समान है। व्यास-शैली मे लेखक अपने भाव-विचार को विस्तार से उस प्रकार उपस्थित करता है, जिस प्रकार अध्यापक अपने छात्रों को यह समझ कर पढ़ाता है कि इनका बौद्धिक स्तर मेरे बौद्धिक स्तर से नीचा है। अतएव वह वर्ण्य-विषय की छोटी से छोटी बातो को भी बढा-चढा कर समझाता है। व्यास-शैली समास-शैली की अपेक्षा सरल होती है, इसका प्रयोग प्राय: वर्णनात्मक निबन्धों के लिए किया जाता है। भावात्मक निबन्धो मे उक्त दोनो शैलियो का उपयोग होता है, क्योकि मनोवेगो की तीव्रता के कारण लेखक कम बोल और लिख सकता है। अतएव वह मुक्तकों के माध्यम से अपने मन के रहस्य को अथवा अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त कर देता है; और जब उसके भाव प्रदीप्त होकर प्रवाहित होने लगते है तो वह व्यास-शैली मे अपनी आन्तरिक अनुभूतियो को प्रकट करता है। 'निबन्धों मे प्राय. तीन प्रकार की शैलियाँ होती है—धारा-शैली अथवा प्रवाह-शैली; तरङ्ग-शैली (जिसमे भाव

लहरो की भाँति उठते-गिरते प्रतीत होने है), और विक्षेप-शैली (जिममे वह कुछ उखडी हुई-सी रहती है)।[1]

निबन्ध-विकास

निबन्ध आधुनिक युग की देन है। राष्ट्रीय जागरण, मुद्रणकला, समाचार पत्र, गद्य-रुचि, अग्रेजी-साहित्य का सम्पर्क—इन सबके कारण हिन्दी-निबन्ध का विकास हुआ है। इस विकास के तीन विभाजन हो सकते है।

(क) प्रथम उत्थान मे पत्र-पत्रिकाएँ सहायक थी, जिनके माध्यम से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी, अम्बिकादत्त व्यास ने अपनी प्रतिभा को अभिव्यक्त किया। इनके निबन्धो ने मनोविनोद किया और तत्कालीन समाज को नैतिक और राजनीतिक जीवन को उच्च बताने की प्रेरणा प्रदान की। इनकी शैली हास्य, व्यग्य एवं विनोद से परिपूर्ण है और इसमे ऐसे विषयो का चित्रण है, यथा. जीवन-चेतना, समाज-सुधार, राष्ट्र-प्रेम, देशभक्ति। उन्होने अतीत गौरव को गाया और विदेशी शासन की कटु-मधुर आलोचना की। यद्यपि इनकी भाषा मे व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियाँ मिलती है, तथापि मुहावरो, लोकोक्तियो, तद्भव-तत्सम और अरबी-फारसी शब्दो के द्वारा भाषा सरस बनी है।

(ख) हिन्दी निबन्ध के द्वितीय उत्थान के प्रवर्त्तक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। द्विवेदीजी ने सरस्वती-सम्पादक के रूप मे अनेक प्रकार के लेख लिखे और अनेक प्रकार की शैलियों का प्रवर्त्तन किया, बेकन के निबन्धों का अनुवाद किया और भारतीयो को हिन्दी लिखने की प्रेरणा प्रदान की। वे भाषा-सस्कार के प्रति बडे सजग थे। माधवप्रसाद मिश्र, गणेशशकर विद्यार्थी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, सियारामशरण गुप्त, गोपालराम गहमरी आदि अनेक निबन्धकार उल्लेखनीय है। द्विवेदी-युग सस्कृति के पुनरुत्थान का युग था। अतएव इस काल मे हास्य-विनोद की न्यूनता, किन्तु विषय-विविधता, विचार-गभीरता और भाषा-विशदता की अधिकता उपलब्ध होती है। इस युग के प्रधान विषय थे सस्कृति, मनोविज्ञान, स्वप्न-कथा, जीवन-चरित, आत्म-कथा, समीक्षा, गम्भीर विचार, ओजपूर्ण भाव और प्रवाहपूर्ण वर्णन। द्विवेदीजी के सन्देश को डॉ० श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० गुलाबराय आदि विचार-शील विद्वानो ने प्रसारित किया। इनके अतिरिक्त माखनलाल चतुर्वेदी, इलाचन्द्र जोशी, जयशकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० नगेन्द्र विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

---

१. काव्य के रूप, पृ० २४१

(ग) तृतीय उत्थान स्वतन्त्रता-प्राप्ति से प्रारम्भ होता है। इसकी प्रगति पुन: व्यक्ति-प्रधानता की ओर हुई। निबन्ध का आकार लघुतर हो रहा है और भाषा बोलचाल की सी सरल, जिसमे तद्भव और देशी शब्दो का बहुल प्रयोग होता है। इस उत्थान की अनेक कोटियाँ है, यथा विचार-प्रधान गद्य, गीतात्मक, भाव-प्रधान, प्रतीकात्मक, मनोवैज्ञानिक, कथात्मक-सस्मरणात्मक, हास्य-व्यग्यात्मक।

यूरोप में निबन्ध का आविर्भाव बहुत पहले हो चुका था। फ्रास के माइकल ईक्वम द मौटेन सर्वप्रथम निबन्धकार है, जिन पर यूनानी प्लूटार्क और सिनिका का प्रभाव था। मौटेन का यश उनके निबन्धो के कारण विशेष रूप से है, जिनका अनुवाद फ्लोरिग्रो ने किया था। सोलहवी शताब्दी के निबन्धकार लॉर्ड फ्रासिस बेकन, सत्रहवी शती के एब्रहम काउलि, विलियम टैपिल प्रसिद्ध है। निबन्धो मे वैयक्तिकता के विकास मे 'टैटलर' और 'स्पैक्टेटर' नामक समाचार पत्रो ने बहुत कुछ सहयोग दिया। सत्रहवी शती के जौसफ एडिसन, सर रिचॉर्ड स्टील, अठारहवी शती के डॉ० जॉनसन, अलिवर गोल्डस्मिथ, उन्नीसवी शती के मैकॉले, कार्लाइल, मैथ्यू आरनोल्ड, हैजलिट, रस्किन, थैकरी, हक्सलि, जौन स्टुवर्ट मिल, हर्बर्ट स्पेसर, रैफ वैल्डो इमरसन, जी. के. चेस्टरटन और एच. जी. वेल्ज अधिक प्रसिद्ध है।

———

रूपक

प्राक्कथन

'नाटक' रूपक का एक भेद है, यद्यपि इस शब्द का प्रयोग 'रूपक' के ही अर्थ मे होने लगा है। रूपक मे नायक-नायिकाओ के रूप का आरोपण अभिनेताओ और अभिनेत्रियों पर होता है। धनञ्जय ने 'दशरूपक' मे बताया है कि रूपक वह अभिनय-पूर्ण आयोजन है, जिसके द्वारा लोक-परलोक की घटित-अघटित घटनाओ का दृश्य दिखाया जाता है। उनके शब्द है· 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यं···रूपकं तत्समारोपाद् (१,७)। जैसा कहा जा चुका है रूपक के दस भेद होते है—नाटक (जिसकी चर्चा आगे की जायगी), प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अक और ईहामृग।

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोग-समवकारौ वीथ्यिंकेहामृगा इति ॥ द० रू० १,८

प्रकरण

'प्रकरण' की कथावस्तु कवि-कल्पित होती है। भरत मुनि के अनुसार (२०,४६-६५) प्रकरण भी नाटक की भाँति रस के आश्रित रहता और पंच संधियो से युक्त होता है। इसमे विप्र, वणिक, सचिव, पुरोहित, अमात्य, सार्थवाह के चरितों का वर्णन होता है; परन्तु इसके नायक का चरित्र न दिव्य होता है, न उदात्त, इसमे तो दास, विट, वेश्या, हीन-कुल वधू का चरित्र होता है। इसके जिस अंक मे मन्त्री, श्रेष्ठी, ब्राह्मण, पुरोहित, अमात्य अथवा सार्थवाह की घरेलू बात हो, उसमे वेश्या का प्रवेश निषिद्ध है और जिस अक मे वेश्या के साथ कोई पुरुष दिखायी पड़े, उसमे कुलवधुओं का प्रवेश वर्जित है।

भाण

'भाण' नामक एकांकी दो प्रकार का होता है—आत्मानुभूतशंसी और परशंसय-वर्णन। पहले मे कला-निपुण धूर्त्त या विट किसी धूर्त्त अथवा विट की अनेक प्रकार की अवस्थाओ का वर्णन अपने अनुभव के आधार पर करता है; दूसरे मे वह अन्य व्यक्ति के कार्यो के बारे मे सुनी-सुनायी बातो को प्रकट करता है (ना० शा० २०, १११-११४)। भाण मे केवल एक पात्र होता है और वह 'आकाश भाषित' के द्वारा वीर अथवा शृगार रस की घटनाओ को प्रदर्शित करता है। इसमे भारती वृत्ति,

अंगों के सहित मुख्य या निर्वहण संधि, कल्पित वस्तु और लास्य के दस अंग होते हैं (द०रू० ३,४६-५१)। धूर्त्तता-परक होने के कारण 'भाण' का आदर विद्वत्समाज में नहीं हो सका।

प्रहसन

यह रूपक भाण से मिलता-जुलता है। भरत मुनि के अनुसार (२०,१०६-११०) इसके दो भेद होते है—'शुद्ध प्रहसन' और 'सकीर्ण प्रहसन'। 'शुद्ध प्रहसन' का नायक पाखण्डी और जाति-प्रताप से पूज्य, किन्तु नीच प्रकृति वाला, चेट, चेटी एवं विट से घिरा हुआ व्यक्ति, वेश और भाषा मे उन्ही के समान चेष्टा और उपहासास्पद व्यवहार करने वाला होता है। 'सकीर्ण प्रहसन' मे वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, धूर्त्त, बन्धकी (दुराचारिणी) के अशिष्ट वेश, भाषा और चेष्टाओ का अभिनय होता है, यथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'अंधेर नगरी' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'। डॉ० गुलाबराय के अनुसार 'प्रहसन' मे तीन बातें आवश्यक है—१—अंक, २—मुख और निर्वहण संधियाँ और ३—हास्य रस की प्रधानता।

डिम

'डिम' में चार अंक, सोलह नायक और रौद्र रस की प्रधानता रहती है। उसमें देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और महासर्प नेता; और भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह पात्र अत्यन्त उद्धत होते है तथा माया, इन्द्रजाल, सग्राम, क्रोध, उन्मत्त चेष्टा, सूर्य-ग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि के वर्णन की बहुलता रहती है। (नाट्य शास्त्र २०,८८-९३)

व्यायोग

यह एकांकी है। इसकी घटना की अवधि एक दिन है। इसका नायक राजर्षि (देवता नही) तथा वर्ण्य-विषय व्यक्तिगत सघर्ष अथवा पूर्ण युद्ध होता है। इसके नायक और इतिवृत्त दोनों ही प्रख्यात होते है। और स्त्री पात्रों की सख्या अल्प होती है। (नाट्य० २०,९४-९७)

समवकार

इसमें तीन अंक, चार सन्धियाँ और देवासुरों से सम्बन्ध रखने वाली इतिहास-पुराण-प्रसिद्ध कथा होती है। (नाट्य० २०,६५-८१)

वीथी

भरत मुनि के अनुसार (२०,११५-१३५) इस एकांकी का अभिनय दो या एक पात्र के द्वारा होता है जो उत्तम, मध्यम अथवा अधम कोटि के होते है। इसमें किसी भी रस की अभिव्यक्ति हो सकती है।

अंक

'अंक' को 'उत्सृष्टिकांक' भी कहते है। भरत के अनुसार (२०,१४-३१) इस एकांकी का इतिवृत्त प्रख्यात, किन्तु कभी-कभी अप्रख्यात भी होता है। इसमें युद्धोपरान्त स्त्रियों के विलापादि द्वारा करुण रस की प्रधानता रहती है, क्योंकि इसमें युद्ध, बन्ध और बध आदि एक दिन के कार्य का वर्णन होता है। सस्कृत में भास का 'ऊरुभंग' इसका उत्तम उदाहरण माना गया है।

ईहामृग

भरत के अनुसार (२०,८२-८७) इसमे किसी दिव्य नारी के लिए, अत्यन्त आवेग के कारण, युद्ध का प्रसग पूर्ण रूप से उपस्थित तो होता है, परन्तु वह किसी न किसी कारण टल जाता है। इसका इतिवृत्त इतिहास-कल्पना-मिश्रित तथा नायक अथवा प्रतिनायक दिव्य पुरुष होता है। किन्ही विद्वानो के अनुसार ईहामृग मे चार अंक आवश्यक नहीं, उसमे एक अंक भी हो सकता है। 'कुसुम शेखर' ईहामृग का अच्छा उदाहरण है, किन्तु हिन्दी में इसका कोई उदाहरण उपलब्ध नही।

उपरूपक

उपरूपक नृत्य के भेद हैं। इनका स्पष्ट उल्लेख नाटक के प्रारम्भिक आचार्यों ने नहीं किया; न भरत ने, न धनञ्जय ने। सत्रह उपरूपकों के नाम अग्निपुराण में है, किन्तु न तो उनके लिए उपरूपक शब्द का प्रयोग किया गया है और न उनके लक्षण अथवा उदाहरण दिये गये है। अभिनवगुप्त ने आठ उपरूपकों का उल्लेख तो किया, किन्तु उनका विवेचन नही किया। हेमचन्द्र ने इनके अतिरिक्त दो नाम और सुझाये हैं। रामचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' में तेरह उपरूपको का नामोल्लेख किया है और शारदातनय ने अपने 'भाव-प्रकाश' में बीस उपरूपको की व्याख्या की है। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' मे अठारह उपरूपको के नाम दिये है, जो आजकल सर्वमान्य समझे जाते है। वे ये है—नाटिका, तोटक (त्रोतक), गोष्ठी, सट्टक, नाट्य रासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश, भाणिका। भरतमुनि ने नाटि नाम से 'नाटिका' का उल्लेख किया है, जिसकी उत्पत्ति नाटक और प्रकरण के योग से हुई है।

भरतमुनि ने उपरूपकों का उल्लेख क्यो नहीं किया, इस विषय मे रामस्वामी शास्त्री का मत है कि उस समय नृत्यरूपकों का विकास नही हो पाया था। "भरत ने जिन नृत्य-प्रकारो का वर्णन किया है, उनमें से कतिपय कोहल तक उपरूपक की

स्थिति तक पहुँच रहे थे। अत· कोहल तथा अन्य व्याख्याकारों ने उपरूपकों की सृष्टि की। हर्ष की त्रोटक नामक उपरूपक की व्याख्या ने, जिसका उल्लेख शारदा-तनय ने बारहवी शताब्दी मे किया, इस तथ्य की साक्षी दी है कि हर्ष के समय में उपरूपकों का सृजन हो चुका था ···· विश्वनाथ के युग में यह नृत्य पर अवलम्बित प्रबन्ध इतने प्रेक्षणीय और प्रिय बन गये कि आचार्यों ने इन्हे उपरूपक नाम से विभूषित किया है।" [१]

हिन्दी मे उपरूपको का प्रचलन नही, क्योकि, जैसा कि गुलाबराय कहते है, हिन्दी-नाट्यकारो को उपरूपको की आवश्यकता प्रतीत नही हुई।

———

१. नाट्य-समीक्षा (डा० दशरथ ओझा), पृ० २८-२९.

नाटक

प्राक्कथन

इस अध्याय के प्रारम्भ मे कहा जा चुका है कि काव्य के दो रूप होते हैं—श्रव्य और दृश्य। दृश्यकाव्य को रूपक कहते है जिसके उक्त दस भेद होते हैं। नाटक भी रूपक के दस भेदों में से एक है। यद्यपि साधारणत: आजकल नाटक और रूपक पर्याय समझे जाते है। 'नाटक' का सम्बन्ध तीन शब्दो से है—नट, नृत्य, और नृत्त। इनमें से 'नट' सबसे अधिक व्यापक है, उससे कम 'नृत्य', और उससे कम 'नृत्त'। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'नट' मे 'नृत्य' का और 'नृत्य' मे 'नट' का समावेश है। यद्यपि नाटक मे तीनों ही साधारणत: विद्यमान रहते है, तथापि यह सर्वदा आवश्यक नहीं कि उसमें 'नृत्य' और 'नृत्त' भी हों। धनञ्जय के अनुसार 'नाटक' रस के, 'नृत्य' भाव के और 'नृत्त' ताल-लय के आश्रित रहता है।

रसाश्रयम् ।१,७। भावाश्रयं नृत्यम् । १,८।
नृत्तं ताललयाश्रितं (१,९)

परिभाषा[1]

भरतमुनि ने नाटक की परिभाषा इस प्रकार दी है. 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यभावानुकीर्त्तनम् (ना० शा, १, १०४) अर्थात् नाटक तीनों लोको के भावो का अनुकरण है। इस परिभाषा को कुछ और विस्तृत रूप से इस प्रकार दिया गया है :

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।१,१०८
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥ १०९

इन शब्दों से स्पष्ट है कि नाटक ऐसे लोकवृत्त का अनुकरण है जो नाना भावों और नाना अवस्थाओ से सम्पन्न होता है। 'दशरूपक' मे धनंञ्जय के शब्द है 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' १,७; अर्थात् अवस्था की अनुकृति को नाटक कहते है। अवस्था का तात्पर्य मन तथा शरीर की वृत्तियो तथा दशाओ से है, यथा बाल्यावस्था, युवावस्था, तरुणावस्था, वृद्धावस्था। मानव-जीवन की किसी भी अवस्था का अनुकरण हो सकता है। महिम भट्ट का वचन है।

अनुभाव विभावानां, वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु, नाट्यं गीतादिरंजितम्॥

अर्थात् विभावादि के वर्णन को काव्य कहते है और नृत्य-संगीत आदि से रंजित विभावादि के प्रयोग को नाटक कहते है। आचार्य सागरनन्दी कहते हैं :

अवस्था यातु लोकस्य सुख-दुःख-समुद्भवा।
तस्यास्त्वभिनयः प्राज्ञैः नाट्यमित्यभिधीयते॥

अर्थात् इस लोक के सुख-दु ख से उत्पन्न अवस्था के अभिनय को नाटक कहते है। इसी भाव को भरत इस प्रकार अभिव्यक्त कर चुके थे :

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुख-दुःख समन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते॥

अर्थात् लोगों का सुख-दु.ख-युक्त जो स्वभाव होता है, अंगों के द्वारा उसके अभिनय को नाटक कहते है। इस प्रकार भरत, धनञ्जय, महिम भट्ट, सागरनन्दी के शब्दों से यह स्पष्ट है कि नाटक अनुकरण (अथवा अनुकृति) होता है। अरस्तू ने भी त्रासदी को अनुकृति माना है, यद्यपि अनुकृति के पूर्वी-पश्चिमी रूपो में अन्तर है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

आधारभूत प्रवृत्तियाँ

'अनुकृति' और 'अनुकरण' दोनों समानार्थ है। अभिनय अनुकृति का ही विशिष्ट और कलात्मक रूप है। अभिनय चार प्रकार का होता है—आगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। अरस्तू ने भी कला को अनुकृति माना है। अनुकृति के अतिरिक्त सामाजिकता और आत्माभिव्यक्ति दो और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ कही जा सकती है, जिनका निरूपण पंचम अध्याय मे हो चुका है।

नाटक की महत्ता

नाटक को पंचम वेद माना गया है। भरतमुनि कहते है :

न वेदव्यवहारोऽयं, श्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम्॥ना० शा० १,१२

अर्थात् प्राचीनकाल मे वेद की बातें शूद्रों के लिए सुलभ न थीं। इसीलिए नाटक नाम का यह पाँचवा वेद सब वर्णों के लिए रचा गया। जिस प्रकार वेदों के पढ़ने से ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार नाटक के देखने के साथ ज्ञान की भी प्राप्ति होती थी। द्वितीयतः, नाटक सब काव्यों में रम्य है : 'काव्येषु नाटकं रम्यम्'। श्रव्यकाव्यो के सुनने अथवा पढ़ने से बड़ा आनन्द आता है। पाठक कहानी और उपन्यासों में कभी-कभी इतने तल्लीन हो जाते हैं कि वे भोजन-स्नान आदि करना भी भूल जाते हैं। तृतीयतः, नाट्यकला सब कलाओं में श्रेष्ठ है। कलाओं में

ललित कलाएँ, ललित कलाओं में काव्य और काव्यों में भी नाटक श्रेष्ठ है। भरतमुनि का वचन है :

न तज् ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ॥१,११३
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ॥ १,११४
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ॥ १,११५

अर्थात् ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग अथवा कार्य नही, जो नाटक मे विद्यमान नही होता। उसमें सभी शास्त्र, सभी शिल्प और सभी प्रकार के कर्म एकत्र रहते है। यह बात है भी ठीक, क्योकि नाटकों के द्वारा साधारण से साधारण एव गूढ़ से गूढ़ ज्ञान रंगमच से प्रदान किया जा सकता है। उदाहरण रूप से माया मछन्दर (मत्स्येन्द्र) में अद्वैत की अभिव्यक्ति प्रकट की गयी है। नाट्यशाला के निर्माण के लिए स्थापत्य और शिल्प की आवश्यकता पडती है। उसकी यवनिकाओ के चित्रण के लिए चित्रकला की आवश्यकता पडती है। अभिनय में नृत्य, सगीत और काव्य की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार नाटक मे सभी कलाओं की समवेत रसात्मक अभिव्यक्ति होती है। ऐसी समवेत अभिव्यक्ति किसी अन्य कला मे नहीं हो पाती, इसीलिए कलाओं मे नाटक श्रेष्ठ है। चतुर्थतः, श्रव्य काव्य के सुनने-पढ़ने में कल्पना पर बल देना पडता है, किन्तु दृश्य काव्य में कल्पना पर इतना जोर नहीं पड़ता। इसीलिए यद्यपि श्रोताओ पर श्रव्य काव्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, तथापि नाटक का प्रभाव प्रेक्षकों पर तुरन्त और स्पष्ट पड़ता है। यही नाटक की महत्ता है, जिसकी अनुभूति क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या पढे, क्या बिना पढ़े सभी कर पाते और लाभान्वित होते है।

नाटक के तत्त्व

धनञ्जय ने वस्तु, नेता और रस नाटक के ये तीन तत्त्व माने है : 'वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः।' द० रू० १,११। इनके अतिरिक्त अभिनय भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और डॉ० गुलाबराय ने वृत्ति को पाँचवाँ तत्त्व माना है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के अनुसार नाटक के छः तत्त्व माने गये है—वस्तु, पात्र, कथोपकथन, शैली, उद्देश्य और देशकाल। पूर्वी-पश्चिमी इन तत्त्वों मे पर्याप्त समानता है। जो तत्त्व अभारतीय प्रतीत होते है, उनका भी समावेश भारतीय तत्त्वों में हो जाता है, यथा कथोपकथन का अन्तर्भाव वाचिक अभिनय में, शैली का वृत्ति में, उद्देश्य का रस में और वेश-भूषा का आहार्य अभिनय में हो जाता है।

(अ) कथावस्तु

मूल कथा एवं उससे सम्बन्ध रखने वाली समस्त घटनाओं को कथावस्तु कहते है। पूर्वी और पश्चिमी दोनो ही काव्य-शास्त्रों में यह तत्त्व महत्त्वपूर्ण समझा गया है। अरस्तू ने तो उसे इतना अधिक महत्त्व दिया है कि उसे त्रासदी की आत्मा ही घोषित कर दिया है।

(क) **वस्तु के आधार**—ये तीन होते है : प्रख्यात (ऐतिहासिक), उत्पाद्य (काल्पनिक), एवं मिश्र (ऐतिहासिक एवं काल्पनिक)।

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्व भेदात्त्रैधापि तत् त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितं। द० रू० १,१५
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः। द० रू० १,१६

अरस्तू ने भी कथानक के तीन आधार बताये है—दन्तकथा, कल्पना और इतिहास। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का आधार 'महाभारत' है, जिसमें लिखा है कि लोकापवाद के कारण दुष्यन्त ने शकुन्तला को स्वीकार नहीं किया, किन्तु कालिदास ने अंगूठी की कथा अपनी कल्पना से गढ दी है, जिसके कारण न केवल कथानक में रोचकता आ गयी है, अपितु दुष्यन्त का चरित्र भी ऊँचा उठ गया है।

(ख) **वस्तु के प्रकार**—वस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासंगिक। धनञ्जय के शब्द है· 'तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासंगिकं विदुः।' द० रू० १,११। मुख्य कथा को आधिकारिक कहते है, जिसका सम्बन्ध नायक से होता है। यथा रामायण मे राम की कथा। अमुख्य अथवा गौण कथा को प्रासंगिक कहते है। यह मुख्य कथा की सहायिका और पोषिका होती है। प्रासगिक कथा के दो भेद होते हैं—पताका और प्रकरी। मुख्य कथा के साथ दूर तक चलने वाली कथा पताका कहलाती है। यथा: रामायण में सुग्रीव की कथा; और मुख्य कथा के बहुत कम अंश में व्याप्त रहने वाली कथाएँ प्रकरी कहलाती है। यथा: रामायण में श्रवण और व्याध की कथाएँ।

(ग) **वस्तु के रूप** : अभिनय की दृष्टि से कथा-वस्तु के दो रूप होते हैं—वाच्य और सूच्य। रसहीन एवं रंगमंच के अयोग्य वस्तुओं की केवल सूचना दे दी जाती है, उनका अभिनय नहीं होता। मृत्यु, राष्ट्र-विप्लव, स्नान, भोजन आदि सूच्य विषय है। इनका रंगमंच पर अभिनय नहीं होना चाहिए, किन्तु पश्चिमी काव्य-शास्त्र में ऐसी कोई रोकथाम नही। अत· रंगमंच पर मृत्यु, भोजन आदि का अभिनय कर दिया जाता है। भारतीय प्रणाली अधिक मनोवैज्ञानिक प्रतीत होती है। क्रूरता अथवा छिछोरी बातों के प्रदर्शन से प्रेक्षकों के चरित्र पर दूषित प्रभाव पड़ता है। 'सूच्य' का

पर्याय 'अर्थोपक्षेपक' है, जो पाँच प्रकार का होता है—(क) विष्कंभक—इसके द्वारा अंक के आरम्भ में कथानक की सूचना दी जाती है; इसमे मध्यम श्रेणी के पात्र का होना अनिवार्य है। (ख) चूलिका—नेपथ्य मे स्थित पात्र के द्वारा कथा-वस्तु की सूचना, यथा 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' मे एक स्थान पर हरिश्चन्द्र का मन चंचल हो जाता है। तब नेपथ्य से यह ध्वनि आती है, 'पुत्र हरिश्चन्द्र, सावधान ! यही अन्तिम परीक्षा है। तुम्हारे पुरुषा इक्ष्वाकु से लेकर त्रिशकु पर्यन्त आकाश में नेत्र भरे खड़े एकटक तुम्हारा मुख देख रहे है। आज तक इस वश मे ऐसा कठिन दुःख किसी को नहीं हुआ था। ऐसा न हो, इनका सिर नीचा हो, अपने धैर्य का स्मरण करो'। (ग) अकावतार—पूर्व अंक के अन्त में उसी अंक के पात्रों के द्वारा सूचित किया गया जो अगला अंक अवतीर्ण होता है, उसे अंकावतार कहा जाता है। 'शकुन्तला' नाटक में पाँचवे अंक के अन्त में उसके पात्रों ने पहले से ही छठे अंक की सूचना दी है। (घ) अकास्य—कुछ आचार्य अकास्य को अंकावतार के अन्तर्गत समझते हैं। अकास्य के द्वारा किसी एक अंक के पश्चात् उसी अङ्क के पात्रो के द्वारा किसी छूटे हुए अङ्क की सूचना दी जाती है। (ङ) प्रवेशक—प्रवेशक का प्रयोग दो अङ्कों के बीच मे होता है। वह प्राकृत भाषा का प्रयोग करता है, शिष्ट प्राकृत का नही। इसके द्वारा भूत और भावी कथांओं की सूचना मिलती है। विष्कभक और प्रवेशक मे अन्तर है। प्रवेशक का प्रयोग दो अङ्को के बीच मे ही हो सकता है, किन्तु प्रथम अङ्क के आदि में नही। विष्कभक का प्रयोग प्रथम अङ्क के प्रारम्भ मे हो सकता है और दो अङ्को के बीच में भी। विष्कंभक मे सस्कृत और शौरसेनी का प्रयोग वाछनीय है, किन्तु प्रवेशक की भाषा, निम्न कोटि की (प्राकृत, मागधी, आभीरी, पैशाची) होती है। विष्कंभक में कम से कम एक पात्र मध्यम श्रेणी का होता है, जबकि प्रवेशक के सभी पात्र निम्न श्रेणी के होते है।

(घ) कार्यावस्थाएँ : कार्यावस्थाएं वे हैं, जो उस कार्य का क्रमिक विकास चित्रित करती है, जिसे नायक करता है। ये अवस्थाएँ पाँच है—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम। जब नायक की तीव्र इच्छा किसी फल की प्राप्ति के लिए व्यक्त होती है, उस अवस्था का नाम प्रारम्भ है, अर्थात् जब नायक ऐसी इच्छा प्रकट करता है कि 'मैं यह कार्य करूँगा'। प्रयत्नावस्था उस अवस्था को कहते है जब किसी कार्य-जन्य फल की प्राप्ति में विलम्ब की प्रतीति हो तो उस विलम्ब को दूर करने के लिए जिस प्रयत्न को त्वरा से किया जाय। प्राप्त्याशा वह अवस्था है जब फल प्राप्ति की सम्भावना पहले तो किन्ही रुकावटो के कारण सन्देहपूर्ण प्रतीत हो, किन्तु उन रुकावटो के हटने पर प्राप्ति की आशा का उदय हो। नियताप्ति वह अवस्था है जबकि रुकावटों के दूर होने पर फल की प्राप्ति का निश्चय हो जाता है। फलागम

का अर्थ है फल की वास्तविक प्राप्ति। पश्चिमी काव्य-शास्त्र मे भी प्रारम्भ, कार्य, विकास, चरमसीमा, निगति और समाप्ति पाँच अवस्थाएँ है।

अर्थप्रकृति

अर्थप्रकृति से नाटक के प्रयोजन, फल अथवा लक्ष्य की गतिविधि का पता चलता है : 'अर्थ प्रकृतयः प्रयोजनसिद्धि हेतवः' द०रू०१,१८। इसके पाँच प्रकार होते है—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। भरत मुनि कहते है—

बीज-बिन्दु-पताकाश्च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थ प्रकृतयः पंच ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ॥ ना०शा०,२१,२२

बीज वह साधन है, जो अल्प शब्दों मे कहे हुए फल को विकास की ओर ले जाता है। "बीज मुख्य फल के हेतु का कथाभाग होता है जो क्रमशः विस्तृत होता है, किन्तु प्रारम्भ में जिसका कथन केवल थोड़े से शब्दो मे किया जाता है'।

अल्पमात्रं समुत्सृष्टं बहुधा यत्प्रसर्पति।
फलावसानं यत् चैव बीजं तदभिधीयते ॥ ना० शा० २१,२३

किसी दूसरे अर्थ या कथा से विच्छिन्न हो जाने पर या आगे बढ़ाने वाले कारण को बिन्दु कहते है।'धनिक कहते है कि जैसे तेल की बूँद जल मे फैल जाती है वैसे ही बिन्दु भी प्रसारित होती है। रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार जिस प्रकार माली बीज को बोने के पश्चात् उसका विकास करने के लिए जल की बूंदे डालता है, उसी प्रकार नाटक का लेखक बीजारोपण के पश्चात् बिन्दु के द्वारा उसका विकास करता है। पताका और प्रकरी का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है : 'सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्' (दशरूपक १,१३)। कार्य वह है जिसके लिए समस्त उपायों का आरम्भ किया जाय और जिसकी सिद्धि के लिए समस्त सामग्री का आयोजन किया जाय। विश्वनाथ के शब्द हैं :

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः। सा० द० ६,६६
समापनं तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति संमतम् ॥ सा० द० ६६

सन्धियाँ

धनञ्जय कहते है कि सन्धि कथावस्तु के अंगों को समन्वित करती है। धनिक कहते है कि सन्धि वह विशेषता है, जो एक प्रयोजन से सम्बन्धित कथावस्तु को दूसरे प्रयोजन से सम्बन्धित कथावस्तु के अंश से सम्बद्ध करती है। 'एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथाशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सधिः'।१,२३। संधियों के पाँच भेद हैं—

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण। मुखसन्धि नाटक का वह स्थल है जहाँ विविध कथाओं, उपकथाओं, रसो और वस्तुओ की उद्‌भावना होती है :

'मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानारससंभवा।'

प्रतिमुख संधि नाटक का वह अंश है, जहाँ बीज कुछ लक्षित हो कुछ अलक्षित हो : 'लक्ष्यालक्ष्यतयोद्‌भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।' गर्भसंधि नाटक का वह स्थल है, जहाँ कुछ प्रकाशित हुए बीज का बार-बार अन्वेषण होता रहता है : 'गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषण मुहु।' अर्थात् गर्भसंधि में जब बीज दिखायी पड जाने के पश्चात् फिर से नष्ट-सा हो जाय तो उसका अन्वेषण बार-बार किया जाता है। बीज नितान्त नष्ट नही होता। वह दब-सा जाता है। फल गर्भस्थ रहता है, इसलिए इस सधि का नाम गर्भसधि है। अवमर्श संधि मे बीज के अधिक विस्तार होने से उसमे फलोन्मुखता आती है। इस फलोन्मुखता मे क्रोध, शाप, विपत्ति, लोभ, व्यसन आदि से बाधा उत्पन्न हो सकती है, किन्तु गर्भसन्धि की अपेक्षा, अवमर्शसधि मे फल-प्राप्ति की आशा कुछ अधिक होती है। अवमर्श संधि को विमर्श सधि भी कहते है : 'क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्। गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः' (द० रू० १,४३)। निर्वहण सधि वहाँ होती है, जहाँ प्रमुख प्रयोजन मे कार्य और फलागम के साथ अन्यान्य अर्थों मे पर्यवसान हो जाता है। डॉ० त्रिगुणायत के शब्दों में 'निर्वहण सधि पूरे नाटक का उपसहार होती है।' 'बीजवन्तो मुखाद्यर्था, विप्रकीर्णा यथायथम्। ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहण हि तत्॥' (द०रू० १,४८,४९)

प्रकृति, संधि, अवस्था

अर्थप्रकृति, संधि और अवस्था का पारस्परिक सम्बन्ध है, जो निम्नलिखित मानचित्र के द्वारा स्पष्ट है :

अर्थप्रकृति	बीज,	बिन्दु,	पताका,	प्रकरी,	कार्य
सन्धि	मुख,	प्रतिमुख,	गर्भ,	अवमर्श,	निर्वहण
अवस्था	आरम्भ,	प्रयत्न,	प्राप्त्याशा,	नियताप्ति,	फलागम

टिप्पणी—गर्भसंधि मे प्राप्त्याशा रहती है, पताका आवश्यक नही। सधियों के अंग संध्यंग कहलाते है। मुखसंधि के बारह, प्रतिमुख के तेरह, गर्भसंधि के बारह, अवमर्श के तेरह और निर्वहण के चौदह भेद बताये गये है। इस प्रकार संध्यंग चौसठ होते है। इनके अतिरिक्त उपसंधियाँ और सध्यन्तर भी होते है। संध्यंगों के छः प्रयोजन बताये गये है। डॉ० नगेन्द्र का मत है कि अवस्थाओ द्वारा नायक पर, अर्थ प्रकृतियों द्वारा घटनाओं पर एवं संधियों द्वारा नाटक के शरीर पर ध्यान दिया जाता है।

कथोपकथन

कथोपकथन की दृष्टि से कथावस्तु के तीन प्रकार होते है—१. श्रव्य अर्थात् जिसे रंगमंच के अभिनय-स्थल पर सभी पात्र सुनते है। २. अश्राव्य, जिसे उक्त पात्र नही सुन पाते है। इसे 'स्वगत' भी कहते है, किन्तु आजकल इसे मनोविज्ञान के अनुकूल और रगमंच के अनुकूल नही समझा जाता, यद्यपि जयशकर प्रसाद के नाटको मे 'स्वगत' की बहुलता है। ३. नियतश्राव्य, अर्थात् वह जिसे कुछ अभीष्ट पात्र ही सुनते है, अन्य नही। नियत श्राव्य के दो भेद होते है अपवारित और जनान्तिक। अपवारित नियत श्राव्य वहाँ होता है, जहां सामने विद्यमान पात्र की ओर से मुख मोड़कर किसी रहस्य का उद्घाटन किया जाय अथवा उससे छिपाकर कटाक्ष किया जाय। जनान्तिक नियत श्राव्य वहाँ होता है, जहाँ अन्य पात्रो के उपस्थित रहते हुए भी दो पात्र इस प्रकार बात करे कि मानो उन्हे दूसरों को कुछ सुनाना अभीष्ट नहीं। इस निमित्त वे दूसरे पात्रों की ओर हाथ के द्वारा 'त्रिपताका'[1] सकेत कर प्रेक्षकों को यह जतायें कि उनका निवारण किया जा रहा है।

कथोपकथन का एक रूप आकाशभाषित भी है। इसमे पात्र आकाश की ओर देखता हुआ कुछ सुनने का उपक्रम करता है; वह स्वयं प्रश्नो को दुहराता और स्वयं उनका उत्तर देता है।

(आ) पात्र

नाटक का दूसरा प्रमुख तत्त्व पात्र है। प्रमुख पात्र को नायक कहते है। इसमें निम्न प्रकार के गुण वांछनीय है।

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्त लोकः सुचिर वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा॥
बुद्धयुत्साह स्मृति प्रज्ञा कलावान् समन्वितः।
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥

अर्थात् नेता को विनीत, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रियवादी, लोकप्रिय, वाणी-निपुण, उच्चवंशवाला, स्थिर स्वभाव वाला, युवा, बुद्धिमान्, उत्साही, प्रज्ञ, कलाविज्ञ, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ और धार्मिक होना चाहिए। भरतमुनि ने नायक के चार भेद माने है—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत ३४,१७। धीरोदात्त नायक अपने सवेगो पर नियन्त्रण रखने वाला, धीर, क्षमावान्, स्थिरचित्त, विनयशील

१. त्रिपताका = हाथ की सारी अंगुलियों को ऊर्ध्वमुखी करके अनामिका को वक्राकार रखना।

एव दृढव्रत होता है। ऐसा व्यक्ति प्रायः क्षत्रिय जाति का होता है, किन्तु अपनी प्रशंसा अपने मुख से नहीं करता। धीरललित नायक निश्चिन्त स्वभाव का कलाप्रेमी, स्मित-वदन होता है। धीरप्रशान्त में सामान्य गुण होते है। धीरोद्धत्त नायक में ईर्ष्या, छल, चतुरता, चंचलता क्रोध और आत्मप्रशंसा आदि अवगुण होते है। गुण, वय, स्वभाव, कर्म आदि के अनुसार नायक के उक्त तथा अन्य भेद किये गये है।

नायक के अन्य भेद

नायक के ग्यारह भेद और बताये गये है। इनका विभाजन अतिव्याप्ति दोष से दूषित भी है। वे ये है :

१—पति अपनी पत्नी का विधिवत् पाणिग्रहण करता है। २—अनुकूल पति केवल अपनी पत्नी से प्रेम करता है। ३—दक्षिण नायक सभी नायिकाओ से समान व्यवहार करता है। ४—शठनायक प्रेम के कपट व्यवहार में निपुण होता है। ५—धृष्ट नायक बार-बार अपराध करने पर भी और नायिका से बार-बार दुतकारे जाने पर अनुनय मे चतुरता का प्रदर्शन करता है। ६—उपपति आचारहीन पति होता है, जो अनेक स्त्रियो से प्रेम करता है। ७—वेश्याओं से प्रेम करने वाला व्यक्ति वैशिक कहलाता है। ८—मानी वह नायक है जो नायिका से रूठ जाता है। ९—वचन-चतुर नायक बात करने मे चतुरता प्रकट करता है। भानुदत्त ने 'मानी' और 'वचनचतुर' इन दोनो प्रकार के नायकों को 'शठ' माना है, किन्तु हिन्दी साहित्य मे इन्हें स्वतंत्र नायक माना गया है। १०—क्रियाचतुर नायक सकेत करने मे कुशल होता है। ११—प्रोषितनायक विदेश में रहने के कारण नायिका के विरह से दु खित रहता है।

नायिका-भेद

भरत मुनि ने तीन प्रकार की स्त्रियाँ मानी है—उत्तमा, मध्यमा और अधमा—और अवस्था के अनुसार उनके आठ भेद किये है : वासकसज्जा, विरहोत्कठिता, स्वाधीनपतिका, कलहान्तरिता, खंडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका और अभिसारिका। कर्म के अनुसार स्त्रियों के तीन भेद किये गये है— सामान्या, स्वकीया एवं परकीया। सामान्या को गणिका अथवा वेश्या कहते है। स्वकीया अपने ही पति से प्रेम करती है; और परकीया अपने पति को छोड़ कर अन्य व्यक्तियो से प्रेम करती है। नायिका के और भी भेद बताये गये है, यथा : महादेवी, देवी, स्वामिनी, अनुचारिका, परिचारिका। धनञ्जय, क्षेमेन्द्र, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने नायिका के भेदों का अधिक गम्भीरता से विवेचन किया है।

नायिका-भेद के आठ प्राचीन आधार ये है :

१. जाति (यथा: पद्मिनी, शंखिनी, चित्रणी, हस्तिनी)

२. कर्म (स्वकीया, परकीया, सामान्या)

३. पति-प्रेम (कनिष्ठा, ज्येष्ठा)

४. वय (मुग्धा, मध्या, प्रौढा)

५. दशा (दुःखिता, गर्विता, मानवती)

६. मान (धीरा, अधीरा, धीराधीरा)

७. पति-सम्बन्ध (प्रोषितपतिका, कलहान्तरिता, खंडिता, अभिसारिका)

८. प्रकृति या गुण (उत्तमा, मध्यमा और अधमा)।

नायिका के ये भेद नायक के दृष्टिकोण, व्यवहार, अथवा स्थिति पर निर्भर है एवं नायिका की मनोदशा पर आश्रित है। अतएव नायिका के इस प्रकार प्रधान आठ भेद हो सकते है, यद्यपि हिन्दी आचार्यों ने अनेक भेद और उपभेदों का वर्णन किया है—

१. स्वाधीन पतिका—ऐसी सन्तुष्ट मन वाली नायिका, जिसके अधीन पति होता है।

२. खंडिता—ऐसी नायिका, जिसका पति अन्य स्त्री से प्रेम करके आया हो और इस कारण ईर्ष्या से कलुषित चित्त वाली हो।

३. अभिसारिका—वह नायिका, जो संकेत स्थल पर नायक से मिलने जाती हो।

४. कलहान्तरिता—वह क्रोधिनी, जो नायक की प्रार्थना को ठुकरा देती, किन्तु पछताती भी है।

५. विप्रलब्धा—वह नितान्त अपमानिता नायिका, जिसके पास नायक पूर्वसंकेत के अनुसार नही जाता।

६. प्रोषितपतिका—वह नायिका, जिसका पति कार्य-वश परदेश चला जाय।

७. वासकसज्जा—वह नायिका, जो अपने प्रिय से मिलने के लिए सुसज्जित हो।

८. विरहोत्कंठिता अथवा खिन्नमना—वह नायिका, जिसका पति आने का निश्चय करके भी न आ सके।

अन्य पात्र

नायक के सहायक पुरुषपात्र होते है जैसे पीठमर्द, विदूषक, विट। पीठमर्द प्रासंगिक कथा का नायक होता है और ये आधिकारिक नायक की अपेक्षा हीन गुण वाला होता है, किन्तु उसकी सहायता में तत्पर रहता है। विदूषक नायक का सहचर होता है, वह उनके प्रणय-व्यापार में सहायता करता है और उसकी खिन्नता में उसका मनोरंजन भी। विदूषक के समान विट कला का विशेषज्ञ होता है और वह उस कला की सहायता से नायक का मनोरंजन करता है। नायक के विरोधी

पात्र को खल नायक कहते है। कंचुकी और प्रतिहारी सेवक-पात्र है। सूत्रधार, स्थापक, नट और नटी का सम्बन्ध नाटक के अभिनय-प्रबन्ध से होता है।

चरित्र-चित्रण

पश्चिमी दृष्टिकोण से वस्तु के पश्चात् चरित्र-चित्रण की महत्ता है। हडसन के अनुसार किसी भी नाट्यकला का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और चिरन्तन तत्त्व चरित्र-चित्रण है। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के शब्दो में 'चरित्र-चित्रण आजकल के नाटकों का प्राण है'।

देशकाल

देशकाल के चित्रण से नाटक मे स्वाभाविकता, सजीवता और उचितता की प्रतिष्ठा होती है। इसके चित्रण से युगविशेष की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा अन्य अनेक परिस्थितियों को प्रकट किया जा सकता है। देशकाल की अन्विति की चर्चा कार्यान्विति के साथ-साथ आगामी पृष्ठों में की जायगी। भाषा और वेश-भूषा के द्वारा समय और स्थान की अभिव्यक्ति की जाती है। राम को चूड़ीदार पायजामा और सीता को फ्रॉक पहनाना स्थान-काल का व्यतिक्रम माना जायगा। अतएव वेशभूषा, वाहन, अस्त्र-शस्त्र ये सभी वर्ण्य देशकाल के अनुकूल होने चाहिएँ।

अभिनय

'अभि' उपसर्ग, 'नि' धातु और 'अच्' प्रत्यय से अभिनय शब्द का निर्माण हुआ है, जिसका अर्थ है सम्मुख ले जाना। किसके सम्मुख ले जाना ? उत्तर है सामाजिक के सम्मुख ले जाना। भरत के अनुसार अभिनय वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा पात्र कवि के भावों को अंग, सिर, हाथ, कटि, पलक, नासिका, भगिमा की चेष्टाओं के द्वारा अपने सामाजिकों के सम्मुख उपस्थित करता है.

अभिपूर्वस्तु णीञ्धातुराभि मुख्यार्थ निर्णये।
यस्मात्पदार्थान्नयति तस्मादभिनयः स्मृतः॥ ना० शा० ८,६
विभावयन्ति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः।
शाखाङ्गोपांग संयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः॥ ना० शा० ८,७

इसीलिए भरत और धनंजय ने नाटक को अनुकृति माना है और विश्वनाथ ने भी अभिनय को अवस्था की अनुकृति समझा है, उनके शब्द है : 'भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः।' भट्टतौत के अनुसार अभिनय वह कला है जो 'सामाजिक का ध्यान इस सीमा तक आकृष्ट कर ले कि उसे अन्य विषयों का ध्यान न रहे'।

अभिनय के प्रकार

अभिनय के चार प्रकार है . आगिक, वाचिक आहार्य और सात्त्विक। भरत लिखते है :

आङ्गिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्त्विकस्तथा। ना० शा० ८,६

अंगों को हिलाने-जुलाने की क्रिया को आंगिक; गीत, वार्त्ता के उच्चारण या पाठ को वाचिक; वस्त्र, भूषण आदि की साज-सज्जा को आहार्य; और स्तम्भ, रोमांच आदि को सात्त्विक अभिनय कहते है। जैसा कि कहा जा चुका है, नट या अभिनेता द्वारा मूल नायक-नायिकाओ का अथवा काव्य-वर्णित उनके स्वभावों और रूपो के यथाशक्य यथावत् अनुकरण को अभिनय कहते है, इस निमित्त अभिनेता वैसे ही वस्त्र, आभूषण, भाषा, हाव-भाव आदि का प्रदर्शन करते है, जो मूल नायक-नायिकाओं में विद्यमान होते है।

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत कहते है कि उक्त चतुर्विध प्रक्रिया 'प्राचीन कोटि के नाटको के सम्बन्ध मे ही अधिक लागू होती है। नवीन कोटि के नाटक के सम्बन्ध में कम। आज हिन्दी का नाटक भरतकालीन नाटको से बहुत सी बातों में विलक्षण हो गया है। पाश्चात्य नाट्यकला ने उसकी रूप रेखा ही बदल दी है और यही कारण है कि आज अभिनेता की अभिनेयता की मान्यता भी बदल गयी है"। वे नाटकरचना और रंगशिल्प सम्बन्धी कुछ विशेषताओ की ओर ध्यान आकृष्ट करते है। यद्यपि हमारी विनीत धारणा है कि अभिनय की सैद्धान्तिक कल्पना मे कोई परिवर्त्तन नही; उनके ब्यौरे मे देशकाल के अनुसार परिवर्त्तन होता रहता है।

(इ) रस और उद्देश्य

भरत ने नाटक के उद्देश्य इस प्रकार बताये है

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्। ना० शा० १,११२
लोकोपदेशन जननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ ना० शा० १,११३
नहि रसादृते क्वश्चिदर्थप्रवर्तनम्। ६,३१-३२

अर्थात् नाटक धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि को बढ़ाने वाला और लोक को उपदेश देने वाला होगा। रसके अतिरिक्त और कोई प्रिय नहीं हो सकता। इन वचनों से स्पष्ट है कि नाटक का आत्यन्तिक प्रयोजन रसनिष्पत्ति है और इस रसनिष्पत्ति के भी सुदूर उद्देश्य धर्म-प्रचार, किसी महापुरुष अथवा देश का गुण-गान, बुद्धिचातुर्य और स्वास्थ्य आदि की अभिवृद्धि के निमित्त अथवा विशेष (यथाः सकटकालीन) परिस्थिति में लोगों को उपदेश देने के लिए नाटक का अभिनय होता है। भरत के उक्त वचन ने परवर्त्ती आचार्यों को काव्य के प्रयोजन पर प्रकाश डालने के लिए प्रेरणा दी।

'काव्यं यशसे' आदि मम्मट के शब्द भरत के उक्त श्लोक से प्रेरित प्रतीत होते है। भरत ने रस का जो स्वरूप बताया है, उसकी चर्चा 'रस' नामक अध्याय में की जा चुकी है। रसनिष्पत्ति के लिए वृत्तियो और शैली की परम आवश्यकता है।

वृत्ति और शैली

भरत ने वृत्तियों को नाटक के लिए परम आवश्यक समझा है और बताया है कि वे नाटक की माताएँ है। रीति, वृत्ति और शैली का अन्तर 'शैली' नामक अध्याय मे स्पष्ट किया जा चुका है। यद्यपि भरतमुनि ने 'शैली' शब्द का प्रयोग नही किया, तथापि उन्होने स्पष्ट कहा है :

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनम्,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं संधिसंधानयुक्तम्,
स भवति शुभकाव्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥ १७, १२३

अर्थात् नाटक की भाषा सरल, सार्थक और सहज बोधगम्य होनी चाहिए। इस निमित्त उन्होंने चार वृत्तियों का उल्लेख किया है : कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती। कैशिकी सामवेद से उत्पन्न है। इसमे नृत्य, गीत और कामोद्भव, सुकुमार चेष्टाएँ होती है। अभिनवगुप्त का मत भरत के अनुकूल है। राघवन् इसका सम्बन्ध वैदर्भी रीति की रमणीयता से जोड़ते है। सात्वती का प्रादुर्भाव यजुर्वेद से है। इसका प्रयोग उग्र रसो की अभिव्यक्ति मे होता है, यथा वीर, रौद्र मे, किन्तु इसका प्रयोग शृंगार और करुण रस के लिए बहुत कम किया जाता है। अभिनव गुप्त सात्वती वृत्ति को ऐसे सात्त्विक अभिनय के लिए उपयुक्त समझते है जिसमें हर्ष, ज्ञान, न्याय, और औचित्य की प्रधानता हो। आरभटी की उत्पत्ति अथर्ववेद से है। यह सात्त्वती के विपरीत है, क्योंकि इसके द्वारा उग्र काम की उग्र चेष्टाओं का प्रदर्शन होता है। अतएव यह छल, कपट, अंहकार और अभिमान से युक्त धीरोद्धत के लिए उपयुक्त है। भारती वृत्ति की उत्पत्ति ऋग्वेद से है, जिसमें वाणी-व्यापार की प्रधानता होती है। भरत ने इसे हास्य और शृगार के लिए वर्जित नही समझा है, किन्तु कुछ आचार्यों के अनुसार यह वृत्ति सभी रसों के लिए उपयुक्त है। वाचिक अभिनय करने वालों को 'भरत' और मूक अभिनय करने वाले को 'नट' कहा जाता है, अतएव 'भरत' से सम्बद्ध होने के कारण इस वृत्ति का नाम 'भारती' हुआ। इसका प्रधान उद्देश्य रस को अभिव्यक्त करना है, वह रस कोई भी हो। इस कारण यह वृत्ति सर्वश्रेष्ठ समझी गयी है।

युग की माँग—नाटक के रूप और आकार मे वर्तमान युग की आवश्यकताओं का प्रभाव पडना स्वाभाविक है। आजकल का जीवन अधिक व्यस्त है। सामाजिक (प्रेक्षक) एक ही बैठक में, तीन-चार अथवा इससे भी कम घण्टों के भीतर ही, अभिनय को देखना पसन्द करता है। अतएव नाटक का आकार युग के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। प्राचीनकाल मे भी रूपको के अको की सख्या मे तारतम्य रहा है। भाण, व्यायोग, अंक, वीथी, ईहामृग, प्रहसन और रासक एकाकी थे। आजकल भी एकांकियो का प्रचलन अधिक है।

दृश्यों और अंकों का विभाजन—अको का विभाजन इस प्रकार होना चाहिए कि सामाजिको का जी न ऊबे और नाटक रोचक बना रहे। पीछे के अक और दृश्य अपेक्षाकृत छोटे होने चाहिए, जिसमे दर्शको का मन न ऊबे। सस्कृत नाटको मे दृश्य नही होते थे, किन्तु उनमे विष्कभक, प्रवेशक, चूलिका, सूत्रधार, स्थापक आदि का विधान था। आधुनिक नाटको मे विष्कभक-प्रवेशक आदि नही होते, पर दृश्य होते है और इन दृश्यो की सख्या तो किन्ही-किन्ही अको मे काफी अधिक हो जाती है।

दृश्यों की सजावट—दृश्यों की सजावट दृश्य-विषयो के अनुरूप होती है। मध्यकालीन शाही अथवा नवाब के कमरे की सजावट आजकल के साहिबी कमरे की सजावट से भिन्न होती है। रेडियो सैट आजकल की सजावट का प्रधान अंग है।

अभिनेय नाटको के कथानकों मे निजी विशेषताएँ होती है। अतएव कथोपकथन को सरल, प्रसगानुकूल, स्वाभाविक, सक्षिप्त और पात्रानुकूल होना चाहिए। नृत्य और गीतो के समावेश से नाटक मे चमत्कृति और रोचकता की अभिवृद्धि होती है, किन्तु नृत्य और गीतो का आयोजन नाटक की वस्तु पर आधृत है, क्योंकि कभी-कभी इनका प्रयोग प्रतिपादित विषय के प्रतिकूल होने के कारण खटकने लगता है। आधुनिक प्रेक्षक तर्कशील, गद्यमोही और व्यस्त होता है, अतएव भावुकता में उसकी रुचि अपेक्षाकृत कम होती है। कहा जा चुका है कि भाषा पात्र के अनुकूल होनी चाहिए। संस्कृत नाटको मे साधारण स्त्रियों और शूद्रो की भाषा प्राकृत होती थी। इस युग मे भी मुसलमान पात्रो की भाषा फारसी-शब्द-बहुला और पश्चिमी भाषा और संस्कृति के प्रेमियो की भाषा (अर्थात् साहब बहादुरो की भाषा) अंग्रेजी शब्दों से युक्त एवं च्युतसंस्कृत होती है। नाटको की भाषा में दुरूहता के आने से एवं लम्बे संवादो और स्वगतकथन के कारण नाटकीयता की हानि होती है। जयशंकर प्रसाद के नाटकों को साधारण समाज नही समझ पाता, इन्ही कारणों से उनके नाटकों को अनभिनेय समझा जाता है।

आधुनिक युग में नायक कोई भी व्यक्ति हो सकता है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उच्चवश का हो। अब पात्र का चयन इतिहास-पुराण की अपेक्षा कल्पना पर अधिक आधृत होता है, पात्रो के बाह्य सघर्ष की अपेक्षा उनके आन्तरिक संघर्ष को प्रधानता दी जाती है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र में कुछ दृश्य वर्जित समझे गये है, यथा: चुम्बन, आलिंगन, भोजन, युद्ध, वध। आधुनिक नाटको मे भी ये वर्जनाएँ प्रदर्शित की जाती है। वास्तव में इनका वर्जन ही श्रेयस्कर है और मनोवैज्ञानिक भी।

प्रेक्षक

घृण्य प्रेम के प्रदर्शन का प्रभाव नवयुवकों पर कितना गहरा पडता है, इसको सभी अच्छी प्रकार समझते है। युद्ध और वध का प्रदर्शन भी चित्त मे भय का संचार करता है, जो कोमल चित्त पर दूषित प्रभाव डालता है। अतएव भरत ने एक ओर उक्त निषेध का विधान किया है और दूसरी ओर प्रेक्षको की योग्यता पर भी आग्रह किया है। इससे प्रतीत होता है कि जिस प्रकार प्रत्येक प्रकार का व्यक्ति प्रत्येक काव्य का अधिकारी नहीं, उसी प्रकार प्रत्येक नाटक को देखने का अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति नहीं हो सकता। जयशंकर प्रसाद की कामायनी को समझने का पात्र प्रत्येक पाठक नहीं होता; इस काव्य की महत्ता को वही समझ सकता है जिसका अधिकार संस्कृतनिष्ठ हिन्दी पर भली प्रकार हो। जिस प्रकार काव्य का अधिकारी 'सहृदय' माना गया है, उसी प्रकार भरत ने प्रेक्षक मे भी विशेषताएँ आवश्यक समझी हैं। उनके अनुसार प्रेक्षक को चरित्रवान्, कुलीन, विद्वान्, यश और सुकृत का इच्छुक, पक्षपात रहित, वयस्क, नाटक के अङ्गों का ज्ञाता, जागरूक, सत्यवादी, वासना-वेग विहीन, सगीतज्ञ संवाद-भाषाविज्ञ, व्याकरण, छन्द-शास्त्र से परिचित, धर्मात्मा, भाव-भावनाओ का अनुभवी आदि होना चाहिए। आज का युग भरत के इन निरोधों से सहमत न हो, किन्तु इसमें तथ्य है कि सभी प्रेक्षक सभी नाटकों के अधिकारी नही होते।

प्रेक्षागृह

प्राचीन भारत में प्रेक्षागृह विशाल और सुन्दर होते थे। विन्ध्य प्रदेश में सरगुजा राज्य के अन्तर्गत, पहाड़ी प्रदेश मे, सीतावेगा तथा जोगीमारा गुहा के नाट्य-मण्डप है। जोगीमारा लेख से यह विदित है कि वह गुफा सुतनुका नाम की देवदासी ने नर्त्तकों अथवा नटियों के लिए बनवायी थी। सीतावेगा नाम की गुफा नाट्य-मण्डप के समान बनी है। इसके सामने सीढ़ी की तरह के प्रेक्षागृह भी अवशिष्ट है और यह गुफा छयालीस फ़ीट लम्बी और चौबीस फ़ीट चौड़ी है। भरत ने नाट्य-शास्त्र में

विकृष्ट नाट्य-मण्डप का जो आकार-प्रकार बताया है, उससे यह गुफा अधिकांश में मिलती है : कार्यः 'शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः ।' २,८१ ।

नाट्य-मण्डप

भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में नाट्य-मण्डपों का विधान इस प्रकार है :

विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव हि मण्डपः ।
तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथाऽवरम् ॥ २,८

अर्थात् नाटक के मण्डप तीन प्रकार के होते है—विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र । 'शिल्प रत्न' और 'भावप्रकाश' (शारदातनयकृत) मे ये तीन प्रकार के नाट्य-मण्डप मिलते हैं, किन्तु विष्णु धर्मोत्तर पुराण मे केवल विकृष्ट और चतुरस्र नाट्य-मण्डप ही उपलब्ध होते है । डॉ० रायगोविन्दचन्द्र का मत है कि विकृष्ट नाट्य-मण्डप ही बहुत प्रचलित थे ।[1] भरत ने उक्त तीन प्रकार के तीन भेद और किये है :

देवानां भवनं ज्येष्ठं, नृपाणां मध्यमं भवेत् ।
शेषाणां प्रकृतीनां तु, कनीयः संविधीयते ॥ २,११

अर्थात् तीन प्रकार के मण्डप और होते है—ज्येष्ठ, मध्यम और कनीय । देवताओं के मण्डप ज्येष्ठ कहलाते है, राजाओं के मध्यम और शेष समाज के लिए छोटे । डॉ० रायगोविन्दचन्द्र ने गणना करके बताया है कि देवताओं के लिए जो मण्डप होते थे वे इक्यावन मीटर लम्बे होते थे, राजाओ के उन्तीस मीटर और शेष जनो के १४.५ । चतुरस्र की चौड़ाई और लम्बाई बराबर होती है । विकृष्ट की चौडाई इस प्रकार है—ज्येष्ठ की २५.५ मीटर, मध्यम की १४.५ मीटर, तथा छोटे की ७.२५ मीटर । इस प्रकार भरत के नाट्य-शास्त्र में नौ प्रकार के मण्डपो का विवरण दिया गया है । मनुष्यों के हेतु चौसठ हाथ से लम्बा मण्डप नही बनना चाहिए, क्योकि बहुत बड़े मण्डप में न तो शब्द सुनायी पड़ते है और न भाव-भगिमा ही दिखायी पड़ती है । भरत के वचन हैं :

यस्मादव्यक्तभावं हि, तत्र नाट्यं भवेदिति ।। २,१८
अनभिव्यक्तवर्णत्वाद्, विस्वरत्वं भृशं भवेत् ॥ २,१९

नाट्य-मण्डप के चारों ओर दिवाल रहती थी । मण्डप को धारण करने के लिए विभिन्न वर्ण के खम्भे रहते थे, जिनसे यह पता चल जाता था कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि कहाँ-कहाँ बैठे । बैठने का स्थान सीढीनुमा होता था, जैसा आजकल के थियेटरों में होता है—'सोपानाकृति पीठकम्', २,९१ । मण्डप के दो भाग रहते थे । उनमें से एक

१. भरत-नाट्य-शास्त्र में नाट्यशालाओं के रूप, पृ० ६

दर्शकों के लिए था और दूसरा अभिनेताओं के लिए। रंगमंच तथा नेपथ्य की व्यवस्था थी। प्रेक्षागृह में द्वार और खिडकियाँ होती थी। भरत ने नाट्यमण्डप की सजावट संगीत, प्रकाश आदि की व्यवस्था का वर्णन विस्तार से किया है। उनके अनुसार सूर्यास्त, अर्द्धरात्रि, भोजन तथा भोजनपूर्व इन तीन प्रकार के समयों को छोड़कर नाटक दिन और रात में किसी भी समय खेले जा सकते थे। जिस प्रकार समय के अनुसार राग-रागनियों का रूप निर्धारित होता है, उसी प्रकार विशेष समय पर विशेष प्रकार के नाटक खेले जाते थे, यथा धार्मिक नाटक मध्याह्न से पूर्व, वीरतापूर्ण नाटक मध्याह्न के पश्चात्, शृंगार-नाटक सूर्यास्त के पश्चात्, और करुण नाटक अर्द्धरात्रि के पश्चात् खेले जाते थे (ना० शा० २७,८५-९२)।

नाटक की उत्पत्ति और विकास

नाटक का स्रोत 'ऋग्वेद' में खोजा जाता है; सोमविक्रय एक प्रकार का अभिनय ही था, जिसमे तीन पात्र होते थे—यजमान, अध्वर्यु और सोमविक्रेता। सोम बेचने वाला वनवासी होता था; क्रेता उससे मोल-भाव करके मूल्य को चुकाये बिना सोम को छीन लेते और उसे कोडे मारकर भगा देते थे; तदुपरान्त वे नाचते-गाते सोमराजा की सवारी निकालकर उसको पी लेते थे (ऋ० ९,२-८)। वेद के उर्वशी-पुरुरवा सवाद[1] (ऋ० १०, ९५), यम-यमी (ऋ० १०,१०), सरमा-पणिस तथा अन्य अनेक संवाद-सूक्तों में नाटक के बीज थे, जो कालान्तर मे नाटक के रूप में प्रस्फुटित हुए।

यजुर्वेद (३०,६) के 'नृत्ताय सूत गीताय शैलूषम्' मे 'नृत्त' 'गीत' और 'शैलूष' शब्दो का प्रयोग हुआ है। 'वाजसनेयी सहिता' तथा 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' मे भी 'शैलूष' शब्द का प्रयोग मिलता है। 'कौषीतकी ब्राह्मण' मे भी नृत्य, संगीत और गीत को मुख्य विद्याओं मे गिना गया है। महाव्रत मे वृष्टि के उदय पर पशु-समृद्धि के लिए कुमारियाँ अग्नि के चारो ओर नृत्य करती थी; और विवाह के अवसर पर भी अग्नि के सामने स्त्रियाँ नृत्य करती थी, इस बात का सकेत मिलता है। सामवेद तो सगीत के लिए प्रसिद्ध है ही। अतएव ऐसी प्रबल सम्भावना है कि वैदिक काल में नाटक के मुख्य तत्त्व (नृत्य, गीत, वाद्य, संवाद आदि) प्रचुर परिमाण मे विद्यमान थे।

वाल्मीकि के 'रामायणम्' में 'शैलूष', 'नट' और 'नर्तक' एव गायकों के संघ

१. शतपथ ११,५,१

का उल्लेख है [१]। 'महाभारत' मे 'सूत्रधार' का भी निर्देश है और 'हरिवंश पुराण' में लिखा है कि रामचरित और रम्भाभिसार को नाटक के रूप में दिखाया गया था।

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' मे 'नट' एव 'नन्दीकर' शब्द मिलते हैं (३.२.२१) और शिलालिन् और कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख भी। इससे यह विदित होता है कि पाणिनि से पहले भी नाटको का प्रचार पर्याप्त मात्रा में था और नटों की शिक्षा के लिए सूत्रों की रचनाएँ होने लगी थी। तत्पश्चात् पतञ्जलि ने भी 'कंस-वध' और 'बलि-बन्ध' नाटको का इस प्रकार उल्लेख किया है: 'इह तु कथं वर्तमानकालता कंसं घातयति बलिं बन्धयतीति चिरहते कंसे चिरबद्धे च बलौ, अत्रापि युक्ता, कथम्, ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति।' इस उद्धरण के 'कंसं घातयति' और 'बलिं बन्धयति' इन वाक्यो मे वर्तमान काल की क्रिया के प्रयोग से अभिनय का आभास मिलता है।

वात्स्यायन के 'कामसूत्र' मे भी नाटक के सम्बन्ध मे यह स्पष्ट लेख है कि पक्ष या मास के किसी प्रसिद्ध दिन सरस्वती-भवन मे बाहर से आये हुए नट (उत्सव) मे अभिनय करते थे। तत्कालीन 'कौटिल्य अर्थ-शास्त्र' मे शत्रु से राजकुमारों को छुड़ा लाने के लिए नटो, नर्तको, नायको तथा अभिनेताओं को शत्रु के राज्य में भेजने का निर्देश है और यह सूचना भी है कि उन दिनो अभिनेताओ को ३५० से ७०० पण तक का वेतन मिलता था और नगरो मे नाट्यशालाएँ बनायी जाती थी।

'कुश जातक' और 'उदय जातक' मे 'नट' और 'नाटक' शब्द मिलते है और जैनराय पसेणिय सुत्त मे नाट्यगृह का एक प्राचीन वर्णन प्राप्त होता है। सिन्धु की उपत्यका में मुख पर लगाने के मिट्टी के चेहरे और नट-नटी की काँस्य मूर्तियाँ मिली है। उपर्युक्त प्रमाणो से प्रतीत होता है कि भारत मे नाटको की रचना एवं कला वैदिक काल से अविच्छिन्न रूप में चली आ रही है। भारत ने विदेश से नाट्य-कला नही सीखी थी। इस विषय मे कुछ पश्चिमी विद्वानों के मत ये है—

जर्मन विद्वान् डॉ० ओडर का मत है कि ऋग्वेद के संवादसूक्त, गायन और नृत्य के साथ, अभिनीत किये जाते थे। अतएव के एक प्रकार से धार्मिक नाटक ही थे जो अवसर-विशेष पर याज्ञिक के द्वारा नृत्य, गान और वाद्य के साथ प्रस्तुत किये जाते थे। बगाल मे आजकल की 'रथ यात्रा' उन्ही का विकसित रूप है। डॉ० हर्टेल का विचार है कि संवाद-सूक्त गाये जाते थे, गाने के लिए इनसे अधिक उक्ति होती थे और उन्ही सूक्तो से नाटक की उत्पत्ति हुई। फर डॉ० एच० कीथ का मत है

१. 'नटं-नर्तक-संघानां, गायकानां च गायताम्'।

'यतः कर्ण-सुखाः वाचः, सुश्रोव जनता ततः॥ २,६,१८

कि ऋग्वेद के सूक्तों का शंसन होता था, गायन नहीं; और सामवेद के सूक्तों का गायन। सामवेद के गाने वालो को उद्गाता और ऋग्वेद के मन्त्रोच्चारण करने वालों को ऋत्विज कहते थे। इन संवाद-सूक्तों के विषय भिन्न-भिन्न तथा व्यावहारिक है। अतः नाटको के बीज सूक्तो मे माने जा सकते है।

जर्मनी के कुछ विद्वानों, डॉ० विण्डिश ओल्डिन वर्ग एवं पिशल आदि, का विचार है कि संवाद-सूक्त गद्य और पद्य दोनों मे होते थे। रोचक होने के कारण पद्य-सूक्त तो अवशिष्ट रहे और गद्य-सूक्त विनष्ट हो गये। 'गद्य-सूक्त' आख्यान के नाम से पुकारे जाते थे। पिशल का विचार है कि प्राचीन नाटकों में गद्य-पद्य का जो सम्मिश्रण उपलब्ध होता है, वह उन्ही गद्य-पद्यमय सूक्तो का अनुकरण है

किन्तु कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मतभेद भी है। डा० रिजवि कहते हैं कि यूनान की भाँति, भारत में भी नाटक का विकास वीर-पूजा से प्रारम्भ हुआ। नाटक की यह प्रवृत्ति मृत वीर पुरुषों के प्रति आदर प्रदर्शित करने की भावना से जाग्रत हुई; रामलीला और कृष्णलीला इसके उदाहरण है। पर डा० रिजवि की यह धारणा पाश्चात्य विद्वानों को भी मान्य न रही। ए० बी० कीथ ने नाटक की उत्पत्ति का मूल प्रकृति-परिवर्तन मे खोजने की चेष्टा की। उनका विचार है कि नाटक में प्रकृति को ही मूर्त्तरूप दे दिया है। अपने मत की पुष्टि में वे महाभाष्य के 'कसवध' का उल्लेख करते हुए कहते है कि कंस के अनुयायियो के मुख काले थे तथा श्रीकृष्ण के लाल; अतएव हेमन्त पर वसन्त की विजय दिखाना ही इसका मुख्य उद्देश्य था। परन्तु कीथ का यह मत निराधार है।

जर्मन विद्वान् पिशल ने नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका-नृत्य से मानी है। उनके अनुसार, भारत से अन्य देशों में इसका प्रचार हुआ। 'सूत्रधार' और 'स्थापक' ये दोनों शब्द इस मत के प्रमाण माने जाते हैं। 'सूत्रधार' का अर्थ है डोरा पकड़ने वाला; सूत्रधार ही डोरा पकड कर कठपुतलियों को नचाया करता था। श्री बलदेव उपाध्याय इस मत से तो सहमत है कि कठपुतलियों के नृत्य का प्रचार भारत से अन्य देशों में हुआ, किन्तु वे इस मत से सहमत नहीं कि रस-भाव से युक्त नाटक की उत्पत्ति कठपुतली के नृत्य से हुई। पिशल का एक मत यह भी है कि नाटक की उत्पत्ति छाया नाटकों से हुई। डा० लूडर और डा० कोनों भी इस मत के समर्थक हैं; परन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नही होता, क्योकि छायानाटक अधिक प्राचीन नहीं हैं। संस्कृत में 'दूतागद' छायानाटक है, जो न तो अधिक प्राचीन है और न महत्त्वपूर्ण ही। कुछ पाश्चात्य विद्वान् नाटक की उत्पत्ति 'मे पोल' नृत्य से मानते हैं। यूरोप में 'मे पोल' नृत्य एक प्रकार का लोक-नृत्य है। इसी प्रकार का इन्द्रध्वज नामक

उत्सव भारत मे भी मनाया जाता था, जो नेपाल में अब भी प्रचलित है; किन्तु बहुत से विद्वान् इस मत को महत्त्वपूर्ण नही समझते, क्योकि इसमें भाव-प्रदर्शन उचित प्रकार से नही हो सकता।

अपने-अपने मत के अनुसार विद्वानों ने नाटक के मूल को खोजने का प्रयास किया है, किन्तु इसकी उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित मत उपलब्ध नहीं होता। वैदिक सूक्तों मे नाटक के तत्त्व विद्यमान थे, यह मत सर्वाधिक समीचीन प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि भरत के नाट्य-शास्त्र से भी होती है। उन्होने लिखा है कि सांसारिक मनुष्यों को दु खित देख देवताओं ने ब्रह्माजी से कहा कि ऐसे वेद की रचना कीजिये जिससे स्त्री, शूद्र आदि सभी का मनोरंजन हो। तब ब्रह्माजी ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर पंचमवेद की रचना की और इन्द्र से कहा कि इसका प्रचार करो। इन्द्र ने कहा कि देवगण इस कार्य में कुशल नही; वेदज्ञ मुनि ही यह कार्य कर सकते है। तब ब्रह्माजी ने भरत मुनि को यह वेद प्रदान किया। भरत ने अपने पुत्रों को इसकी शिक्षा दी। कैशिकी वृत्ति में स्त्रियो की आवश्यकता हुई तो अप्सराओ की कल्पना की गयी। ब्रह्माजी ने इस वेद का प्रयोग इन्द्र के ध्वजोत्सव में किया, इसका विषय था इन्द्रविजय। इससे देवता तो प्रसन्न हुए, किन्तु दैत्य क्रुद्ध हो गये और उन्होने इसमें विघ्न डालना प्रारम्भ किया। तब प्रेक्षागृहों का निर्माण हुआ, तथा ब्रह्माजी ने दैत्यों को बताया कि ऐसा कोई विषय नहीं जिसका प्रयोग नाटक मे न हो सके, इसमे तो दैत्यों की विजय और देवों की पराजय भी दिखायी जा सकती है। इस घोषणा से दैत्य भी सन्तुष्ट हो गये। (ना० शा० १,८-१६) पहले अभिनीत रूपक 'त्रिपुर-दाह' नामक डिम तथा 'समुद्र-मंथन' नामक समवकार थे।

भरत-प्रदत्त इस कथानक से यह स्पष्ट है कि नाटक का प्रादुर्भाव वेदों से हुआ, उसका उद्देश्य जनता का मनोरंजन करना है, वह किसी वर्ग-विशेष के लिए नहीं, अपितु सर्वसाधारण के उपयोग की वस्तु है। पुरुषपात्रों का अभिनय पुरुष तथा स्त्रियों का अभिनय स्त्रियाँ करती थी।

जवनिका

संस्कृत नाटकों मे 'यवनिका' शब्द की विद्यमानता से कुछ पश्चिमी विद्वानों की धारणा यह रही है कि भारतीय नाट्य-कला पर यूनानी प्रभाव था। यह धारणा विंडिश, वीबर और विल्सन के समय से प्रचलित हुई है, और इसकी पुनरावृत्ति स्टैन नो, ए. बी. कीथ और एम. विंटर्नीज के ग्रन्थों में होती रही है। यूनान में 'आइओनिया' (Ionia) नाम का नगर है, इससे 'यवन' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है और 'यवन'

से 'यवनिका' की, ऐसी उन लोगों की धारणा है। टी० एम० त्रिपाठी ने 'कुट्टनीमत' की टीका मे 'यवनिका' की व्याख्या की है 'युनानि आवृणोति अनया इति' अर्थात् वह जिसके द्वारा किसी का आवरण हो। यद्यपि आचार्य सुशीलकुमार दे[1] इस व्याख्या को महत्त्व नही देते, तथापि वे यह बताते है कि अमर, शाश्वत, हेमचन्द्र, हलायुध, यादव-प्रकाश अथवा केशव भारतीय कोशकारों ने 'पर्दे' के अर्थ मे 'यवनिका' शब्द नही दिया है। भरतकृत 'नाट्य-शास्त्र' (५,११-१२) मे इस शब्द का उल्लेख है। वटुकनाथ शर्मा और बलदेव उपाध्याय के १९२९ ई० के सस्करण मे 'यवनिका' पाठ है, किन्तु १८९४ ई० के प्राचीनतर बम्बई सस्करण मे दोनों श्लोको मे 'जवनिका' पाठ है और तत्प-श्चात् १८९८ ई० मे प्रकाशित होने वाले ग्रौमेट के सस्करण में भी दोनो बार 'जव-निका' पाठ है। अमर, हलायुध और केशव के कोशों मे 'जवनिका' शब्द का अर्थ 'पर्दा' है और अमरकोश के टीकाकारों ने 'जवनिका' की व्युत्पत्तियाँ 'जु' धातु से की है। हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' (२ ३४४) मे 'जवनी' को पर्दे का पर्याय लिखा है और उसकी व्याख्या की है 'जवन्तेऽस्या जवनी'। आचार्य दे यह बताते है कि हरिवंश और भागवत (१.८.१९) दोनो पुराणो मे 'जवनिका' शब्द है, और यही पाठ ठीक भी है। कुछ कोशकारों ने 'यमनिका' पाठ दिया है जो 'यवनिका' की अपेक्षा ठीक है, क्योकि 'यमनी' शब्द 'वाजसनेयी सहिता' (१४.२२) मे उपलब्ध है और यम् (रोकना) धातु से व्युत्पन्न है। अतएव भारतीय नाट्य-कला पर यावनी प्रभाव को मानना युक्ति-संगत नही।

हिन्दी-नाटक का विकास

नाटक सदा से लोकप्रिय रहा है। सस्कृत-साहित्य मे नाटको ने प्रचुर ख्याति प्राप्त की, किन्तु नाट्यकला मध्यकाल मे प्रायः लुप्त हो गयी। उस काल का लिखा हुआ कोई प्रसिद्ध अथवा नाट्यगुणों से युक्त नाटक उपलब्ध नही, कदाचित् इसका कारण राज भय रहा हो, क्योकि यह कला इस्लाम धर्म की मान्यताओ के प्रतिकूल है। विवाहों में शास्त्रार्थ, ग्रामो में स्वाँग, कठपुतली के नृत्य, रामलीला, कंसवध, रास लीला जैसे लोक-नाट्यो के रूप में अवश्य नाटक के दर्शन हो जाते है।

चौदहवी शताब्दी के विद्यापति के 'रुक्मिणी-हरण' और 'पारिजात-हरण' मे, तथा षोडशी शती के तुलसीदास के 'रामचरितमानस' एवं केशव की 'रामचन्द्रिका' के संवादों में नाटकीयता की झलक है। सत्रहवी शती मे हृदयराम ने 'हनुमन्नाटक' तथा यशवन्तसिंह ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' आदि नाटकों की रचनाएँ की। अठारहवी शताब्दी

१. सम प्रॉबलम्ज़ ग्रॉव संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १४८-१५५

में देव ने 'देवमाया प्रपंच', आलम ने 'माधवानल कामकन्दला' आदि रचनाओं को उपस्थित किया। इसी प्रकार उन्नीसवीं शती में महाराज विश्वनाथसिंह ने 'आनन्द रघुनन्दन', मंजु ने हनुमान नाटक,' हरिराम ने 'जानकी रामचरित' आदि रचनाएँ प्रस्तुत की। ये नाममात्र के नाटक हैं, वास्तव में नाटक कहलाने योग्य रचनाएँ नहीं है, क्योंकि ये या तो अनुवादित है या कुछ रामायण-महाभारत पर आधृत पद्यात्मक कृतियाँ है। अत नाट्यकला की दृष्टि से, बाबू गोपालचन्द्र गिरिधर का नहुष' ही सर्वप्रथम नाटक समझा जा सकता है। तब से हिन्दी-जगत् में नाटकों की बहुविध सृष्टि होती रही है।

पश्चिमी काव्य-शास्त्र का सूत्रपात

प्लेटो के आक्षेप

प्लेटो ने कविता पर दो आक्षेप किये है। प्रथमत, उनके अनुसार, कला प्रकृति की अनुकृति है। बुद्धिपूर्ण अनुकृति के द्वारा प्राकृत वस्तुओं की नकल यथावत् सी होती है। चित्रकला इसका अच्छा उदाहरण है। उनके अनुसार यह दृश्यमान संसार (अर्थात् व्यवहार जगत्) वास्तविक वैचारिक (आइडिअल) जगत् की प्रतिकृति है। उदाहरण स्वरूप जिस कुर्सी पर आप बैठे हुए है, उसका निर्माण किसी बढई ने उस आदर्श (नमूने) के अनुसार किया जो उसको दिया गया था। प्लेटो का तर्क इस प्रकार है यह व्यवहार जगत् वास्तविक जगत् की नकल है। चित्र के द्वारा उसकी नकल और भी अधिक नकल है। नकल तो नकल ही होती है। चित्रकला नकल की नकल है अर्थात् दुगुनी नकल है। कोई भी कला, नकल की नकल होने के कारण हेय है। अतएव हमें उसकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। द्वितीयतः, कविता शृंगार और सौन्दर्य की भावना के कारण श्रेय से दूर रहती है, और करुणा आदि कटुभाव भी चित्त को विगलित या उद्वेलित करते है। प्लेटो के लिए काव्य का आकर्षक, सौन्दर्य-पूर्ण, प्रेय या पवित्र होना कोई मूल्य नहीं रखता। उनके लिए साहित्य (या कला) का मूल्य तब तक है, जब तक वह मनुष्य को अच्छा नागरिक बनाने के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। अतएव होमर तथा हिसियड के काव्यों का बहिष्कार होना चाहिए और त्रासद और कामद का निष्कासन भी। किन्तु यदि किसी काव्य में देवताओं की स्तुतियाँ अथवा श्रेष्ठ व्यक्तियों की प्रशस्तियाँ हों, तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते है कि प्लेटो के अनुसार काव्य या तो मिथ्या है, या कदाचार का प्रेरक है, अतएव हेय है।

हमारा विनम्र निवेदन है कि नकल से सदा हानि ही होती हो, यह बात ठीक नहीं। हमे अपने-अपने बच्चो, मित्रों और सम्बन्धियों के फोटों में कितनी रुचि रहती है, यद्यपि हम सब जानते है कि हममे और हमारे फ़ोटो में कितना अन्तर है। फिर भी वे सुखद और उपादेय है।

अरस्तू का उत्तर

अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटो के आक्षेपो का जो सुन्दर उत्तर दिया है, वह इस प्रकार है : १—काव्य-प्रकृति की निरी प्रतिकृति (हूबहू नकल) नही। यह अनुकरण का एक रूप अवश्य है, पर यह अनुकरण उस प्रकरण का नही जैसा (प्लेटो के अनुसार) चित्रकला का; यह अनुकरण संगीत या नृत्य का सा है।

क्या काव्य प्रकृति का ऐसा अनुकरण है, जैसा दर्पण मे किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब ? यदि ऐसी बात होती, तो निस्सन्देह काव्य हमें कोई नयी बात न दे सकता था। वास्तविकता तो यह है कि हम काव्य से आनन्द इस कारण प्राप्त करते है कि इसके द्वारा हमे वह बात प्राप्त होती है, जो प्रकृति से उपलब्ध नहीं होती। काव्य में अनुकरण का माध्यम भाषा है और इसी से कवि का सम्बन्ध है।

अनुकरण का विषय है 'क्रियाशील मनुष्य' केवल, 'मनुष्य' नही; अर्थात् कवि का विषय वे बाते या घटनाएँ है जो मानव-स्वभाव से संबद्ध है और मानव-जीवन में घटित होती रहती है।

काव्यस्थ अनुकृति केवल नकल नही। हमें प्रकृति की नकल की आवश्यकता नहीं; क्योंकि प्रकृति तो स्वयं हमारे सामने उपस्थित रहती है, अतएव हमें आवश्यकता है प्रकृति की संभावनाओं के काल्पनिक निर्माण की। प्लेटो समझते है कि कविता बाह्य संसार की सीधी-सादी और प्रत्यक्ष नकल है, पर यह बात ठीक नही; क्योकि कवि अपनी कल्पना के द्वारा सर्वप्रथम प्रकृति से प्रेरणा ग्रहण करता है, तदनन्तर काव्य, भाषा के द्वारा, इस कल्पना-पूर्ण प्रेरणा की अनुकृति करता है। अरस्तू कला की प्रेरणा में विश्वास करते है; उनके अनुसार कविता अनुभूतिकी अभिव्यक्ति है। इसमें सन्देह नही कि मानव की अनुभूति का आधार प्रकृति है; और कवि 'प्रकृति पर आधृत अनुभूति' को भाषा के द्वारा व्यक्त करता है, वह केवल 'प्रकृति' को व्यक्त नहीं करता।

२—प्लेटो का द्वितीय आक्षेप था कि कविता मूलतः दूषित और कदाचार की जननी है। प्लेटो के इस आक्षेप का उत्तर अरस्तू ने 'विरेचन' की कल्पना के द्वारा उपस्थित किया है। उन्होने त्रासद की परिभाषा में इसका उल्लेख किया है, जिसकी

चर्चा कुछ विस्तार से आगे यथास्थान की जायगी। यहाँ यह कहना पर्याप्त होगा कि मानव स्वभाव में त्रास और करुणा दो प्रधान वासनाएँ होती है, जिनसे मानव जीवन कलुषित रहता है। त्रासद के प्रेक्षण से ये दोनों वासनाएँ प्रेरित होती और शुद्ध हो जाती हैं।

इस प्रकार अरस्तू ने अपने गुरुदेव के आक्षेपों का उत्तर देते हुए यह बताया है कि कविता न तो प्रकृति की हूबहू नकल है और न उसके द्वारा मानव की हानि होती है। प्रत्युत काव्य-कला वह कला है जो भाषा के माध्यम से प्रकृति-प्रदत्त सामग्री का पुनर्निर्माण करती, चिरन्तन सत्य को उपस्थित करती एवं मनोवेगो को शुद्ध भी करती है।

त्रासद की परिभाषा

परिभाषा

अरस्तू ने अपने काव्य-शास्त्र मे त्रासद की जो परिभाषा उपस्थित की है, वह यह है : "त्रासद किसी गभीर स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों मे भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त, सभी प्रकार के आभरणो से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान के रूप में न होकर कार्य-व्यापार के रूप में होती है और जिसमे करुणा तथा त्रास के उद्रेक के द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।"[1]

परिभाषा का विश्लेषण

त्रासद की उक्त परिभाषा का विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है।

१. जाति : अनुकृति=अनुकरण;

२. व्यावर्त्तक : (ऐसे) कार्य की, जो

---

१. एस. एच. बुचर ने 'एरिस्टोटिल्स थिअरॉरि ऑव पोइट्री एण्ड फाइन आर्ट' में अरस्तू की इस परिभाषा को अंग्रेजी शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है, "Tragedy is an imitation of an action that is serious, complete, and of a certain magnitude; in language embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in separate parts of the play; in the form of action, not of narrative; through pity and fear, effecting the proper katharsis or purgation, of these emotions". पृ०, २४९

क. गम्भीर, स्वतःपूर्ण (=कल्याणमय उद्देश्य के लिए निरपेक्ष)

ख. कार्य की (=अभिनेय कृति की, महाकाव्यादि की भाँति केवल वर्णन की नहीं)

ग निश्चित आयाम से युक्त= न मुक्तक की भाँति संक्षिप्त न महाकाव्य की भाँति विस्तृत,

घ. इन मनोविकारो का उचित विरेचन=भय-करुणा के उद्रेक से भय और करुणा की शुद्धि;

ङ. भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणो से अलकृत भाषा के माध्यम से।

परिभाषा का खण्डान्वय

त्रासद क्या है ? त्रासद अनुकृति (अनुकरण) है। किसकी अनुकृति ? कार्य की। कैसे कार्य की (अनुकृति) ? गम्भीर तथा स्वतः पूर्ण कार्य की। यह कार्य किस आयाम का है ? निश्चित आयाम का (अर्थात् जो मुक्तक की भाँति न अत्यन्त छोटा होता है और न उपन्यास अथवा महाकाव्य की भाँति अतिविस्तृत ही)। यह अनुकृति किस रूप मे ? कार्य-व्यापार (अभिनय) के रूप मे, (महाकाव्य, उपन्यास, खण्डकाव्य, कहानी, निबन्ध आदि के समान) समाख्यान (अर्थात् केवल वर्णनात्मक) रूप मे नही। इस अनुकृति का माध्यम क्या है ? इसका माध्यम है : नाटक के भिन्न-भिन्न भागो मे भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणो से अलकृत भाषा (अर्थात् भाषामय कलात्मक अभिव्यक्ति)। यह अनुकृति क्यो अथवा किसलिए ? करुणा तथा त्रास के उद्रेक के द्वारा करुणा और त्रास के विरेचन के लिए। कितना अथवा कैसा विरेचन ? उचित विरेचन।

अनुकरण

प्राक्कथन

अरस्तू के अनुसार काव्य एक कला है और अनुकरण काव्य की आत्मा है। संगीत और चित्र कलाएँ है, काव्य भी कला है, जिसके विभिन्न रूप होते है, यथा : महाकाव्य, त्रासद, कामद, रौद्रस्तोत्र (डिथिरैम, dithyramb)। सभी कलाओं का आधार 'अनुकरण' है। कला जाति है, काव्य उसके अन्तर्गत उपजाति अथवा प्रजाति है; और काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य त्रासद आदि विशेष है। "काव्य, भाषा के माध्यम से (जो गद्य और पद्य दोनों की हो सकती है), प्रकृति का अनुकरण है"। आधुनिक शब्दावली में, भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना के द्वारा जीवन के पुन: सर्जन को काव्य कहते है। अतएव यह आवश्यक प्रतीत होता है कि 'अनुकरण' के स्वरूप को स्पष्ट किया जाय।

'अनुकरण' का मौलिक अर्थ

यूनानी भाषा के 'मिम्मिसिस (mimesis')' शब्द का अंग्रेजी-अनुवाद 'इमिटेशन' है, जिसका हिन्दी-अनुवाद 'अनुकरण' (अथवा 'अनुकृति') है। अरस्तू से पहले भी 'मिमिसिस' शब्द का प्रयोग होता था, किन्तु इसका अर्थ था 'प्रकृति की यथावत् प्रतिकृति' अथवा 'कुदरत की हू-बहू नकल'। प्लेटो ने काव्य को नकल की नकल बताया है, जैसा कि हम देख चुके है। चित्रकार रूप-रग के द्वारा, अभिनेता वेश-भूषा, आगिक चेष्टा तथा वाणी आदि के द्वारा, और कवि भाषा के द्वारा जीवन और जगत् का अनुकरण करते हैं। अरस्तू ने अनुकरण (मिमिसिस) शब्द को तो स्वीकार किया, किन्तु उसको एक नवीन अर्थ प्रदान किया। बुचर के शब्दो मे अरस्तू के अनुसार 'अनुकरण' का अर्थ है "सादृश्य विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन"। कला वस्तु का चित्रण उस प्रकार का करती है, जिस प्रकार की वह वस्तु इन्द्रियो को प्रतीत होती है। कला का सम्बन्ध वस्तु के वास्तविक रूप से नही। वस्तु के वास्तविक रूप से तो विज्ञान अथवा इतिहास का सम्बन्ध है। कला का सम्बन्ध तो वस्तु के उस रूप से है, जो इन्द्रियों को प्रतीत हो सकता है।

'मिमिसिस'

जैसा कि संकेत किया जा चुका है, अरस्तू प्रकृति की यथावत् प्रतिकृति को ही अनुकरण (मिमिसिस) नही मानते। प्रकृति दो प्रकार की होती है, बाह्य और आभ्यन्तर। पर्वत, नदी, वृक्ष, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, गगन, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पुरुष, नारी, शिशु सभी प्रकृति के बाह्य रूप है; और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, संकल्प-विकल्प, तर्क-वितर्क, कल्पना आदि आभ्यन्तर प्रकृति के रूप है। अरस्तू के अनुसार कवि दोनों प्रकार की प्रकृतियों का अनुकरण करता है। प्रकृति के चार रूप और हो सकते है—

१. वास्तविक (अथवा पारमार्थिक), २. प्रतीयमान, ३. संभाव्य और ४. आदर्श। दर्शन, इतिहास, पदार्थ-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, जीव-विज्ञान आदि का सम्बन्ध प्रकृति के वास्तविक रूप से है; किन्तु, अरस्तू के अनुसार, काव्य का सम्बन्ध प्रकृति के अन्य तीन रूपों से है, अर्थात् प्रकृति के प्रतीयमान, संभाव्य और आदर्श रूपों से। कवि उस प्रकृति का चित्रण करता है जैसी वह उसकी इन्द्रियों को प्रतीत होती है, अथवा जैसी वह उसकी इन्द्रियो को (भविष्य मे) प्रतीत हो सकती है, अथवा जैसी वह होनी चाहिए। कवि उस प्रकृति का चित्रण भी कर लेता है, जो उसकी कल्पना के द्वारा सम्भव है। इसी भाँति कवि आभ्यन्तर प्रकृति के भी प्रतीयमान, संभाव्य एवं आदर्श का वर्णन करता है। इस प्रकार हम देखते है कि अरस्तू के 'मिमिसिस' मे 'सर्जना' का अभाव नहीं था।

अरस्तू की पुष्टि

प्रो० गिल्बर्टमरि ने अरस्तू के मत की पुष्टि यह बताकर की है कि यूनानी शब्द 'पोएतेस' का व्युत्पत्ति-परक अर्थ है 'कर्त्ता' अथवा 'रचयिता' और 'जन-साधारण की भाषा में कला के लिए 'रचना' या 'करण' शब्द का प्रयोग होता था। टीकाकार पॉट्स के अनुसार, मिमिसिस='ऐसे प्रभाव का उत्पादन जो किसी स्थिति, अनुभूति अथवा व्यक्ति के शुद्ध प्रकृत रूप से उत्पन्न होता है'; और एटकिस के अनुसार अरस्तू का मिमिसिस है 'सर्जनात्मक दर्शन की क्रिया' अथवा 'प्रायः पुनः सर्जन'। स्कॉट जेम्ज के शब्दो मे, 'अरस्तू के काव्य-शास्त्र मे, अनुकरण से अभिप्राय है साहित्य में जीवन का वस्तुपरक अंकन, जिसे हम अपनी भाषा में जीवन का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण कह सकते है"।[1]

अरस्तू के 'मिमिसिस' के सम्बन्ध में निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि

---

१. अरस्तू का काव्य-शास्त्र, डॉ० नगेन्द्र की भूमिका, पृ० ७

प्रथमतः, काव्यात्मक अनुकरण का आधार प्रकृति अथवा जीवन का अंतरंग रूप भी होता है, केवल बहिरंग रूप ही नहीं, अर्थात् अनुकरण के आधार अनुभूति, विचार, कल्पना आदि भी हैं। द्वितीयत, काव्य के लिए 'बाह्य' और 'अंतरंग' में अंतरंग की प्रधानता है, क्योंकि प्रकृति के प्रतीयमान रूप को अंतरंग ही कहा जा सकता है। तृतीयत', काव्य का सम्बन्ध प्रकृति के इन तीन रूपों से ही है—प्रतीयमान रूप (जैसा अनुकर्त्ता को प्रतीत होता है), सम्भाव्य रूप (जैसा वह हो सकता है), और आदर्श रूप (जैसा वह होना चाहिए)।

भारतीय 'अनुकरण' और यूनानी 'मिमिसिस'

अरस्तू से पूर्व भारतीय 'अनुकरण' और यूनानी 'मिमिसिस' मे कोई भेद न था। दोनो का ही अर्थ है - प्रकृति की यथावत् अनुकृति अथवा कुदरत की हू-बहू नकल। प्लैटो ने 'मिमिसिस' को उसी अर्थ में ग्रहण किया जो प्रचलित था और जिसके आधार पर उन्होंने काव्य को 'नकल की नकल' कह कर हेय समझा था। अरस्तू ने 'मिमिसिस' के अर्थ को मरोड कर उसके अर्थ में नवीनता का समावेश कर दिया। उनके टीकाकारों और आलोचको ने उनका समर्थन इस सुझाव के द्वारा किया, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, कि यूनानी शब्द 'पोइतेस' का व्युत्पत्ति-परक अर्थ 'कर्त्ता' अथवा 'स्रष्टा' है। अतएव उन्होने 'मिमिसिस' के प्रतीयमान, संभाव्य एवं आदर्श रूप को सगत घोषित किया। भाष्यकार सदा से इस प्रकार के अर्थ-स्वातंत्र्य का उपभोग करते आये है। भारत में भी एतद्-विषयक स्वातंत्र्य रहा है। यह सबको विदित है कि बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' के भाष्यकार शकर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ और मध्व सभी विभिन्न निष्कर्षो पर पहुँचे है। ये आचार्य प्राचीन आधार को इस कारण ग्रहण करते रहे, जिससे पाठक उनके नवोन्मेष का विरोधी प्रारम्भ से न बन जाय। वे अपने भाष्यो मे प्राचीन आधार पर नवीन बाते कहते रहे। अरस्तू ने भी ऐसा ही किया, यद्यपि उनके काव्य-संबंधी निष्कर्ष, 'मिमिसिस' के नवीन अर्थ के कारण, बड़े महत्त्वपूर्ण हो गये है।

भारत के प्राचीन आचार्य 'अनुकरण' का सीधा-सादा अर्थ ग्रहण करते रहे। बालक अपनी लाठी पर चढकर और हाथ में डण्डी लेकर वीर सैनिक का अनुकरण करता है। अभिनेता भी मूल पात्रों का उसी प्रकार, किन्तु कलात्मक, अनुकरण करता है। अभिनेता ही नही, कवि भी अनुकरण करता है; अभिनेता का अनुकरण बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार का होता है। मेरे एक छात्र ने 'कुन्ती' का अभिनय किया, किन्तु अभिनय समाप्त होने के पश्चात् भी उसमे कुन्तीत्व बना रहा। कई

मास तक अनजाने उसके खड़े होने और बोलने की थोड़ी-बहुत विधा नारी की सी रही। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अभिनेता का अभिनय बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार का होता है, किन्तु कवि का अभिनय (अथवा अनुकरण) केवल आभ्यन्तर रहता है। वह मन ही मन नाचता और गाता है, उछलता और कूदता है। यदि क्रोचे की विचारधारा का प्रयोग किया जाय तो हमे कहना चाहिये कि कवि को सहजानुभूति होती है, जिसको वह अनुभूति के पश्चात् शब्द के माध्यम से कभी-कभी (सदैव नही) अभिव्यक्त कर देता है। जिस रूप मे अरस्तू ने 'मिमिसिस' को उपस्थित किया है, उसके अनुसार सभी काव्य (चाहे वह महाकाव्य हो, खण्डकाव्य हो, कहानी हो, उपन्यास हो, गीतिकाव्य हो या त्रासद हो) कवि का मूर्त्तिमान लास्य एवं उल्लास है और कभी-कभी तो वह स्वयं शेक्सपियर अथवा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति रगमच पर भी अभिनय करने लगता है।

भरतमुनि ने नाटक को लोकस्वभाव का अथवा लोकवृत्त का अनुकरण माना है : 'लोक स्वभावानुकरणाच्च नाट्यसत्वमीप्सितम्' 'लोक वृत्तानुकरण नाट्यमेतन्मयाकृतम्' १,१०९। धनञ्जय ने यही बात इन शब्दो मे कही। 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्, रूपक तत्समारोपात्'१, ७,। भोज ने लिखा है 'अत अभिनेतृभ्य कवीन् एव बहु मन्यामहे अभिनयेभ्य काव्यमेवेति'। अर्थात् हम कवियो को अभिनेताओ से और काव्य को अभिनय से बड़ा मानते है। कलाओ मे छोटा-बडा मानना अधिक सगत प्रतीत नही होता। देशकाल के अनुसार अवरता-प्रवरता मानी जाती है। एक समय था जब मल्लयुद्ध अच्छा समझा जाता था, भीमसेन और दुर्योधन अच्छे मल्ल थे, किन्तु अंग्रेजकालीन भारत मे कुश्ती लड़ने को नाक-भौ सिकोड कर 'अखाडेबाजी' कह दिया जाता था। भूषण की कविता को भटैती कह देना कुछ लोगो के लिए फैशन हो गया था। इस कारण भोज का यह कथन कि अभिनय की अपेक्षा काव्य श्रेष्ठ है, पूर्वाग्रह-ग्रस्त प्रतीत होता है। अपने-अपने स्थान पर दोनो ठीक है। भगवान् शिव नटराज है तो भगवान् कृष्ण नटवर है। अरस्तू के अनुसार 'मिमिसिस' मे भी 'सर्जना' है। अतएव अभिनव गुप्त के 'काव्यनिर्माणक्षमत्वं,' मम्मट के 'नवरसरुचिरा निर्मितिमादधती कवेर्भारती जयति' (१,१), जगन्नाथ के 'रमणीयार्थप्रतिपादक. शब्द. काव्यम्', अग्निपुराणकार के 'यथास्मै रोचते विश्वं तथेद परिवर्त्तते' ३,१०, इन वचनो मे 'निर्माण', 'निर्मिति', 'प्रतिपादक', 'परिवर्त्तन' आदि शब्द सर्जन-वाचक है, और अरस्तू के 'मिमिसिस' मे भी 'सर्जन' है, अतएव अरस्तू के और भारतीय कवियो के दृष्टिकोणो मे कोई वास्तविक अन्तर नही।

त्रासद के अंग

(क) कथा-वस्तु

त्रासद के अंग

त्रासद के छः अनिवार्य अङ्ग होते है—कथानक, चरित्र-चित्रण, पदरचना, विचारतत्त्व, गीत और दृश्यविधान। ये सभी अनुकरण के रूप है; इनमें से कथानक, चरित्र-चित्रण और विचारतत्त्व अनुकरण के विषय है, दृश्यविधान अनुकरण के माध्यम है; और पद-रचना तथा गीत अनुकरण की विधियाँ है।

कथा-वस्तु

घटनाओं के विन्याम को कथावस्तु कहते है। यह त्रासद की आत्मा है। कार्य-व्यापार को ही जीवन कहते है, इसलिए जीवन के अनुकरण में कार्य-व्यापार की प्रमुखता है। कार्यो पर ही काव्य का सुख-दुःखात्मक प्रभाव निर्भर रहता है, अतः त्रासद का साध्य है—कार्य-घटना। 'चरित्र' तो कार्य-व्यापार के साथ गौण रूप से रहता है, इसलिए त्रासद चरित्र-चित्रण के बिना तो सम्भव है, पर कार्य-व्यापार के बिना नही। जो करुण-प्रभाव कथानक तथा घटनाओ के कलात्मक गुंफन से उत्पन्न होता है, वह (प्रभाव) अत्युत्कृष्ट चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी भाषण, विचार और पदावली के द्वारा उत्पन्न नहीं होना। कथानक का सफल निर्माण सरल कार्य नहीं। नये कलाकार परिष्कृत भाषा और चरित्र-चित्रण मे कुशलता को शीघ्रता से प्राप्त कर लेते है, किन्तु सफल कथानक के निर्माण मे उन्हे समय लगता है। रागात्मक तत्त्व, स्थिति विपर्यय तथा सप्तविध अभिज्ञान कथानक के अग ही माने गये है।

जिस प्रकार भारतीय काव्य-शास्त्र मे प्रख्यात, उत्पाद्य, और मिश्र कथा-वस्तु के ये तीन आकार माने गये है उसी प्रकार अरस्तू ने भी तीन प्रकार माने है—इतिहास-परक, कल्पना-परक, और दंतकथा-परक, इन तीनों मे तीसरा प्रकार सर्व-श्रेष्ठ है, क्योकि दन्तकथाओं मे सत्य और कल्पना दोनों का सुन्दर समन्वय रहता है। अरस्तू के शब्दो मे, "इसका कारण यह है कि जो सम्भव है, वही विश्वसनीय है, और जो हुआ नही, उसकी सम्भावना मे हम एकदम विश्वास नही कर पाते, परन्तु जो हो चुका है वह तो स्पष्ट ही सम्भव है, अन्यथा होता कैसे ?"

कथानक का विस्तार

कथावस्तु का आकार इतना होना चाहिए कि सरलता से स्मृत रखा जा सके। वह न तो (जीवाणु जैसा) इतना सूक्ष्म हो कि प्रेक्षक के मन में उसका बिम्ब न बन

सके और न (हिमालय जैसा) इतना विशाल हो कि दर्शक उसके सौन्दर्य को समग्र और स्पष्ट रूप में ग्रहण न कर सके। अतः इसकी सर्वांग और स्पष्ट अभिव्यक्ति आवश्यक है। उसमे जीवन की परिणति के लिए भी अवकाश रहना चाहिए, जिससे "घटनाचक्र के अन्तर्गत सम्भवता या आवश्यकता के नियम के अनुसार दुर्भाग्य की परिणति सौभाग्य मे अथवा सौभाग्य की परिणति दुर्भाग्य मे दिखायी जा सके"। "त्रासद को यथा-सम्भव सूर्य की एक परिक्रमा या इससे कुछ अधिक समय तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु महाकाव्य के कार्य-व्यापार मे काल की सीमा का कोई बन्धन नही है"। अरस्तू के उक्त अन्तिम वाक्य का अभिप्राय बहुत काल से विवादग्रस्त रहा है, जिसकी चर्चा 'सकलन-त्रय' नामक परिच्छेद मे की जायगी।

कथा-वस्तु के गुण

कथा-वस्तु के छः गुण होते हैं—एकान्विति, पूर्णता, सम्भवता, सहज-विकास, कुतूहल, और सामान्यीकरण।

(क) **'एकान्विति'** से तात्पर्य है कार्य का ऐक्य, अर्थात् कथानक मे ऐसी घटनाओं का समावेश नहीं होना चाहिए, जिनका कोई सम्बन्ध मुख्य कथा से न हो।

(ख) **'पूर्णता'** से तात्पर्य है कार्य की अवस्थाएँ। भारतीय काव्य-शास्त्र मे पाँच संधियाँ और पाँच अवस्थाएँ मानी गयी है (प्रारम्भ, प्रयत्न आदि), किन्तु अरस्तू के अनुसार पूर्ण कथानक की तीन अवस्थाएँ होती है—आदि, मध्य, और अवसान। "पूर्ण वह है जिसमें आदि, मध्य और अवसान हो। आदि वह है जो किसी हेतु का परिणाम नही होता, परन्तु जिसके पश्चात् स्वभावत कुछ विद्यमान या घटित होता है। इसके विपरीत अवसान उसे कहते है जो स्वयं अनिवार्य रूप से या नियम से किसी अन्य घटना के पश्चात् रहता है, किन्तु जिसके पीछे कुछ नहीं रहता। और मध्य वह है जो स्वयं किसी घटना के पीछे घटित होता है और अन्य घटना को जन्म देता है"।

(ग) **संभवता** – 'संभवता' कथानक का आवश्यक गुण है। जो हो चुका है वही पर्याप्त नहीं, जो हो सकता है वह भी स्पृहणीय है, किन्तु जो नहीं हो सकता वह स्पृहणीय नही। असम्भव घटनाओ को मनुष्य का मन स्वीकार नहीं कर सकता, किन्तु केवल घटित तथ्य भी इतिहास के लिए उपयुक्त होते है, काव्य के लिए नहीं।

(घ) **सहज विकास**—संवृति, विधृति, स्थिति-विपर्यय, अभिज्ञान आदि का उद्भव कथानक मे से ही होना चाहिए, और यह उद्भव आकस्मिक रूप से नही, अपितु

सहज रूप से होना चाहिए। जब एक घटना दूसरे से स्वाभाविक अर्थात् कार्य-कारण अथवा अन्य किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध रहती है तो श्रोता या प्रेक्षक उसमें रुचि लेता है। यांत्रिक अवतारणा (ड्यूज एक्स मैशीना, यथा संकट-काल में किसी देवता का आकाश से पृथ्वीलोक पर सहसा उतर आना) तार्किक मन को अधिक नहीं रुचता।

(ङ) **कुतूहल**—कथा की रोचकता 'कुतूहल' पर निर्भर है। कुतूहल किसे कहते है ? कुतूहल आकस्मिकता से उत्पन्न होता है। किन्तु ऐसी आकस्मिकता तब अधिक प्रभाव डालती है, जब कि घटनाओं में कार्य-कारण की पूर्वापरता भी हो। 'घटनाओ की आकस्मिकता के पीछे, प्रच्छन्न रूप मे ही सही, कार्यकारण की पूर्वापरता रहनी चाहिए—उनमे संयोग के साथ प्रयोजन का भी आभास होना चाहिए ···किसी घटना की अचानक उपस्थिति पर हम उसकी प्रतीयमान अकारणता से विस्मय का अनुभव करते है, किन्तु शीघ्र ही हमे यह प्रतीति हो जाती है कि इस आकस्मिकता के पीछे भी कार्य-कारण की शृंखला विद्यमान है'।[1]

(च) **सामान्य**—कविता मानव-स्वभाव की संभावनाओं का अर्थात् मानव-स्वभाव के आकस्मिक गुणो की अपेक्षा आवश्यक गुणों का प्रतिनिधित्व करती है। कविता मे घटनाओं की प्रत्यक्ष पूर्वापरता नही होती, किन्तु उसमें विचारो की तर्कसगत एव कल्पनागम्य पूर्वापरता अवश्य रहती है, अतएव उसमें से निरी आकस्मिकता का बहिष्कार तो होता है, किन्तु उसके पात्र और घटनाओं मे अन्विति और सार्थकता अवश्य होती है। यूनानी कला मे 'आदर्श' 'वस्तु' का विरोधी न था, उसका परिपूरक था। इस कारण कवि, क्रीडास्थली अथवा युद्धस्थली के विशिष्ट विजेता को और तत्सम्बन्धी घटना को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे चित्रित करके, पाठक की रुचि को अवसर-विशेष और वैयक्तिक स्तर से ऊपर उठा देता है।

कथानक के भेद

कथानक के दो भेद होते है—सरल और जटिल।

(क) '**सरल** कथानक मे कार्य व्यापार एक होता है, अर्थात् उसमें किसी प्रकार की द्विधा नही होती, वह अन्तिम घटना की ओर सीधा और अकेला बढ़ता है और उसकी परिणति के लिए न तो स्थिति-विपर्यय की और न अभिज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। जटिल कथानक का व्यापार जटिल होता है।

---

१. अरस्तू के 'काव्य-शास्त्र' पर डॉ० नगेन्द्र की भूमिका, पृ० ७४

(ख) **जटिल कथानक** के तीन अंग होते है—स्थिति-विपर्यय, अभिज्ञान और यातना-दृश्य।

(अ) 'स्थिति-विपर्यय' का आशय ऐसे प्रसंग से है जिसमे कर्त्ता के अनजाने उसकी आशा और इच्छा के विपरीत स्थिति उलट जाती है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार, 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' मे दुर्वासा-शाप और मुद्रिका-लोप इसी प्रकार के प्रसंग है।

(आ) 'अभिज्ञान' को सत्य अथवा रहस्य का उद्घाटन कह सकते है। अरस्तू के अनुसार, "इसके कारण उन लोगो के मन मे प्रेम भाव जाग्रत हो जाता है, जिनके सौभाग्य का वर्णन कवि करना चाहता है, और ऐसे लोगों के मन मे घृणा उत्पन्न हो जाती है जिनके दुर्भाग्य का वर्णन कवि करना चाहता है।" 'अभिज्ञान' के सात रूप बताये गये है—स्थिति विपर्यय से सयुक्त अभिज्ञान, चिह्नो द्वारा अभिज्ञान, आयोजित अभिज्ञान, स्मृति-जन्य अभिज्ञान, वितर्क द्वारा अभिज्ञान, मिश्र अभिज्ञान और स्वाभाविक अभिज्ञान। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार भारतीय साहित्य में 'स्मृति-जन्य अभिज्ञान' का उदाहरण 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का वह स्थल है, जबकि दुष्यन्त को खोयी अगूठी देखने से शकुन्तला का स्मरण हो आता है और कथा की गति बदल जाती है। 'उत्तर रामचरित' में राम अपने पुत्र लव-कुश का अभिज्ञान 'वितर्क' के द्वारा करते है। द्रौपदी-स्वयंवर के अवसर पर अर्जुन का 'स्वाभाविक अभिज्ञान' होता है। स्वाभाविक अभिज्ञान को इसलिए सर्वश्रेष्ठ समझा गया है कि कार्य-व्यापार का कर्त्ता और भोक्ता व्यक्ति ही होता है। 'स्थिति-विपर्यय' और 'अभिज्ञान' का आधार आकस्मिकता है।

(ग) यातना का दृश्य तीसरा अंग है, जिसमे घातक या कष्टप्रद व्यापार होते है, यथा रंगमंच पर मृत्यु, चोट, घाव, शारीरिक पीड़ा।

कथा के भाग

प्रत्येक त्रासद के दो भाग होते है—सवृति और विवृति। (क) **संवृति** (उलझन) से अरस्तू का तात्पर्य ऐसे कथा-भाग से है, जिसका विस्तार कार्य-व्यापार के आरम्भ से उस स्थल तक होता है, जहाँ कथानक नायक को उत्कर्ष की ओर मोड़ लेता है; और (ख) **विवृति** (सुलझन) का विस्तार इस परिवर्त्तन के आरम्भ से कथा के अन्त तक होता है। संवृति और विवृति कथा-कुतूहल के पूर्व और उत्तर भाग होते है। इस विभाजन के आधार पर पश्चिमी नाट्यशास्त्र मे कथा-वस्तु की इन पाँच अवस्थाओं का विकास हुआ है—आरम्भिक घटना, कार्य-विकास, चरम घटना, निगति (विश्वास) और अन्तिम फल। भारतीय नाट्यशास्त्र की 'अवस्थाओं' और 'सन्धियों' से इनकी तुलना, डॉ० नगेन्द्र के अनुसार, इस प्रकार हो सकती है : संवृति=

आरम्भ, यत्न, और प्राप्त्याशा; तथा मुख, प्रतिमुख और गर्भ सन्धि। विवृति= नियताप्ति और फलागम; तथा अवमर्श सन्धि और निर्वहण सन्धि।

त्रासद के संघटन-सम्बन्धी अंग

ये अंग चार है—१. **प्रस्तावना**, जो कथावस्तु के लिए भूमिका प्रस्तुत करती और गायकवृन्द के पूर्वगान से पहले रहती है; २. **उपाख्यान**, वह जो कथावस्तु का अंग होता हुआ भी अपने आप मे पूर्ण सा प्रतीत होता है; ३. **उपसंहार**, 'त्रासद का वह पूरा अंग है जिसके पश्चात् कोई वृन्दगान नही होता'; ४. **वृन्दगान**, अर्थात् गायकों का वह सनृत्य एव सामूहिक गान जिसमें प्राय· त्रासदीय घटनावली की भावात्मक समीक्षा रहती है। डॉ० नगेन्द्र के मत से 'वास्तव में वृन्दगान नाटक का सहज अग न होकर एक अत्यन्त अस्वाभाविक अंश होता है। नाटक की मूल कथा से इसका कोई सहज सम्बन्ध नही रहता, यह प्राय: उसके विकास-क्रम में बाधा ही डालता है। फिर भी परम्परा एवं सगीताकर्षण के कारण यह नाटक का अंश बना रहा है, अतएव इसे कथानक का यथासम्भव अभिन्न अंग होना चाहिए।'

(ख) त्रासद का नायक

नायक के गुण

त्रासद के नायक मे निम्नलिखित गुण होने चाहिएँ. १. अभावात्मक गुण : (क) वह न खल हो, और (ख) न नितान्त सज्जन ही। २. भावात्मक गुण : (क) वह मनुष्य की स्वाभाविक भावनाओं से युक्त हो, (ख) वह वैभवशाली, यशस्वी और कुलीन हो, किन्तु (ग) वह कुछ सदोष भी हो। त्रासद का लक्ष्य विरेचन है; करुणा का पात्र वही व्यक्ति हो सकता है जो सर्वथा निर्दोष तो न हो, पर उसका कष्ट उसकी पात्रता से अधिक हो। यदि सर्वथा निर्दोष मनुष्य का परिवर्तन सम्पत्ति से विपत्ति की ओर हो, तो उस परिवर्तन से हममें न तो करुणा का और न त्रास का ही उदय होता है, उसके दुर्भाग्य से हमें धक्का अवश्य लगता है, यदि सर्वथा दोषी मनुष्य विपत्ति से सम्पत्ति को प्राप्त हो, तो भी हमारे भीतर त्रास-करुणा का उदय नही होता, प्रत्युत अन्याय के प्रति क्रोध ही उत्पन्न होता है। यदि दुष्ट मनुष्य सम्पत्ति से विपत्ति को प्राप्त हो, तो हमें सदाचारिक सन्तोष तो होगा, पर त्रास-करुणा का उदय न होगा। यदि कोई सज्जन विपत्ति से सम्पत्ति को प्राप्त हो, तो भी हमारे हृदय में त्रास-करुणा का उदय न होगा। अतएव, अरस्तू के अनुसार, त्रासद का आदर्श नायक वह है जो सदा-

चारी एवं न्यायी तो है, पर सर्वथा निर्दोष नहीं, और जो ख्यात तथा उच्च होते हुए भी किसी आचार-सम्बन्धी त्रुटि के कारण विपत्ति में पड़ जाता है।

चरित्र-चित्रण

चरित्र वह है जिसके आधार पर हम अभिनेताओं मे कुछ गुणों का आरोप करते है; यह वह है जो पात्र की रुचि-विरुचि का प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजन को व्यक्त करता है। अरस्तू ने छ आधारभूत गुणों का विवेचन किया है—१. भद्रता, २. शौर्य, ३. जीवनानुरूपता (अथवा परम्परागति) अर्थात् वह गुण जो वास्तविक जीवन के अथवा परम्परागत धारणाओं के अनुकूल हो, ४. एकरूपता, अर्थात् स्वभाव की स्थिरता। किसी पात्र के सम्बन्ध में कवि का दृष्टिकोण स्थिर और स्पष्ट होना चाहिए। डॉ० नगेन्द्र ने चरित्रसम्बन्धी दो और गुणो की ओर ध्यान आकृष्ट किया है—५. अवश्यम्भाविता (सम्भाव्य) और ६. असाधारणता, किन्तु अरस्तू ने इस विषय में 'चार' शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया है, अतएव ऐसा समझना ठीक रहेगा कि पाँचवा उक्त तीसरे का और छठा उक्त पहले का स्पष्टीकरण-मात्र है।

विचार-तत्त्व

अरस्तू के अनुसार 'विचार की आवश्यकता तब पडती है, जब किसी वक्तव्य को सिद्ध किया जाय या सामान्य सत्य का आख्यान किया जाय···विचार के अन्तर्गत ऐसा प्रत्येक प्रभाव आ जाता है जो वाणी के द्वारा उत्पन्न होता है, इसके उपविभाग हैं—प्रमाण और प्रतिवाद; करुणा, त्रास और क्रोध की उद्बुद्धि; अतिमूल्यन और अवमूल्यन'। स्पष्ट है कि उक्त 'विचार' के अन्तर्गत भावतत्त्व का भी उसी प्रकार समावेश है, जिस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र के 'विभाव' में विचार का समावेश समझा जा सकता है। घटना-संघटन एवं पात्रों के कथनोपकथन एव उद्देश्य में विचार निहित रहता है।

पदावली

पदावली=शब्द द्वारा अर्थाभिव्यक्ति, अर्थ-प्रतिपादक शब्द, 'डिक्शन'। भव्य उद्देश्य के अनुरूप त्रासद की भाषा भी भव्य होती है, अतएव उसमें अलंकृति, गरिमा और औचित्य का समन्वय रहता है।

गीत

त्रासद में गीत एक प्रकार का आभरण है, जो त्रासद में वृन्दगान के रूप में प्रयुक्त होता है; किन्तु इस वृन्दगान को, अरस्तू के अनुसार, सम्पूर्ण नाटक का अभिन्न अग होना चाहिए'।

दृश्य-विधान

दृश्य-विधान से तात्पर्य है 'रगमंच के साधनों का कुशल प्रयोग'। यह बाह्य साधन है और त्रासद के अंगो में सबसे कम कलात्मक है, जैसा किअरस्तू के इन शब्दो से स्पष्ट है : 'दृश्य-विधान कवि की अपेक्षा मच-शिल्पी की कला पर अधिक निर्भर रहता है. पर यह निश्चित है कि त्रासद के प्रबल प्रभाव की अनुभूति इस (दृश्य-विधान) से स्वतन्त्र भी होती है'[1] "त्रास और करुणा की उद्‌बुद्धि रगमच के प्रसाधनो से भी की जा सकती है, किन्तु वे कृति के आन्तरिक्त संघटन से भी उत्पन्न हो सकते है— यही पद्धति अधिक सुन्दर है और कवि की उत्कृष्टता की द्योतक है। कथानक का संघटन ऐसा होना चाहिए कि प्रेक्षण के बिना भी कथा के श्रवणमात्र से सहृदय भय से काँप जाय और करुणार्द्र हो उठे···रगविधान द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न करना उतना कलात्मक नही है और वह बाह्य साधनों पर भी निर्भर है। जो रंगमंच के साधनों का उपयोग भयानक की नही, वरन् विद्रूप की चेतना (भय के स्थान पर स्तम्भ) उत्पन्न करने के लिए करते है, वे त्रासद के प्रयोजन से नितान्त अनभिज्ञ हैं।"[2]

---

१. अरस्तू के 'काव्यशास्त्र', पर डॉ० नगेन्द्र की भूमिका, पृष्ठ ११६

२. अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० ३१-३६

संकलन-त्रय

(क) पश्चिमी मत

प्राक्कथन

सकलन, अन्विति, और यूनिटी पर्याय है। सकलन तीन प्रकार के माने जाते है—कार्य-संकलन (युनिटी ऑव एक्शन), स्थान-संकलन (यूनिटी ऑव प्लेस), और काल-सकलन (यूनिटी ऑव टाइम)। गत पृष्ठों मे कार्य-सकलन की चर्चा हो चुकी है और आगामी पँक्तियों में भी उसकी चर्चा होगी। 'स्थान-सकलन से तात्पर्य यह है कि, नाटक में, ऐसे किसी भी स्थान पर कार्य-व्यापार नही होना चाहिए, जहाँ नाट्य निर्दिष्ट समय में नाटक के पात्र यातायात करने मे असमर्थ हो'। अतएव नाटक का कार्य-व्यापार एक ऐसे नगर या एक स्थल तक सीमित हो जाना चाहिए, जहाँ सभी आवश्यक पात्रों का समावेश होता है। इस नियम का घोर पालन वहाँ द्रष्टव्य है, जहाँ एक ही कमरे मे राजा भोज से गंगा तेली तक का समावेश करवा दिया जाता था। इसी प्रकार काल-संकलन का तात्पर्य है कि नाटक की घटना को किसी निर्दिष्ट काल तक सीमित कर देना चाहिए।

'कथानक का विस्तार' नामक परिच्छेद में सकलन-त्रय का नामोल्लेख किया गया है। अरस्तू ने महाकाव्य और त्रासद का भेद बताते हुए यूनानी भाषा में लिखा है कि 'त्रासद को यथा-संभव सूर्य की एक परिक्रमा (एक दिन) या इसके कुछ अधिक समय तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु महाकाव्य के कार्य-व्यापार में काल की सीमा का कोई बन्धन नही है'। यही बात अंग्रेजी अनुवाद मे इस प्रकार कही गयी है : Epic poetry and tragedy differ, again, in their length; for tragedy endeavours, as far as possible, to confine itself to a single revolution of the sun, or but slightly to exceed this limit; where as the epic action has no limits of time. (Poetics, Ch. 5). इस उद्धरण में 'सूर्य की एक परिक्रमा' (a single revolution of the sun) इन शब्दों का

अर्थ विवादास्पद है। इस उद्धरण के बल पर कुछ टीकाकार काल-संकलन की निष्पत्ति करते है। अरस्तू ने कार्य-संकलन पर विशेष आग्रह किया है, यह तो निर्विवाद है; किन्तु अरस्तू के कुछ टीकाकार और आलोचक (अरस्तू के आधार पर ही) काल-संकलन को नहीं मानते।

कार्य-संकलन

अरस्तू ने नाटक मे कार्य-संकलन को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। नाटक का विस्तार आवश्यक रूप से उतना होना चाहिए जितने के द्वारा कथानक का सहज विकास दिखाया जा सके। यह दो रूप से होता है, अर्थात् नाटकीय घटनाओं मे कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना से, तथा एक लक्ष्य की ओर घटनाओ की उन्मुखता से। नाटक में किसी भी ऐसी घटना का वर्णन नहीं होना चाहिए। जिसका सम्बन्ध नाटक की मुख्य घटना से न हो। अतएव नाटककार के लिए उचित है कि वह अपनी रचना के आदि, मध्य, और अवसान को समन्वित रूप में उपस्थित करे। नाटक के जितने अंश होते है, उन सभी का पारस्परिक सम्बन्ध, जे० आर० लॉविल के अनुसार, उसी प्रकार का होना उचित है, जिस प्रकार शरीर के एक अंग का दूसरे अंग के साथ होता है। होमर इस तथ्य को भली भाँति जानते थे और उन्होंने 'इलियड' और 'ऑडिसी' में, जैसा कि अरस्तू कहते है, उन्ही घटनाओं को चित्रित किया है जिनका निकट सम्बन्ध मूल घटना से था। अरस्तू के शब्द है "जिस प्रकार अन्य अनुकरणात्मक कलाओं में अनुकार्य वस्तु के एक होने पर अनुकृति भी एक होती है, उसी प्रकार कथानक को जो कार्य-व्यापार का अनुकरण होता है एक तथा सर्वांगपूर्ण कार्य का अनुकरण करना चाहिए, और उसमे अंकों का ऐसा संघटन होना चाहिए कि यदि उसके एक अंग को भी अपने स्थान से इधर-उधर करें तो सम्पूर्ण अंग ही छिन्न-भिन्न और अस्त-व्यस्त हो जाय, क्योकि वह वस्तु किसी पूर्ण इकाई का सहज अंग नही हो सकती, जिसके होने न होने से कोई प्रत्यक्ष अन्तर नही पड़ता।"

त्रासद के लिए कार्यान्विति सर्व-प्रथम आवश्यकता है। इसके द्वारा कथावस्तु मे वैयक्तिकता और स्पष्टता की अभिव्यक्ति होती है। नाटक में जितनी अधिक अन्विति होगी, उतनी ही उसमे पूर्णता और वैयक्तिकता और साथ ही चिरन्तनता अथवा सर्वकालीनता की उत्पत्ति भी होगी। यदि त्रासद का विषय अत्यन्त सूक्ष्म अथवा अत्यन्त विस्तृत है, तो वह कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए अयोग्य है। नाटक को कितना विस्तार दिया जा सकता है, इस विषय मे अरस्तू किसी निश्चित नियम के निर्धारण से बचे है, और ऐसा करने में उन्होंने बुद्धिमत्ता ही प्रदर्शित की है। कार्य

का सहज विकास होना, और कार्य-कारणाश्रित घटनाओ की पूर्वापरता से भाग्य-परिवर्त्तन होना उचित है। 'समग्र' मे आदि, मध्य और अन्त होते है। 'आदि' वह है जो स्वयं किसी अपने से पूर्व कारण की अपेक्षा नही रखता, 'अन्त' वह है जो किसी अन्य कार्य को जन्म नही देता, और 'मध्य' आदि और अन्त के बीच की स्थिति है। जैसा कि कहा जा चुका है, नाटक के अंगागी संघटन के दो रूप है। इनमें से प्रथम वह रूप है जो कार्य-कारण-सम्बन्ध से नाटक के विविध अगों को सघठित रखता है, अर्थात् जिसके द्वारा विचार, सवेग, संकल्प तथा बाह्य घटनाएँ अविच्छिन्न रूप से परस्पर गुम्फित रहती है। दूसरा रूप वह है जिसके कारण समस्त घटनाएँ तथा उनकी आचारिक शक्तियाँ केवल एक लक्ष्य की ओर सम्मिलित रूप से अग्रसर रहती है। नाटक का सघटन यत्रवत् अनियोजित एव विशृखलित न होना चाहिए। उसके समस्त अंग अगागी भाव से सामञ्जस्य-पूर्ण रहते है।

बुचर कहते है कि अरस्तू ने नाटक मे केवल कार्य-संकलन की व्यवस्था की है। काल-सकलन का सिद्धान्त, जिसे कभी-कभी दिनान्विति (यूनिटी ऑव द डे) भी कहा जाता है, अरस्तू के उन शब्दो पर आधृत है, जिनका अभी उल्लेख किया जा चुका है, अर्थात् सूर्य की केवल एक परिक्रमा (अ सिंगिल रिवोल्यूशन ऑव द सन), किन्तु उक्त वचन मे किसी नियमित सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया गया है। उसमें तो अरस्तू ने तत्कालीन ऐसी प्रथा का केवल उल्लेख किया है, जिसे निरपवाद नही कहा जा सकता, क्योकि एथिस-निवासी के विकसित नाटको मे भी अनेक अपवाद उपलब्ध होते है। उदाहरणतः, 'यूमिनाइडीज' (Eumenides) के प्रारम्भिक एव दूसरे दृश्य के मध्य में मासों या वर्षों का विच्छेद है। सोफोक्लेस (Sophocles) की 'ट्रैकिनिया' (Trachiniae) और यूरिपाइडिस (Euripides) के 'सप्लाइसेज' (Supplices) तथा-कथित काल-संकलन के अग के अन्य प्रबल उदाहरण है।

स्थान-संकलन

स्थान-संकलन भी रगमंच की एक प्रथा थी, जिसका पालन यूनानी नाटक में होता था; किन्तु जिसका कभी-कभी (विशेषतः कामद में) उल्लंघन होता था। अरस्तू के काव्य-शास्त्र में तो इसका और कहीं भी संकेत नही। आलोचकों ने इसका निष्पादन, कला-नियम के रूप में, काल-संकलन से कर लिया है। इटली के आलोचकगण अरस्तू के उक्त उद्धरण की व्याख्या के सम्बन्ध में विभक्त रहे हैं। 'सूर्य की एक परिक्रमा' (a single revolution of the sun) से क्या तात्पर्य है? बारह घण्टे या चौबीस घण्टे? इसी प्रकार फ्रासीसी आलोचकों का भी मत-भेद है। कार्नील (Pierry

Corneille) चौबीस घण्टों के पक्ष में हैं, यद्यपि वे तीस घण्टो, कदाचित् और भी अधिक घण्टों की उदारता को प्रदर्शित करते है। डेसियर चौबीस घण्टो को नही मानते और वे इसकी बारह घण्टे की पर-सीमा निश्चित करते है, चाहे वह रात के हों या दिन के या दोनों के आधे-आधे। डेसियर (Dacier) और कार्नील इस बात में सहमत है कि पूर्ण त्रासद में कार्य-काल और अभिनय-काल की अवधि समान होनी चाहिए।

अरस्तू कदाचित् यह कहना चाहते है कि यदि कार्य-संकलन की रक्षा हो जाय तो अन्य संकलन अपनी रक्षा स्वय कर लेंगे। निस्सन्देह काल-स्थान के विच्छेद अथवा व्यवधान से कार्य-संकलन के विनाश का भय रहता है। ऐसे स्पेनी नाटक है जिनमे नायक नाटक के अंक मे जन्म लेता है और उसी नाटक के किसी अन्तिम दृश्य मे वृद्ध के रूप में उपस्थित होता है। ऐसा हुआ है कि रिक्त स्थलों को, अन्तराल-वर्त्तिनी घटनाओं के वर्णनों से, परिपूर्ण कर दिया गया है। किन्तु इस विषय मे भी सब कुछ नाटककार की कला पर निर्भर है, क्योकि अकों के बीच मे, नाटक की अन्विति को बिना बिगाड़े, वर्ष के वर्ष बीत सकते है, जैसा कि शेक्सपियर के 'विटर्स टेल' नामक नाटक से स्पष्ट है। यह तो कवि-कला का काम है कि वह हमें समय-विस्मृत कर दे। यदि कवि ऐसा करने में सफल होता है तो हम मास-वर्ष की गणना भूल कर उस असम्भवता के विरुद्ध नही चिल्लाते। शेक्सपियर ने काल-स्थान के सम्बन्ध में स्व-तन्त्रता-पूर्वक व्यवहार किया है, और वे अरस्तू के काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्त के सन्निकट है।

फ्रांसीसियो ने संकलन-त्रय का पाठ रोमन लेखको से पढ़ा था और तदनन्तर तन्निमित्त उन्होने अरस्तू के प्रमाण की खोज की। उन्होंने एक और गंभीरतर भूल की। काल-स्थान के हीन संकलनों को कार्य-संकलन पर आधृत करने के बजाय उन्होने कार्य-संकलन को ही अन्य नियम-पालन के अधीन कर दिया।

अरस्तू के अनुसार, कार्य-सकलन नाटक का उच्चतर नियामक विधान है। जहाँ तक कलात्मक महत्ता और अधिकार का सम्बन्ध हो सकता है, काल और स्थान के संकलनों का मूल्य नितान्त गौण और अवकलित है।

होरस ने रोम में अरस्तू के नाटकीय सिद्धान्तों का प्रचार और फ्रांस के अभि-जात्यों ने उक्त तीनों संकलनों का निर्वाह किया और शेक्सपीयर ने भी 'टैम्पैस्ट' एवं 'कॉमेडी ऑव एरर्स' में तीनों संकलनों का पालन किया है; किन्तु उसने अन्य नाटकों में कालस्थान-संकलनों को कोई महत्त्व प्रदान नहीं किया। ड्राइडन ने इन संकलनों की खिल्ली उड़ायी और इब्सन ने उनकी नितान्त अवहेलना की।

(ख) भारतीय मत

प्राक्कथन

ए. बी. कीथ आदि कुछ आलोचकों का आक्षेप है कि संस्कृत के नाट्याचार्य संकलन-त्रय से अनभिज्ञ थे, क्योंकि उनका प्रमुख लक्ष्य था रस की निष्पत्ति। यह ठीक है कि आद्याचार्य भरत से लेकर प्राय सभी आचार्यो ने रस का पर्याप्त विवेचन किया है, किन्तु यह आक्षेप मिथ्या है कि वे संकलन-त्रय से अनभिज्ञ थे अथवा उन्होने उस ओर कोई ध्यान नही दिया। डॉ० कन्हैयालाल सहल ने इस विषय मे कुछ सुन्दर प्रमाण एकत्र किये है। आद्याचार्य भरत ने ही अपने 'नाट्यशास्त्र' मे संकलन-त्रय का परिचय कई श्लोको मे दिया है, जो इस प्रकार है .

कार्य-संकलन

'नाट्यशास्त्रम्' मे भरत लिखते है—

एकांकेन कदाचित् बहूनि कार्याणि योजयेद्धीमान्।
आवश्यकाविरोधेन तत्र काव्यानि कार्याणि ॥ २०,२५ ॥

अर्थात् बुद्धिमान् नाटककार एक अंक मे बहुत से ऐसे कार्यो का आयोजन अपने काव्य मे कर देता है जिनका आवश्यक कथावस्तु मे कोई विरोध नही होता। कथावस्तु के संघटन के निमित्त कार्य की पाँच अवस्थाओ, पाँच अर्थ-प्रकृतियों और पाच संधियो का महत्त्वपूर्ण वर्णन किया गया है। अरस्तू ने त्रासद का जो वर्गीकरण किया है, वह केवल वस्तुपरक है, किन्तु भारतीय आचार्यो ने कथानक का जो त्रिविध वर्गीकरण किया है, वह अपेक्षाकृत विशद और व्यापक है। नाटक की पचावस्थाओं का वर्णन नायक के दृष्टिकोण से, अर्थप्रकृतियो का घटनाओ के दृष्टिकोण से और सधियों का नाटक के शरीर तथा अवयवो के दृष्टिकोण से हुआ है।

स्थान-संकलन

स्थान-संकलन के विषय मे भरत 'नाट्यशास्त्रम्' मे लिखते है :

यः कश्चित्कार्यवशात् गच्छति पुरुषः प्रकृष्टमध्वानम्।
तत्राप्यंकच्छेद कर्त्तव्यः पूर्ववत् तज्ज्ञैः ॥ २०,३० ॥

अर्थात् यदि कोई पुरुष काम से बहुत दूर स्थान पर चला जाय, तो भी पूर्ववत् अंकच्छेद कर देना चाहिए। एक अक मे जिन स्थानो का प्रदर्शन किया जाय ,उनमें इतना व्यवधान नही होना चाहिए कि नायक को वहाँ नियत समय तक पहुँचना असंभव हो;

न्तु यदि नायक के पास कोई वायुयान हो तो दूरी की चिन्ता नही करनी चाहिए, ोकि ऐसी परिस्थिति में अंकच्छेद के बिना भी काम निकल सकता है। अभिनव त ने 'नाट्यशास्त्र' पर अपनी विवृति मे स्पष्ट लिखा है : आकाशयानकादिना र्योज्यते। अर्थात् विमान आदि की उपस्थिति मे सब ठीक है।

ाल-संकलन

भरत कहते है कि काव्य को बीजार्थ से युक्तियुक्त एव रसपूर्ण करके क्षण, म, मुहूर्त आदि से युक्त दिनो का ज्ञान प्राप्त करके उस समग्र नाटकीय काव्य को ङ्को मे विभाजित कर देना चाहिए :

बीजार्थं युक्तियुक्तं कृत्वा काव्यं यथार्थरसम् ॥ २०,२६ ॥
ज्ञात्वा दिवसांस्तान् क्षण-याम मुहूर्त लक्षणोपेतान्।
विभजेत् सर्वमशेषं पृथक् पृथक् काव्यमंकेषु ॥ २०,२७ ॥

ाल-संकलन के सम्बन्ध मे भरत का वचन है :

एकदिवसप्रवृत्तः कार्यस्त्वङ्कोऽथ बीजमधिकृत्य।
आवश्यक कार्याणामविरोधेन प्रयोगेषु ॥ २०,२४ ॥
दिवसावसानकार्य यद्यङ्के नोपपद्यते सर्वम्।
अकच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैः स्तद्विधातव्यम् ॥ २०,२८ ॥

क दिवस प्रवृत्तं' की व्याख्या अभिनव गुप्त ने इस प्रकार की है : अथाङ्कस्य प्रयोग ाल-परिमाणमियदिति दर्शयति एक दिवसप्रवृत्तमिति। अर्थात् एक अंक मे जितने र्य व्यापार का प्रदर्शन करना हो, उसके लिए एक दिन का समय नियत किया गया । इस प्रकार दिन का तात्पर्य चौबीस घटे से हो सकता है, किन्तु अभिनव गुप्त ने ा दिवस-काल को पन्द्रह मुहूर्त्तों का माना है। दिन-रात का तीसवाँ भाग मुहूर्त्त हलाता है। अतएव पन्द्रह मुहूर्त्त = बारह घंटे। भरत ने यह भी स्पष्ट किया है कि दे 'दिन समाप्त होने तक का पूरा कार्य एक अंक मे न आ सके तो अंकच्छेद करके ष कार्य को प्रवेशकों के द्वारा सूचित कर दिया जाय।' 'प्रवेशक' भूत और भावी ाशों का सूचक होता है; इसकी योजना सदा दो अंकों के बीच मे होती है। कुछ द्वानों के मत से उक्त श्लोक के 'प्रवेशक' शब्द मे चूलिका, अकावतार, अक मुख, ष्कम्भक आदि का, अर्थ-विस्तार से, समावेश है।

नाटक का कुछ अंश ऐसा होता है, जिसका प्रदर्शन रगमंच पर होता है, और ुका कुछ अंश ऐसा भी होता है जिसकी केवल सूचना प्रवेशक, विष्कम्भक आदि

के द्वारा दी जाती है, ऐसे अंश या स्थल को 'सूच्य' कहते है। भरत ने 'सूच्य' के लिए भी एक वर्ष की सीमा का निर्देश किया है, किन्तु एक वर्ष से अधिक की सीमा का नही

अंकच्छेदं कुर्यात् मासकृतं वर्षसञ्चितं वापि।
तत्सर्वं कर्त्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्॥ २०,२६॥

अर्थात् मास और वर्ष तक के कार्य-प्रदर्शन के लिए अंकच्छेद आदि सब कुछ कर लेना चाहिए, किन्तु वर्ष से अधिक समय के लिए अकच्छेद कभी न करना चाहिए। 'नाटक-लक्षण-रत्नकोशकार' ने भी, दूसरे शब्दों में, इस मत का समर्थन इस प्रकार किया है : एक दिवसप्रवृत्त कार्यांके सप्रयोगमधिकृत्य। आख्याने यद्वस्तु वक्तव्यं तदेकदिवसमालम्ब्याके कर्त्तव्यम्। केचित्तु वासरार्द्धकृतोह्यङ्क इति। 'केचिच्च एक रात्रि कृतमेक वासर कृतमके वक्तव्यम्। यत्र तु कार्यवशात् कालभूयस्त्वं तदस्मिन्नंके प्रवेशकेन वक्तव्यम्। न तु वर्षादतिक्रान्त यदुच्यते वर्षादूर्ध्वं न कदाचिदिति। तदेतद् बहुकाल प्रणेय नाके विधेयमिति"।[1] अर्थात् एक दिवस का कार्य एक ही अक मे प्रदर्शित करना चाहिए। आख्यान मे जो बात कहनी है, उसे इस प्रकार कहना चाहिए कि एक दिन की कथा एक अंक मे प्रदर्शित हो। कुछ आचार्यों के अनुसार तो एक अंक मे आधे ही दिन की कथा दिखानी चाहिए; और दूसरे आचार्यों के अनुसार, एक दिन और एक रात की घटना एक अंक में ही और यदि एक दिन से अधिक काल की घटनाओं का प्रदर्शन करना आवश्यक हो, तो 'प्रवेशक' का प्रयोग करना चाहिए; किन्तु एक वर्ष से अधिक समय की घटना (अर्थात् बहुत समय की घटना) का समावेश एक अक में नही होना चाहिए। स्पष्टत. ऐसे प्रतिबन्ध का कारण अस्वाभाविकता का निवारण है।

रूपक के अनेक प्रकारो से यह प्रतीत होता है, जैसा कि डॉ० श्यामसुन्दरदास सूचित करते है, कि भारत मे काल-संकलन का पर्याप्त ध्यान रखा जाता था। उदाहरणतः 'व्यायोग' मे एक दिन का चरित्र रखा जाता था। तीन अंक वाले 'समवकार' के पहले अंक मे बारह घड़ियों का वृतात, दूसरे अंक में तीन या चार घड़ियों का और तीसरे अङ्क में केवल दो घडियों का चरित्र या वृतान्त होता था। इस प्रकार दुर्मल्लिका नामक उपरूपक मे चार अङ्क होते है, जिसके पहले अङ्क मे विट की क्रीड़ा तीन घड़ी की, दूसरे मे विदूषक का विलास पाँच घडी का, तीसरे में पीठमर्द का विलास छः घड़ी का और चौथे मे नायक की क्रीडा दस घडी की, विहित है।

---

१. अभिनव नाट्य-शास्त्र, (श्री सीताराम चतुर्वेदी)।

सुझाव

डॉ० श्यामसुन्दरदास कहते है कि 'शकुन्तला' नाटक के पहले अङ्क में राजा दुष्यन्त की भेट शकुन्तला के साथ होती है। तीसरे अंक मे पहले उनका मिलाप, तब दोनों का विछोह होता है। इसके उपरान्त जो समय बीतता है, उस पर हमारा विशेष ध्यान नही जाता और सातवे अंक मे दुष्यन्त अपने कुमार सर्वदमन को सिह शावको के साथ खेलता हुआ पाता है। प्रेक्षक रस मे निमग्न रहते है, यद्यपि सकलन-त्रय के पृष्ठपोषक फ्रासीसियों के दृष्टिकोण से 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' को श्रेष्ठ नाटकों में कदाचित् रखना पसन्द न करें। अतएव डॉ० श्यामसुन्दरदास सुझाते है कि नाटकों मे घटनाओ का उल्लेख पहले होने वाली घटनाओ या दृश्यो के पीछे न हों, इसके अतिरिक्त एक-दो दृश्यों के व्यवधान से ऐसा सम्भव है कि दो घटनाओ के बीच जो समय वास्तव मे बीता हो, उस पर दर्शकों का ध्यान न जाय। डॉ० दास यह भी सुझाते है कि दो-चार वर्षों की घटनाएँ सहज में खप सकती है, पर इससे अधिक समय को प्रदर्शित करने के लिए विशेष कौशल की आवश्यकता है—रचना एवं अभिनय की, जिससे प्रेक्षकों को, अभिनय के प्रारम्भ होने से पूर्व, 'खुलासा' पढ़ने की आवश्यकता ही न रहे।

डॉ० कन्हैयालाल सहल कहते है कि 'स्थल-सकलन और समय-सकलन का प्रयोग, आजकल, सामान्यतः हिन्दी साहित्य के नाटकों में भी, एकांकियों और कुछ आख्यायिकाओं को छोड़ कर अन्यत्र नही किया जा रहा है, यद्यपि प्रसाद जी के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक मे, मेरी दृष्टि मे, किसी प्रकार तीनो सकलनो का सुन्दर निर्वाह हो गया है"। यह कहा जा चुका है कि शेक्सपीअर ने सकलनों की ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया, ड्राइडन ने इनकी धज्जियाँ उड़ायी और इब्सन ने अवहेलना की। इस सम्बन्ध में हमारी विनम्र धारणा है कि नियमों का अतिक्रमण प्रतिभाशाली व्यक्ति सुचारु रूप से अवश्य कर लेते हैं, किन्तु नियमो की भी अपनी उपादेयता होती है। अतएव संकलन-सम्बन्धी नियमों का प्रतिपालन और अवहेलना दोनों ही वर्ज्य है और यथावसर मध्यम मार्ग का अनुसरण साधारणतः स्पृहणीय है।

विरेचन

'त्रासद' की परिभाषा में यह संकेत किया गया था कि उसमे करुणा और त्रास के उद्रेक के द्वारा इन दोनों मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।

अरस्तू वैद्य-पुत्र थे, और 'रेचन' शब्द वैद्यक का है। इसका अर्थ है मलशोधन। अरस्तू के अनुसार त्रासद करुणा और त्रास के संवेगों की अभिव्यक्ति का निकास है।

करुण-त्रास के कृत्तिम उद्रेक से उस अन्तर्भूत करुणा और त्रास का निष्कासन हो जाता है, जिसे हम अपने वास्तविक जीवन से अपने साथ लिये हुए होते है। मिल्टन का कथन है कि चिकित्सा-शास्त्र मे विपाद रोग को दूर करने के लिए सविपाद वर्ग और गुण की वस्तु का प्रयोग किया जाता है, यथा अम्ल के लिए अम्लता का और लवण-द्रव्य को दूर करने के लिए लवण का। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि त्रासद होमोपैथिक इलाज का एक रूप है जो कि किसी संवेग की चिकित्सा 'समान' सवेग के द्वारा करती है, 'सर्वसम' के द्वारा नही। प्लेटो को भी यह विदित था कि विकृत उत्साह (मॉरबिड एनथुजिएस्म) की होमोपैथिक चिकित्सा संगीत के द्वारा संभव है। धात्रियाँ अपने शिशुओ को गाकर (शान्ति के द्वारा नही) और उनको गोदी मे हिला-जुलाकर (चुपचाप पकड़ कर नही) सुलाती है। 'राजनीति-शास्त्र' में अरस्तू ने बताया है कि "वे लोग जो करुणा और त्रास से पराभूत हो जाया करते है, और साधारणत· सवेगशील व्यक्ति भी जो इन्ही सवेगो का अनुभव करते है···वे सब किसी न किसी 'विरेचन' के द्वारासुखद राहत (रिलीफ) का अनुभव करते है"।

किन्तु त्रासद कुछ संवेगो के होमोपैथिक इलाज से अधिक कार्य करता है। वह 'सम. सम शाम्यति' अथवा 'विषस्य विषमौपधम्' से आगे बढ़ता है; क्योकि उसका कार्य, करुण-त्रास के लिए निष्कासन-छिद्र को उपस्थित करने के निमित्त, कला के माध्यम से, इन दोनो सवेगो को शुद्ध-स्वच्छ करके विशिष्ट कलात्मक सतोष को प्रदान करता है।

हिपोक्रिटीज के सम्प्रदाय मे रेचन का लक्ष्य शरीर से दु खद और विघ्नकर अश का निष्कासन कर देना है, और इस प्रकार शरीर के विजातीय द्रव्य को निकाल कर शेष का शुद्धीकरण है। त्रासदीय उत्तेजन में से करुण और त्रास के उद्रेक से वास्तविक करुण और त्रास नामक दु खद तत्त्व रेचित हो जाते है और ये सवेग स्वय शुद्ध हो जाते है। त्रासद का प्रभाव रोगहर और शान्तिप्रद होता है, जो भावरूपा-न्तरण की आत्यन्तिक संगति का परिणाम है।

अपात्र का दुर्भाग्य ही करुणा का विषय है। अरस्तू के अनुसार 'अपात्र' का तात्पर्य नितान्त निर्दोष कष्ट-भोक्ता से नही है, किन्तु उस कष्टभोक्ता से है जो कष्ट का पात्र न हो। कष्ट-भोक्ता हमारे ही सदृश व्यक्ति होता है। यदि उसमे ऐसी सदृशता न हो, तो उसको हमारी सहानुभूति प्राप्त न होगी। अरस्तू जिस सादृश्य पर आग्रह करते है, वह चरित्र-सम्बन्धी है। उनके अनुसार त्रासद का नायक न तो त्रुटि-हीन व्यक्ति होता है और न पूरा दुष्ट ही। निस्स·देह, जहाँ तक सदाचार और गरिमा

का सम्बन्ध है, यह नायक साधारण व्यक्ति से ऊँचा तो होता है, पर वह त्रुटियों और न्यूनताओं से मुक्त भी नही होता। यह नायक कोई राजकुमार या ऐसा प्रख्यात व्यक्ति होता है जो अपने गौरव-शिखर से गिर जाता है। त्रासद का त्रास (अर्थात् भय) कला-नियमों से उपान्तरित (मोडिफ़ाइड) तो होता है, किन्तु उसे शिथिल एवं निष्क्रिय संवेग नही कहा जा सकता। ये संवेग निस्सन्देह व्यक्तिगत आपत्ति-जन्य कुचल देने वाले भय से भिन्न होते है। 'ऑडिपस टिरेनस' को पढ़ते समय, हम इस डर से आक्रान्त नही होते कि हमे भी ऑडिपस की परिस्थिति मे आना पडे अथवा उसके-से कष्ट भोगने पडे, किन्तु हमारे भीतर त्रास या अव्यक्त आशका का कम्प व्याप्त हो जाता है। अरस्तू के अनुसार त्रासद मे जिस संवेग का उद्‌बोधन होना चाहिए वह केवल करुणा नही है, जैसा कि बहुत से आधुनिक विद्वान् समझते है; वह न केवल करुणा या त्रास ही है, जिसके लिए कार्नील तर्कपूर्ण वकालत करते है; वे न करुणा एवं श्लाघा ही है, जिन्हे एलिजैबिथ-काल के लेखको ने अरस्तू की शब्दावली के लिए प्रचलित किया है। अरस्तू का आग्रह तो करुणा एवं त्रास पर है। निस्संदेह वे ऐसा तो स्वीकार करते है कि किन्ही त्रासदों मे प्रधान संवेग त्रास (अर्थात् भय) होता है और किन्ही मे करुणा। वे कदाचित् ऐसा मानने के लिए भी प्रस्तुत हो कि यह संभव है कि अवर त्रासद उक्त दोनो संवेगो मे से (जिन्हे साधारणतः त्रासद कह दिया जाता है) एक ही को उत्तेजित कर दे। किन्तु पूर्ण त्रासदीय प्रभाव के लिए करुणा और त्रास दोनो के समंजन की आवश्यकता है; किसी अन्य रूप से त्रासद का विशिष्ट कार्य (अर्थात् विरेचन) सम्पन्न नही हो सकता।

त्रासद के लिए आवश्यक है कि भय और करुणा के मिश्रण मे उचित अनुपात हो। भय से सम्बद्ध होने के कारण करुणा, जैसा कि बरनेज स्पष्ट करते है, सनक और भावुकता से मुक्त रहती है; और भय भी करुणा के सम्बन्ध से संकीर्ण स्वार्थजन्य एव निज-संकट-प्रेरित ग्राम्य आतक से विहीन रहता है। वैयक्तिक चिन्ता या संकट-संकेत (अलार्म) के कारण हम दूसरो के साथ सहानुभूति करने में असमर्थ होते है, इस प्रकार डर करुणा का निष्कासन कर देता है। त्रास भले ही रक्त में आभ्यन्तर कम्पन उत्पन्न करदे; किन्तु वह न तो मन को निश्चेष्ट, और न इन्द्रियों को स्तम्भित ही, करता है। हमे अरस्तू के इस सिद्धान्त का स्मरण होता है कि काव्य सामान्य (यूनिवर्सल) का प्रतिनिधि है, क्योकि जो कुछ व्यक्तिगत या आत्मगत होता है, वह छूट जाता है। पीड़ा की उत्कटता, अशान्ति और विकलता उन स्वार्थभावों से उत्पन्न होती है, जो वास्तविक संसार में इन संवेगों से संलग्न रहते है। अहंकार और राग की समाप्ति से पीड़ा भी दूर हो जाती है।

'त्रासद' पर किसी नैतिक उद्देश्य अथवा प्रभाव का आरोपण अभीष्ट नही, क्योकि त्रासद का कार्य-क्षेत्र भाव (फीलिङ्) है, संकल्प (विलिङ्) नही। अरस्तू को कदाचित् यह मान्य है कि नाटक परोक्षरूप से नैतिक प्रभाव डालकर सवेग-तंत्रों को इस योग्य बना देता है कि वह कुछ ऐसे भयावह पदार्थ को अथवा भावना के कुछ ऐसे तत्त्वों को निकाल बाहर करे, जिनकी उपस्थिति से संकटमयी शक्ति का प्राबल्य और मार्मिक कार्यों का स्वतन्त्र गतिविधि मे अवरोध हो।

डॉ० नगेन्द्र ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि 'विरेचन' शब्द औषधि द्वारा उदर-विकारो की शुद्धि के निमित्त यूनान मे प्रयुक्त होता था, अरस्तू ने इस इस शब्द का लाक्षणिक प्रयोग किया है और उनके परवर्त्ती व्याख्याकारों ने इस शब्द के प्रायः तीन अर्थ किये है—धर्मपरक, नीतिपरक और कलापरक।

धार्मिक विरेचन—प्रो० गिलबर्ट मरि कहते है कि यूनान मे दिओन्युसस नामक देवता से सम्बद्ध जो उत्सव होता था, वह स्वय शुद्धि का प्रतीक था, अर्थात् विगत वर्ष के कलुष, मृत्यु आदि के दुसंसर्गों से शुद्धि का। लिवि का मत है कि अरस्तू के जीवन-काल मे ही रोम मे 'त्रासद' का प्रवेश कलात्मक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नही, किन्तु धार्मिक अन्धविश्वास के रूप मे हुआ था। अरस्तू ने स्वयं 'हाल' की स्थिति का उल्लेख किया है, जिसकी शान्ति के लिए यूनान में उद्दाम संगीत का उपयोग होता था। मेरी धारणा है कि भारत मे दिवाली पर द्यूतक्रीड़ा और होली पर अश्लीलता के विधान का और पश्चिम मे 'एप्रिल फूल' और 'मे डे' का कुछ ऐसा ही उद्देश्य है।

नैतिक विरेचन—जर्मन विद्वान् बरनेज ने विरेचन का नीति-परक अर्थ किया है। इसके अनुसार मनोविकारों के उत्तेजन से उद्वेग की शान्ति और मानसिक विशदता प्राप्य है। इसे आधुनिक मनोविश्लेषण का समर्थन प्राप्त है, यद्यपि इस बात का निश्चय नही कि अरस्तू के समय भी मनोविश्लेषण का प्रचार था। फिर भी डॉ० नगेन्द्र के शब्दों मे, "यह मानना असगत न होगा कि मनोविश्लेषण-शास्त्र की आधुनिक प्रणाली से अपरिचित होते हुए भी वे उसके आधारभूत सत्य से अवगत थे।"

कलात्मक विरेचन—कलापरक अर्थ के संकेत गिटे तथा अंग्रेजी के कुछ आलोचकों में मिलते है। इस अर्थ पर अरस्तू के प्रसिद्ध व्याख्याता बुचर का विशेष आग्रह है, क्योकि अरस्तू ने कला के लिए जिस शब्दावली का प्रयोग किया है उसके अनुसार विरेचन शब्द का और भी अधिक अर्थ है, जो कला-सिद्धान्त का अभिव्यंजक है और केवल मनोविज्ञान अथवा निदानशास्त्र के तथ्य-विशेष का वाचक नही।

अरस्तू का अभिप्राय

प्लेटो ने 'रिपब्लिक' मे काव्य पर दो दोष लगाये थे, जिनमे से एक यह था

कि 'कविता हमारी वासनाओं का दमन करने के बदले उनका पोषण करती है'। अरस्तू ने विरेचन-सिद्धान्त का प्रतिपादन उक्त आक्षेप के उत्तर मे किया है। उनका कथन है कि त्रासद में करुणा तथा त्रास के उद्रेक से इन दोनों मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।

डॉ० नगेन्द्र प्रो० गिलबर्ट मरि से यहाँ तक सहमत है कि अरस्तू ने अपने युग की परिस्थितियो से प्रभावित होकर विरेचन-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, किन्तु वे यह स्पष्ट कर देना उचित समझते है कि अरस्तू पर उस प्रभाव को सर्वथा परोक्ष मानना चाहिए। डॉ० नगेन्द्र ने प्रो० बुचर-प्रदत्त अर्थ का भी विवेचन किया है। बुचर के अनुसार विरेचन के दो पक्ष है—अभावात्मक और भावात्मक। विरेचन का अभावात्मक रूप यह है कि मनोवेगो के उत्तेजन से भय और त्रास का निष्कासन होता है, और विरेचन का भावात्मक रूप यह है कि भय और त्रास के निष्कासन के अनन्तर मनोवेगों के शमन से मन मे शान्ति उत्पन्न होती है। यहाँ तक डॉ० नगेन्द्र प्रो० बुचर से सहमत है।

प्रो० बुचर की धारणा है कि त्रासद से निश्चय ही 'कलात्मक परितोष' (कलास्वाद) की उपलब्धि होती है। पर डॉ० नगेन्द्र का प्रश्न है कि 'क्या यह अ स्वाद 'विरेचन' के अन्तर्गत आता है?' डा० नगेन्द्र 'विरेचन' को कलास्वाद का साधक तो मानते है, पर वे 'विरेचन' मे कलास्वाद का सहज अन्तर्भाव नही मानते। उनके अनुसार, 'अरस्तू का अभिप्राय मनोविकारों के उद्रेक और उनके शमन से उत्पन्न मनः शान्ति तक ही सीमित है,' 'अतएव विरेचन-सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना न्याय्य नही है।' यह भावात्मक रूप तो अरस्तू के व्याख्याता प्रो० बुचर की अपनी धारणा का आरोपमात्र है। "'विरेचन' शब्द से मन की विशदता अभिप्रेत है, जिसके आधार पर वर्तमान आलोचक रिचर्ड्स ने अन्तर्वृत्तियो के समजन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।" करुणा और त्रास दोनो दुःखद है, किन्तु दोनो ही विरेचन के द्वारा मन को कटु विकारो से मुक्त कर देते है। निश्चय ही यह मुक्तावस्था सुखद होती है।

विरोधाभास

दुःख से सुख, यह विरोधाभास है। दुःखद त्रास-करुणा से सुख की उत्पत्ति। प्रो० बुचर ने इस प्रतीयमान विरोध की शान्ति के लिए दो कारण प्रस्तुत किये है—१. 'स्व' की क्षुद्रता से मुक्ति, और २. कलात्मक प्रक्रिया। प्रथमतः, यद्यपि त्रास और करुणा जीवन की दुःखदायिनी अनुभूतियाँ है, तथापि त्रासद में वे वैयक्तिक दंश से मुक्त होकर सामान्य रूप में उपस्थित होती है। सकुचित 'स्व' क्षुद्र और कटु है; विस्तृत 'स्व' विशाल और सुखद होता है। द्वितीयतः, कला प्रक्रिया का आधार है 'समंजन';

अर्थात् अव्यवस्था में व्यवस्था, अथवा अनेकता मे एकता—'अविभक्तं विभक्तेषु'। परन्तु डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि ये दोनों कारण विरेचन-प्रक्रिया के अंग नहीं, यद्यपि उससे सम्बद्ध अवश्य है, क्योंकि 'विरेचन' से न तो 'स्व' का उन्नयन होता है और न कलानन्द की प्राप्ति ही; उसमें तो सुख का केवल अभावात्मक रूप रहता है, अर्थात् मन शान्ति, विशदता या राहत। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में 'विरेचन' तो 'आनन्द की भूमिका है, आनन्द नही'।

दो आक्षेप

अनेक आलोचकों को विरेचन-प्रक्रिया के अस्तित्व में विश्वास नही। वे कहते है : प्रथमतः, वास्तविक अनुभव में ऐसा विरेचन नही होता; क्योकि करुणा, भय आदि मनोवेग जाग्रत तो हो जाते है, परन्तु उनके रेचन से मन की शान्ति सदा उत्पन्न नही होती—बहुत से नाटक तो भावो को केवल क्षुब्ध करके रह जाते है। द्वितीयतः, कभी ऐसा होता है कि हम कला का ही आस्वादन करते है, त्रासद-प्रदर्शित भाव तो अवास्तविक होते है, अत वे हमारे भावों को उत्तेजित ही नही करते, विरेचन का प्रश्न तो दूर रहा। डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि उक्त दोनों आक्षेप निर्बल है। यह कहना ठीक नही कि त्रासद से प्रेक्षकों को केवल नाट्य-कला का चमत्कार प्राप्त होता है और उन पर रागात्मक प्रभाव नही पडता। पर त्रासद का चमत्कार तो मूलतः रागात्मक होता है; अतएव यह धारणा भी मिथ्या है कि त्रासद केवल भावो को विक्षुब्ध कर छोड़ देता है। क्योकि 'भावो की उदबुद्धि आनन्द नही, उनका समजन आनन्द है', जिसके लिए प्रेक्षक अपने समय और धन का व्यय करता है।

'विरेचन' और 'करुण रस'

'विरेचन' और 'करुण रस' की समानता की ओर डॉ० नगेन्द्र ने ध्यान आकृष्ट किया है। दोनों के आधार दु:खद मनोवेग है, एक मे करुणा और त्रास है, तो दूसरे में शोक है। अरस्तू के अनुसार करुणा और त्रास दोनों दु.खद अनुभूतियों के भेद हैं। त्रास मे ऐसी अनुभूति रहती है जो आसन्न और घातक अनिष्ट से उत्पन्न होती है; करुणा में वह कटु अनुभूति रहती है जो ऐसे व्यक्ति के घातक अनिष्ट के प्रेक्षण से उत्पन्न होती है जो प्राय: निर्दोष हो। भरत, धनञ्जय, विश्वनाथ आदि प्रदत्त शोक के लक्षणो मे करुणा की प्रधानता है। भरत लिखते है . 'शोको नाम इष्टजनवियोग-विभव-नाश-वध-बन्धन-दु:खानुभवनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते' (ना० शा० ७,१०-११) अर्थात् इष्टवियोग, विभवनाश, वध, बन्धन, दुःखानुभूति आदि के कारण शोक उत्पन्न होता है। धनंजय लिखते है : 'मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः' (दशरूपक), अर्थात् शोक तब होता है, जब एक मरे दूसरा रोये। विश्वनाथ कहते है : 'इष्ट-

नाशादिभिश्चेतो वक्लव्यं शोक शब्दभाक्, (सा०द० ३,१७७), अर्थात् इष्टनाश आदि से चित्त को जो क्लेश होता है उसे शोक कहते है। डॉ० नगेन्द्र स्पष्ट करते है कि भारतीय काव्य-शास्त्र में करुणा के साथ त्रास का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। शोक से करुणा और त्रास दोनों उत्पन्न होते है। करुणा की उद्भूति वास्तविक विपत्ति के आगमन से, और त्रास की उत्पत्ति विपत्ति के आगमन की आशंका से, होती है। अरस्तू का त्रासद-प्रभाव (त्रास और करुणा का) मिश्रभाव है, भारतीय काव्यशास्त्र में स्थायी भाव शोक मूलतः अमिश्र है और करुण तथा भयानक पृथक् (यद्यपि मित्र) रस माने गये है। 'उत्तर रामचरित' मे भगवती सीता के महाप्रस्थान का शोक तो है, त्रास नही। करुणा और त्रास की विलग स्थिति को अरस्तू मानते तो है, पर वे आदर्श त्रासद के लिए करुणा और त्रास का सयोग अनिवार्य समझते है।

करुण का आस्वाद

करुण रस का आस्वाद ऐसा ही सुखदायी होता है जैसा शृंगार रस का। दु:ख से सुख! इस विषमता का समाधान षड् विध है : (१) काव्य-रस आलौकिक होता है; (२) काव्य में प्रत्येक भाव साधारणीकृत होकर अंतत: भोग्य बन जाता है, जैसा कि भट्टनायक समझते है, (३) इसकी उत्पत्ति नही होती, अभिव्यक्ति होती है, जैसा कि अभिनवगुप्त आदि अभिव्यक्तिवादी समझते है; (४) राग, विद्या और कला इन तीन तत्त्वो के द्वारा जीवात्मा दु खमोहादियुक्त ससार का भोग करता है, जैसा कि शारदातनय शैवदर्शन के आधार पर समझते है, (५) काव्याभिनय-कौशल से प्रेक्षक-चमत्कृत होता है, यद्यपि वह करुणरस मे आनन्दानुभूति नही करता, और (६) जीवन की अपार विविधता भी करुण को आस्वाद्य बनाती है। डॉ० नगेन्द्र ने प्रथम तीन समाधानों को विशेष महत्त्व दिया है। अन्तिम दो समाधान रुद्रभट्ट की विशेषत: रामचन्द्र और गुणचन्द्र की विचारधारा पर आश्रित है। चन्द्रद्वय ने स्पष्ट रूप से नाट्य-दर्पण मे घोषित किया है कि 'सुख-दु.खात्मको रस'।[1]

कामद

कामद=प्रहसन

अरस्तू ने 'कामद' पर सम्यक् प्रकाश डाला था, ऐसा कुछ आभास मिलता है, किन्तु वह सम्यक् प्रकाश अब उपलब्ध नही। उनके 'काव्य-शास्त्र' मे तीन स्थलों पर 'कामद' की कुछ चर्चा है। 'त्रासद' का लक्ष्य है भव्य चित्रण, किन्तु 'कामद' का लक्ष्य है यथार्थ जीवन की अपेक्षा मानव का हीनतर चित्रण। कामद (अथवा प्रहसन) में

१ इस विषय में विस्तृत चर्चा 'रस' नामक अध्याय मे हो चुकी है।

निम्नतर कोटि के पात्रों का अनुकरण रहता है। उक्त 'निम्नतर' शब्द का तात्पर्य 'दुष्ट' से नही, 'अभिहस्य' से है : 'दुष्ट' मे ऐसा दोष या भद्दापन रहता है जो क्लेशकर या अमगलकारी होता है, किन्तु 'अभिहस्य' (Ludicras) मे जो दोष या भद्दापन रहता है, वह क्लेशकारी या अमंगलकारी नही होता। 'प्रहसन' मे छद्ममुख (मास्क) का प्रयोग होता है, जो विरूप और भद्दा तो होता है, परन्तु क्लेशजनक नही होता।

मूलभाव

कामद का मूलभाव 'हास्य' है, 'हर्ष' नही। अरस्तू के पश्चात् जो सुखान्त रोमानी नाटक लिखे गये, वे अरस्तू की परिभाषा मे नही आते। 'कॉमेडि' शब्द के लिए हिन्दी पर्याय 'कामद' का प्रयोग उचित नही है, किन्तु उसमे ध्वनि-साम्य अवश्य है।

'कामद' का मूलभाव है . ऐसा दोष (शारीरिक अथवा चारित्रिक विकार) जो क्लेशप्रद या अमगलकारी नही होता। यह दोष न तो गभीर होता है और न सामाजिक के मन मे क्लेश, हानि-भावना, त्रास अथवा अमगल-भावना को उत्पन्न करता है।

विषय

कामद का विषय है यथार्थ अथवा साधारण से हीनतर अथवा निम्नतर जीवन का चित्रण। यह विषय व्यक्तिगत नही होता, यह तो वर्गगत या सार्वजनीन होता है। इसका लक्ष्य बहुधा सार्वजनिक दोष का उद्घाटन होता है। कामद अवगीति से भिन्न होता है, क्योकि अवगीति (Lampoon) का लक्ष्य व्यक्तिगत दोष होता है और इस कारण वह उत्कृष्ट कला नही समझी जाती। कामद की कथावस्तु बहुधा काल्पनिक होती है, प्रसिद्ध नही।

पात्र

कामद के पात्रो का स्वभाव साधारण व्यक्तियो के स्वभाव से भी निम्न कोटि का होता है, पर, जैसाकि कहा जा चुका है, ये निम्नपात्र खल या दुष्ट नहीं होते। वे तो केवल अभिहस्य होते है, क्लेशप्रद या अमगलकारी नही।

कथानक

कामद के कथानक मे वस्तु-सघटना के प्रायः सभी गुण न्यूनाधिक रूप मे पाये जाते है, यथा: आदि, मध्य, अवसान की सम्पन्नता, पूर्वापरता, सम्भवता, कुतूहल। यदि इन गुणो की नितान्त अवहेलना की जाय तो कामद-प्रभाव का अपहरण ही हो जायगा, हाँ, कामद मे इनकी किंचित् अवहेलना इतनी घातक सिद्ध नही होती, जितनी त्रासद में। स्थिति-विपर्यय, अभिज्ञान एव तत्सम्बद्ध संवृति और विवृति भी उपयोगी हैं। त्रासद में भ्रम (अथवा आरोपण) का जो महत्त्व है, वह कामद में भी है।

प्रभाव

एटकिस के मत मे, अरस्तू के अनुसार विरेचन कामद के लिए भी उतना ही आवश्यक है जितना त्रासद के लिए; पर इस सम्बन्ध मे अरस्तू का कोई प्रमाण उपलब्ध नही।

त्रासद और महाकाव्य

समता

महाकाव्य और त्रासद कुछ बातो मे समान है। दोनों ही काव्यानुकृति के उत्कृष्ट रूप है; उनके प्रयोजन और प्रभाव भी समान है। गीत और दृश्य-विधान त्रासद में होते है, महाकाव्य मे नही, पर इन दोनो को छोडकर कथानक के अन्य तत्त्व त्रासद और महाकाव्य मे समान रहते है। दोनों के कथानक प्रख्यात और यथार्थ जीवन की अपेक्षा अधिक उदात्त तथा दोनो के पात्र साधारण से उच्चतर कोटि के होते है; और दोनो की भाषा भी विचारपूर्ण एव कलात्मक होती है।

विषमता

महाकाव्य और त्रासद मे असमानताएँ भी है। त्रासद की शैली नाट्य होती है, अतएव उसमे गीत और दृश्य का समावेश होता है, पर महाकाव्य की शैली समाख्यानात्मक होती है। महाकाव्य मे केवल षट्पद वीरवृत्त का प्रयोग होता है, किन्तु त्रासद मे द्वैमात्रिक तथा अन्य प्रकार के छन्दो का भी। त्रासद मे घटना-प्रदर्शन के सम्बन्ध मे काल-स्थान-सम्बन्धी नियन्त्रण हो सकते है, अतएव उसमे एक समय की घटनाओ का समुचित वर्णन नही हो सकता। किन्तु महाकाव्य मे आकार सम्बन्धी कोई विशेष नियन्त्रण नही, अत. उसका आयाम त्रासद की अपेक्षा कही अधिक विस्तृत होता है। जैसा कि सकेत किया जा चुका है, त्रासद मे कार्य को यथासम्भव सूर्य की एक परिक्रमा या कुछ अधिक समय तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है और घटना की एकता पर बल दिया जाता है, पर महाकाव्य में जीवन का विस्तृत और विविध विश्लेषण सभव है, क्योकि उसमें देशकाल का बन्धन नहीं; और अति प्राकृत वर्णन एवं अद्भुत तत्त्वों के समावेश का अवकाश है, जिससे रुचि और विस्मय के द्वारा आह्लाद की निष्पत्ति हो सकती है।

तारतम्य

त्रासद, महाकाव्य की अपेक्षा, निम्नांकित कारणों से अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है—त्रासद मे महाकाव्य से अधिक तत्त्व होते है। इसमे महाकाव्य के छन्द का, एव उससे भी अधिक छन्दों का प्रयोग होता है। महाकाव्य के कथानक में सगीत और रंग-प्रभाव नही होता, त्रासद में होता है। त्रासद में अभिनय और पाठ

दोनों ही प्रभाव उत्पन्न करते है, किन्तु महाकाव्य में अभिनय के लिए समुचित अवकाश नही। महाकाव्य में, विस्तार के कारण, अन्विति-हानि की आशंका रहती है, किन्तु त्रासद मे अन्विति दृढतर होती है। महाकाव्य मे विस्तृत काल-स्थान की घटनाओं का वर्णन होता है, अतएव उनका प्रभाव तरल होता है; किन्तु त्रासद का प्रभाव अधिक संघटित, सघन और प्रभावशाली, अतएव विशेष रूप से आह्लादकारी, होता है। यही कारण है कि त्रासद, महाकाव्य की अपेक्षा, अपने लक्ष्य की पूर्त्ति (अर्थात् विशिष्ट कलात्मक आनन्द की प्राप्ति) अधिक सफलता से करता है।

मतभेद

आधुनिक आलोचक आई. ए. रिचर्ड्स त्रासद को सर्वश्रेष्ठ बताते है; क्योंकि उनके अनुसार, कला की सिद्धि अन्तर्वृत्तियों के समञ्जन से संभव है, जो (समंजन) त्रासद मे सर्वोत्तम रूप से उपलब्ध होता है। भारतीय काव्याचार्यो ने भी नाटक को सर्वाधिक महत्त्व दिया है, क्योकि, जैसा कि भरत मुनि कहते है, ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नही, जिसके दर्शन नाटक मे न होते हों—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं, न सा विद्या न सा कला।
न तत्कर्म न योगोऽसौ, नाटके यन्न दृश्यते ॥ ना. शा २१.१२२

वामन भी कहते है कि सदर्भो मे दशरूपक श्रेष्ठ होता है · 'सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः।' 'काव्येषु नाटक रम्यम्' इस उक्ति की सर्वमान्यता प्राचीन काल से रही है।

डॉ० नगेन्द्र नाटक को, महाकाव्य की अपेक्षा, अधिक उत्कृष्ट नहीं समझते। उनका तर्क है कि प्राय अधिकाश भारतीय आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा माना है, और नाटक मे रस-निष्पत्ति के लिए, अन्य काव्यो की अपेक्षा, अधिक साधन उपलब्ध रहते है। अरस्तू ने सगीत और रगप्रभाव त्रासद के बाह्य तत्त्व माने है, अन्तरग नही। किन्तु कभी-कभी इन तत्त्वों से काव्य-रस को हानि भी पहुँचती देखी गयी है। काव्य का लक्ष्य आनन्द की सृष्टि है। आनन्दास्वाद में गुण-भेद नही, परिमाण-भेद संभव है, जिसके कारण तारतम्य का निर्धारण हो सकता है। यदि त्रासद का आनन्द सघन और तीव्र है, तो काव्य का आनन्द स्थायी और उदात्त है। नाटक में अन्तश्चमत्कार की प्रधानता होती है; किन्तु महाकाव्य में भी इस अन्तश्चत्मकार के लिए पर्याप्त अवसर विद्यमान रहता है। यदि महाकाव्य का अन्तश्चमत्कार तीव्र नही तो वह नाटकीय चमत्कार से अधिक स्थायी नही होता। यदि त्रासद करुणा और त्रास का समजन करता है, तो महाकाव्य मानव-मन की समस्त सम-विषम वृत्तियों का सामंजस्य सुचारु रूप से कर देता है; अतएव त्रासद की अपेक्षा, डॉ० नगेन्द्र के मत से, महाकाव्य अधिक श्रेयस्कर है।
